जैनधर्म का सार

(Compendium of Jainism)

मूल लेखक
न्यायाधीश टी.के.तुकोल

हिन्दी अनुवाद
डॉ.रमेशचन्द जैन

प्राकृत भारती पुष्प : 386

जैन धर्म का सार

(Compendium of Jainism)

मूल लेखक
न्यायाधीश टी.के.तुकोल

हिन्दी अनुवादक
डॉ.रमेशचन्द जैन

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

जैनधर्म का सार

(Compendium of Jainism का हिन्दी अनुवाद)

मूल लेखक

न्यायाधीश टी.के.तुकोल

प्रकाशकः **प्राकृत भारती अकादमी**

13-ए, गुरुनानक पथ, मालवीय नगर

जयपुर-302017

दूरभाष : 0141-2520230, 2524827

E-mail : prabharati@gmail.com, Website : prakritbharati.net

प्रथम संस्करण 2018

ISBN No. : 978-93-81571-95-8

मूल्य : ₹ 450/-

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रकः

श्री प्रिन्टर्स प्रा.लि.

मालवीय औद्योगिक क्षेत्र, जयपुर

जैन धर्म का सार

हिन्दी अनुवादक : डॉ. रमेशचन्द जैन / 2018

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशकीय

न्यायाधीश टी. के. तुकोल का अंग्रेजी भाषा में ग्रन्थ "Compedium of Jainism" जिसका हिन्दी अनुवाद 'जैन धर्म का सार' डॉ० रमेशचन्द जैन द्वारा किया गया है।

यह ग्रन्थ कई दृष्टियों से विशिष्ट है क्योंकि इसमें जैन धर्म के अनेक विषयों पर लेखन किया गया है, जैसे- तत्त्व, कर्म, नय, प्रमाण, अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह के सिद्धान्त तथा सल्लेखना आदि। सभी सिद्धान्त पहले की अपेक्षा आज अधिक प्रासंगिक हैं। क्योंकि मानवीयता आज बहुत सी नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का सामना कर रही है, जो कि वैज्ञानिक, तकनीकी उन्नति व अन्य कई कारणों से उत्पन्न हुई है।

इस ग्रन्थ में आधुनिक युग में जैन धर्म की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है और दिखाया गया है कि किस प्रकार इस धर्म के नैतिक व आध्यात्मिक सिद्धान्त हमारे समकालीन समाज की अनेक ज्वलंत समस्याओं का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करने में सक्षम हैं।

न्यायाधीश टी.के. तुकोल में एक अंग्रेजी प्राध्यापक का चमकदार अभिव्यक्तीकरण, वरदान प्राप्त अधिवक्ता की सधी हुई अनुभवी उपस्थिति तथा सत्य और तथ्य को गंभीरता से जाँचने वाले बौद्धिस्त्र व्यक्ति का अर्थबोध है। तुकोल के इस संग्रह में ये सब गुण पारदर्शी हैं, जो कि ज्ञान के गहरे अध्ययन और समझ का परिणाम है।

डॉ. रमेशचन्द जैन धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद कर जन सामान्य हेतु उपयोगी बनाया। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक स्वाध्यायी पाठकों को एक नवीन अनुभव प्रदान करेगी।

प्रकाशन से जुड़े सभी सहभागियों को धन्यवाद!

डी.आर.मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी

पुरोवाक्

यह संग्रह एक पद्धति के अनुसार जैनधर्म के ऊपर एक पुस्तक है। यहाँ तक कि एक दृष्टि में अध्यायों के शीर्षक प्रकरणों की विस्तृत श्रेणी का विचार देते हैं, जो कि इस कृति में विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत किए हैं।

जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है। जब जैन अध्ययन अपनी बाल्य अवस्था में था, तब उसकी ऐतिहासिकता आदि के विषय में बहुत सी भ्रान्तियाँ थीं, किन्तु अब वे सब भ्रान्तियाँ भारत तथा प्राच्यविदों के विस्तृत अध्ययन से दूर हो गयी हैं। पवित्र महान् व्यक्ति जैसे वृषभ, पार्श्व और महावीर जिनका जीवन यहाँ संक्षिप्त रूप से चित्रित किया गया है, उन्होंने इस भूमि के सांस्कृतिक धन को सम्पन्न बनाया है। जैनधर्म का महावीरोत्तरकालीन चरित्र, विशेष रूप से इसका दक्षिण की ओर विस्तार तथा उत्तरगामी संघभेद भारत के धार्मिक इतिहास में एक आकर्षित करने वाला अध्याय है। देव तथा उसकी पूजा के विषय में जैन विचार, लोक तथा इसकी रचना, चेतना संसार और इसका वर्णनात्मक विस्तार तुलनात्मक धर्म के छात्र का विशेष ध्यान आकर्षित करने योग्य है।

कर्म पुद्गल का एक सूक्ष्म प्रकार है जो कि किसी के आत्मिक भाग्य को एवं आत्मा के साथ अपनी संलग्नता को कार्य रूप में परिणत करना है; यह एक अप्रतिहत नैतिक नियम है, जो कि किसी दैवीय दखल के लिए कोई समस्त निवासी प्राणियों के लिए क्षेत्र नहीं छोड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों, शब्दों और कार्यों के फलों की फसल अवश्य काटता है। आधारभूत सिद्धान्त जैसे- तत्त्व या पदार्थ तथा गुणस्थान आत्मा और कर्म के बीच विशेष रूप से सम्बन्ध स्थापित करने का पूरा कार्य करते हैं। कर्मों की पकड़ से आत्मा की मुक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता की उन्नति पर निर्भर करती है।

जैनधर्म सही रूप में नैतिक यथार्थवाद कहलाता है तथा यह अच्छे चरित्र पर जोर देता है। यह चारित्र दो प्रकार का है- 1. गृहस्थ के लिए, तथा 2. साधु के लिए। पहला बाद वाले की अपेक्षा कम कठिन है। साधु महाव्रतों का आदर्श रूप में पालन करता है। वह एक आत्मिक जीवन में निवास करता है जो कि ध्यान तथा पूर्ण अपरिग्रह के लिए समर्पित है। कोई व्यक्ति जिसके पास कोई परिग्रह नहीं है, वह सल्लेखना पूर्वक मृत्यु का सामना करता है; क्योंकि वह जानता है कि उसकी आत्मा नित्य है। इस प्रकार के उच्च नैतिक आदर्शों के साथ जैनधर्म ने विविध मार्गों में भारतीय विरासत और संस्कृति का पोषण किया है।

अहिंसा, अनेकान्त तथा अपरिग्रह के सिद्धान्त पहले की अपेक्षा आज अधिक प्रासंगिक हैं। क्योंकि मानवीयता आज बहुत सी नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का सामना कर रही है, जो कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी उन्नति उत्पन्न ने की है।

जैनधर्म का वर्णन करने वाले बहुत से संक्षिप्त ग्रन्थ पहले से हैं, किन्तु इस संग्रह की अपनी विशेषतायें हैं। विविध विषयों पर लेखक का विचार-विमर्श आधिकारिक है। इसका समर्थन प्रासंगिक पद्यों तथा सूत्रों के रूप में आगम के द्वारा, उनकी टीकाओं द्वारा किया गया है। इसी रूप में समस्त समीक्षक पाठकों को, जो कि जैनधर्म को तकनीकी से रहित स्थापना में समझना चाहते हैं, उन्हें इसका स्वागत करना चाहिए। जैनधर्म केवल एक धर्म और अच्छी तरह जोड़ा गया दर्शन ही नहीं है, अपितु एक जीवन का मार्ग है, जिसने बहुत से गृहस्थ और साधुओं को आध्यात्मिक आश्वासन दिया है, जिन्होंने सांसारिक ग्रन्थियों का त्याग कर दिया है।

न्यायाधीश टी.के.तुकोल में एक अंग्रेजी प्राध्यापक का चमकदार अभिव्यक्तीकरण, वरदान प्राप्त अधिवक्ता की सधी हुई अनुभवी उपस्थिति तथा सत्य और तथ्य को गंभीरता से जाँचने वाले बौद्धिक व्यक्ति का अर्थबोध है। वे एक श्रद्धालु श्रावक होते हुए भी जैनधर्म के घनिष्ठ और समालोचक छात्र सदैव से रहे हैं। तुकोल के इस संग्रह में ये सब गुण पारदर्शी हैं, जो कि ज्ञान के गहरे अध्ययन और समझ का परिणाम है। उन्होंने नय, ईश्वर, सृष्टि तथा अनेकान्तवाद को आसानी से समझा है। उन्होंने बहुत से गलत विचारों को सही ढंग से स्पष्ट किया है, जो कि उनके पहले के विद्वान् रखते थे। उन्होंने उन विचारों को सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित किया है।

न्यायाधीश तुकोल की व्याख्या का सावधानीपूर्वक किया गया अध्ययन जैनधर्म के प्रति सही समझ को देगा जो कि भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा जिसने भारतीय विचारों के आदर्श को तथा बहुत से क्षेत्रों में जीवन के मार्गों को प्रभावित किया है।

मई 22, 1975 - **ए.एन.उपाध्ये**

मैसूर विश्वविद्यालय,मानस गंगोत्री

मैसूर-6

भूमिका

नवम्बर 1973 में डॉ. रमेश एस. मेहता, कुलपति-सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात विश्वविद्यालय) के जनक एक कृपापत्र से मुझे प्रसन्नतापूर्वक आश्चर्य हुआ; जिसमें मुझ से पूछा गया था कि क्या मैं जैनदर्शन के विषय में एक पुस्तक लिखने का दायित्व ले सकता हूँ ? क्योंकि मेरा नाम सलाहकार ट्रस्ट कमेटी में संस्तुत किया गया है, जो कि विश्व में प्रमुख धर्मों पर पुस्तक प्रकाशन कर रही है। मैं कार्य को आरंभ करने के लिए तैयार हो गया।

ट्रस्ट का प्रमुख उद्देश्य जैसा कि मैं समझता हूँ; यह है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में सहिष्णुता की अभिवृद्धि करना। इसका माध्यम विश्व के प्रमुख धर्मों के सिद्धान्तों पर पुस्तकें लिखाया जाना है। अतः मैंने जैनधर्म के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इस हेतु दिगम्बरों तथा श्वेताम्बरों के द्वारा स्वीकृत आगमों के सन्दर्भ लिए। इसके अतिरिक्त जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों तथा उसकी प्राचीनता के विषय में प्रचलित गलत धारणाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया। मैंने विचार विमर्श करते हुए प्रासंगिक मूल गाथाओं या पद्यों को; जो कि विषय से संबंधित थे; उनका स्वतंत्र अनुवाद प्रत्येक अध्याय में दिया है। इससे इसके अभिप्राय तथा स्वरूप की कोई हानि नहीं की। मैंने प्रत्येक विषय को अनुरूपता, संक्षिप्तीकरण और स्पष्टता के साथ विवेचन करने का प्रयास किया है। मेरा यह प्रयत्न रहा कि महान् और प्राचीन धर्म को जहाँ तक संभव हो, पक्षपात रहित होकर सिद्धान्तों के सार रूप में उपस्थित करूँ। इसमें अतिशयोक्ति न हो ताकि इसके दर्शन के विषय में सुनिश्चित और सही समझ विकसित हो। सब जगह मेरा उद्देश्य सिद्धान्तों को उपस्थित करने में अधिकार प्राप्त करना रहा है। यह पाठकों के ऊपर निर्भर है कि इस प्रयत्न में सफलता की सीमा का मूल्यांकन करें।

सबसे पहले मैं विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ. रमेश एस.मेहता द्वारा स्थापित ट्रस्ट तथा प्रकाशन समिति को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने का सुअवसर दिया। मैं डॉ.ए.एन.उपाध्ये, एम.ए.,डी.लिट्., जैनधर्म तथा प्राकृत विभागाध्यक्ष, मैसूर विश्वविद्यालय (कर्नाटक) के प्रति अतिशय कृतज्ञता के भाव को व्यक्त करता हूँ। वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त अपूर्व शोधकार्य के विद्वान् थे। उन्होंने विभिन्न प्राच्य पत्रिकाओं में कम से कम एक सौ मौलिक तथा विद्वत्तापूर्ण शोध पत्रों का योगदान दिया। उन्होंने 25 से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का सम्पादन तथा प्रकाशन विभिन्न पाण्डुलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन तथा पाण्डित्यपूर्ण भूमिका के साथ किया। उन्होंने वेल्जियम के ल्यूवेन में 1974 में सम्पन्न हुए विश्वधर्म तथा शान्ति सम्मेलन में प्रमुख भारतीय प्रतिनिधि के रूप में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया। अपने सुनिश्चित कार्य के मध्य व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने अपना कीमती समय देने की कृपा की तथा पूरी पाण्डुलिपि देखने की कृपा की एवं बहुत से उपयोगी सुझाव दिए, जिसमें पुस्तक का शीर्षक Compendium of Jainism (जैनधर्म संग्रह) का उपयुक्त सुझाव भी था। उन्होंने इस पर अमूल्य तथा उदार पुरोवाक् लिखने की भी कृपा की।

मैंने मूल पाण्डुलिपि सरदार पटेल विश्वविद्यालय को मई 1975 में भेजी थी। मुझे आशा थी कि पुस्तक भगवान् महावीर के निर्वाण के 2500वें वर्ष के मध्य प्रकाशित होगी, किन्तु पुस्तक ने दिन का प्रकाश केवल 1978 में देखा; क्योंकि ट्रस्ट के नियम को यह आकांक्षा थी कि पुस्तक केवल गुजराती में ही अनुवादित होकर छपे।

मैं अत्यधिक रूप से यह चाहता था कि पुस्तक अंग्रेजी में किसी दूसरे विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो। मैंने डॉ. आर.सी. हिरेमठ, तत्कालीन कुलपति-कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ से निवेदन किया कि विश्वविद्यालय अंग्रेजी में पुस्तक का प्रकाशन की योजना हाथ में ले सकता है। उन्होंने शीघ्र ही मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मैं उनकी कृपा के लिए आभारी हूँ तथा उनके उत्तराधिकारी एस.एस.वोडेयार का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में लगातार दिलचस्पी को स्पष्ट रूप से सूचित किया। मैं चन्नवीर कानवी, विश्वविद्यालय के निदेशक का भी आभारी हूँ, जिन्होंने केवल कार्य का सम्पादन ही नहीं किया, अपितु मुझे प्रूफ संशोधन से भी मुक्त कर दिया, ताकि प्रिंटिंग और प्रकाशन में देरी न हो। मेरे पास प्रो. जी. महादेवप्पा को

धन्यवाद देने के लिए शब्द नहीं हैं, जिन्होंने स्वेच्छा से प्रूफ संशोधन का कार्य हाथ में लिया। उनका प्रेमपूर्ण परिश्रम मेरे प्रति निश्चित रूप से पक्षपात ही है।

मैं अपने सबसे बड़े पुत्र श्री बाहुबली टी. तुकोल, बी.ई. (आनर्स) का नाम निर्देश भी करना चहता हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि के टंकण तथा टंकण की त्रुटियाँ निकालकर शुद्ध करने में कोई कसर शेष नहीं रखी।

मैं पर्याप्त रूप से पुरस्कृत अनुभव करूँगा, यदि यह पुस्तक पाठकों को जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रकाश दे। ये सिद्धान्त हैं-अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्तवाद; जो कि आधुनिक समस्याओं को हल करने तथा विश्वबन्धुत्व की भावना फैलाने तथा दूसरे धर्मों के प्रति समान रूप से सहिष्णुता के प्रति स्थायी दिलचस्पी रखते हैं। वे दूसरे धर्मों के प्रति अपनी विस्तृत दृष्टि समान आदर के साथ रखते हैं।

बंगलौर-11
सितम्बर 22, 1980

-टी.के.तुकोल

Justice T. K. Tukol
Educational and Charitable Trust

Kuber Nivas, 506, Elephant Rock, Third Block, Jayanagar,
Bangalore 560 011
Tel: +91-80-2664 8335

Ref: JTKTT-021\2017-18 August 16,2017

Dr. Rameshchand ji Jain,
E-27, rohini, First Floor, Sector 1,
New Delhi- 110085
M: 9205673321

Dear Dr. Rameshchand ji,

Jai Jinendra !

We are in receipt of your letter dated 05.08.2017 and pleased to know that the Hindi Translation of the book *'Compendium of Jainism'* has been completed. We thank you for your keen interest and appreciate your efforts in the translation work.

We hereby confirm that TUKOL TRUST is very much pleased to grant the permission to Dr.Rameshchand Jain, New Delhi-85 to translate the book *'Compendium of Jainism'*, authored by Late Justice T.K.Tukol, into Hindi. However the copyrighats of the original book will remain with TUKOL TRUST. Further Dr. Rameshchand Jain is authorized and granted permission to seek a suitable publisher and printers to print and publish the book in most appropriate manner.

THKOL TRUST requests you for the following:

1 Information about Justice T.K. Tukol as given on the back cover with photo must be printed in Hindi.
2 A short Note from TUKOL TRUST indicating permission to translate and print the book.
3 100 copies of the book to be given to TUKOL TRUST.

4 There is NO financial commitment in translation/printing/publication of the book by TUKOL TRUST.

We have noted that you propose to title the book as *'Jain Dharma Ka Sar'* which is very appropriate.

We have sent a copy of the reprint of the book, which was done for Sri Digambar Jain Dharma Prabhavana Samiti, Kota, in September 2014, as per desire of Param Poojya Sudhasagarji Maharaj.

With best regards,

Yours sincerely,

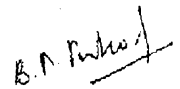

(Bahubali T.Tukol)
For Tukol Trust

Encl: As above.

प्रस्तावना

पिछले कुछ दशकों में जैन धर्म एवं दर्शन के विभिन्न पक्षों पर विद्वान अध्येताओं द्वारा अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की गई है। जैन धर्म के सिद्धान्तों का गंभीर विवेचन भी हुआ है। पर न्यायाधीश टी. के. तुकोल का प्रस्तुत ग्रन्थ "Compendium of Jainism" इस दृष्टि से विशिष्ट है कि इसमें जहां एक ओर जैन दर्शन के तत्वमीमांसीय, ज्ञान मीमांसीय व नीतिमीमांसीय आधारभूत सिद्धान्तों का दार्शनिक दृष्टि से गहन विश्लेषण किया गया है, वहीं साथ साथ जैन धर्म के इतिहास, तीर्थंकरों के चरित्र एवं जीवन कथा, जैन खगोल शास्त्र (Cosmology), पूजा पद्धति, श्रमण एवं श्रावकों के आचार के नियामक आदर्श सिद्धान्त एवं जैन जीवन-पद्धति से जुड़े व्यवहारिक पक्षों की भी अत्यन्त सारगर्भित एवं सटीक व्याख्या की गई है। एक ही ग्रन्थ में जैन धर्म एवं दर्शन के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों का गंभीर, सधा हुआ विश्लेषण एवं सुन्दर समन्वय होने के कारण यह पुस्तक न केवल जैन दर्शन के शोधार्थी एवं अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है बल्कि उन जिज्ञासुओं के लिए भी मार्गदर्शक है जो जैन धर्म को उसकी सम्पूर्णता में समझना चाहते हैं और इसके मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन दर्शन का आधार बनाना चाहते हैं।

श्री तुकोल का अंग्रेजी में लिखा गया यह महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रंथ हिन्दी भाषी पाठकों के लिए भी उपलब्ध हो सके, इस दृष्टि से डॉ. रमेश चन्द जैन, जो कि स्वयं जैन धर्म एवं दर्शन के आधिकारिक विद्वान हैं, ने इसका हिन्दी अनुवाद करने का दायित्व लिया। सहज, सरल एवं प्राजंल हिन्दी में किये गये इस अनुवाद्र से निश्चित रूप से इस पुस्तक की पठनीयता एवं उपयोगिता को विस्तार प्राप्त होगा। प्राकृत भारती अकादमी इसके लिए डॉ. रमेश चंद जैन की आभारी है एवं इसके प्रकाशन में हर्ष का अनुभव करती है।

जैन धर्म की प्राचीनता को लेकर इतिहासज्ञों के बीच गंभीर मतभेद एवं भ्रांतियां रही हैं और इसकी तीर्थंकर परम्परा की ऐतिहासिकता को लेकर प्रश्न चिह्न लगाये जाते रहे हैं। कभी कभी इसे बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की शाखा के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता रहा है और महावीर, जो कि बुद्ध के समकालीन थे, को इसके संस्थापक के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। श्री तुकोल ने विद्वान प्राच्यविदों, भारतीय एवं विदेशी इतिहासज्ञों, पुरातत्वज्ञों तथा विधिवेताओं के विचारों के विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेदों की प्रामाणिकता का पूर्णतः निषेध करने एवं बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों से आधारभूत असहमति रखने के कारण यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म को वैदिक या बौद्ध धर्म की शाखा के रूप में चित्रित करना किसी भी रूप में उचित नहीं है। वस्तुतः अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के कारण जैन् धर्म एक पूर्णतः स्वतंत्र एवं मौलिक धर्म है और वेदों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व तथा बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के उल्लेख से स्पष्ट है कि न केवल यह वेदों से पूर्ववती रहा है, बल्कि इस तथ्य के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि वेद पूर्व काल में भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक दार्शनिक धारा के रूप भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को समृद्ध कर रहा था। ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर चौबीस तीर्थंकरों का संक्षिप्त जीवन परिचय तथा साधना यात्रा प्रस्तुत करता है। अध्याय तीन तीर्थंकर महावीर के पश्चात् जैन परम्परा में हुए संघ भेदों का ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर रोचक विवरण प्रदान करता है। दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्परा के प्रारंभ से लेकर अब तक के सभी उप-सम्प्रदायों की विशिष्टताओं के संक्षिप्त पर सटीक विवेचन के कारण यह अध्याय सम्पूर्ण जैन परम्परा का एक विहगंम चित्र प्रस्तुत करने में सफल रहा है।

सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं कर्मफल नियंता के रूप में ईश्वर की अवधारणा का पूर्णतः अस्वीकार्य व निषेध जैन धर्म को हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई व विश्व के अन्य अनेक धर्मों से अलग कर देता है। सृष्टि को नित्य मानने वाले जैन धर्म के आचार्यों ने सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रत्यय के विरुद्ध तत्वमीमांसीय एवं नीतिमीमांसीय आधारों पर अनेक सुदृढ़ तर्क दिये हैं। सृष्टि रचना में निमित्त या उपादान कारण के रूप में ईश्वर की भूमिका, सृष्टि निर्माण का प्रयोजन व उसके संचालन में ईश्वर के हस्तक्षेप का औचित्य आदि बिन्दुओं पर जैन ग्रन्थों पर गंभीरता से विवेचन हुआ है।

जैन आचार्यों का मानना है कि मात्र चार्वाक दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में सर्वमान्य रूप से स्वीकृत 'कर्म सिद्धान्त' भी सृष्टि के रचयिता एवं पालन कर्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा से असंगत है। ईश्वर यदि सर्वशक्तिमान है और संसार में यदि सभी कुछ ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही होता है तो किसी भी व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वास्तव में ईश्वर द्वारा पूर्णतः नियंत्रित सृष्टि में व्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में नैतिक-अनैतिक का भेद ही निरर्थक हो जाता है। पुनः, यदि ईश्वर कर्म व कर्म के फल के बीच हस्तक्षेप कर उसमें परिवर्तन कर सकता है, तो कर्म सिद्धान्त की अनिवार्यता व अपरिवर्तनीयता का आधार ही समाप्त हो जाता है, और यदि ऐसा नहीं कर सकता है तो फिर ईश्वर की कोई भूमिका ही नहीं रह जाती है। उसके स्थान पर कर्म सिद्धान्त से ही समस्त नैतिक प्रश्नों की व्याख्या किया जाना अधिक उचित होगा। इसीलिए जैन आचार्यों का मानना है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर की अवधारणा तत्वमीमांसा एवं नीतिमीमांसा के आधारभूत प्रश्नों का उत्तर देने में न केवल असमर्थ है, बल्कि यह जगत की व्याख्या के संदर्भ में अन्य अनेक समस्याएं भी उत्पन्न कर देती है। इसी कारण जैन दर्शन जीव मात्र में दिव्यत्व की संभावना को स्वीकार कर यह उद्घोष करता है कि प्रत्येक चेतना स्वयं के पुरुषार्थ के बल पर ही अपने में अव्यक्त रूप से विद्यमान अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य का पूर्ण प्रकटीकरण कर देवत्व प्राप्त करने में समर्थ है। इसमें उसे किसी भी बाहरी शक्ति चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो— की सहायता न तो मिल सकती है, न ही उसकी आवश्यकता है। वस्तुतः जैन दर्शन 'अवतारवाद' की धारणा को पूर्णतः अस्वीकार करता है और वैयक्तिक व सामाजिक दोनों ही स्तरों पर 'ईश्वरीय अवतरण' के माध्यम से दुःखों से मुक्ति की आशा या संभावना का दृढ़तापूर्वक निषेध करता है। इसमें किसी दैवीय शक्ति की कृपा की आकांक्षा के स्थान पर स्वयं के पुरुषार्थ के आधार पर विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने पर बल दिया गया है। मेरे विचार में, इस दृष्टि से जैन सिद्धान्त को 'अवतारवाद' की अवधारणा के समानान्तर 'उत्तारवाद' कहा जा सकता है जहाँ ऊपर से ईश्वर के पृथ्वी पर अवतरित होने की प्रतीक्षा करने की जगह, प्रत्येक आत्मा द्वारा अपनी चेतना के निरन्तर शुद्धिकरण करते हुए स्वयं को ही देवत्व व सर्वज्ञत्व के परम शिखर पर पहुँचाया जा सकता है।

मनुष्य स्वयं अपना भाग्य निर्माता है और वह जो भी है वह उसके स्वयं के कर्मों का ही परिणाम है, किसी भी अन्य शक्ति की कृपा, दान या कोप के कारण नहीं। पुरुषार्थ की इस अत्यन्त कठोर अवधारणा के अन्तर्गत पूजा अर्चना, प्रार्थना और ईश्वरीय कृपा का निश्चित रूप से कोई स्थान नहीं हो सकता। फिर जैन धार्मिक परम्परा में तीर्थंकरों की पूजा व उससे जुड़े हुए कर्मकाण्डों का इतना प्रभाव क्यों दिखाई देता है? श्री तुकोल इस प्रश्न का अत्यन्त गंभीरता से विवेचन करते हुए कहते हैं कि तीर्थंकरों की पूजा किसी याचना या कामना पूर्ति की आकांक्षा से नहीं की जाती। बल्कि पूजा का मूल उद्देश्य तीर्थंकरों के उन गुणों का स्मरण करना है जिनके कारण उन्होंने आत्म साक्षात्कार कर कैवल्य/मोक्ष प्राप्त किया। इस दृष्टि से तीर्थंकर व पंच परमेष्ठि की पूजा किसी व्यक्ति या शक्ति विशेष की पूजा नहीं बल्कि उन आदर्श गुणों की पूजा है जिन पर ध्यान केन्द्रित करने से चेतना की परम शुद्ध अवस्था तक पहुंचा जा सकता है। यही पूजा का लक्ष्य भी है। पर प्रश्न उठता है कि पूजा का यह आदर्श रूप जैन धर्म के अनुयायियों के व्यवहार में क्यों नहीं दिखाई देता है? जैन मन्दिरों में अन्य धर्मों, विशेषकर हिन्दु धर्म के मन्दिरों के ही समान पूजा, अर्चना व ईश्वरीय कृपा की याचना के दृश्य देखे जा सकते हैं। जैन दर्शन के अधारभूत कर्म सिद्धान्त व पुरुषार्थ विचार से यह व्यवहार सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। श्री तुकोल के अनुसार इसका कारण मानव मन की कमजोरी व मुसीबत के समय किसी दिव्य शक्ति से सहायता प्राप्त करने की सहज आकांक्षा है। यही वजह रही कि समय बीतने के साथ जैन मन्दिरों में यक्ष यक्षी, नाग-नागिन आदि दूसरे देवताओं का भी प्रवेश हो गया। यद्यपि उन्हें तीर्थंकरों के रक्षक के रूप में चित्रित किया गया पर धीरे धीरे पूजा के कर्मकाण्डों में उनका प्रभाव बढ़ता गया व मनोकामना पूर्ति के लिए तंत्र-मंत्र युक्त उपासना पद्धति ने भी अपनी जगह बना ली। सामान्य जन को जैन धर्म की ओर आकर्षित करने में इससे सहायता तो मिली, पर जैन दर्शन के मूल स्वरूप से इसकी असंगति से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, जैन दर्शन किसी दिव्य शक्ति या ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। यह जगत की व्याख्या छह द्रव्यों के माध्यम से करता है। द्रव्य के दो प्रकार हैं— जीव और अजीव। जीव- जिसका कि प्रमुख लक्षण चेतना, ज्ञान व दर्शन है- समस्त कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता है, और शरीर के अनुसार आकार ग्रहण कर लेता है।

अजीव द्रव्य के पांच भेद हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल जैन दर्शन का विशिष्ट प्रत्यय है जिससे समस्त प्रकार के भौतिक द्रव्य इंगित होते हैं, चाहे वे ठोस, तरल, गैस या शक्ति के रूप में हों या कर्म के रूप में। धर्म गति में सहायक तत्व है तो अधर्म स्थिति में। ये दोनों द्रव्य स्वरूप की दृष्टि से अभौतिक, अणुरहित व अखण्डित, अमूर्त व अरुपी हैं तथा लोकाकाश में ही व्याप्त हैं। आकाश द्रव्य नित्य है व अन्य सभी द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है। काल एक नित्य, अनन्त, अरुपी अनस्तिकाय द्रव्य है जो कि अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में निमित्त है और व्यवहार नय की दृष्टि से जिसे हम वर्ष, माह, दिन, घण्टे और मिनिट के रूप में जानते हैं। लोक के अस्तित्व की दृष्टि से समय दो चक्रों में विभाजित है उत्सर्पिणी काल- जिसका लक्षण है उन्नति, ज्ञान, उम्र व सुख का विकास तथा अवसर्पिणी काल- जिसमें इनका ह्रास होता रहता है। सृष्टि इन्हीं दो चक्रों (जिनमें प्रत्येक के छह भेद और हैं) में निरंतर चलती रहती है।

जैन दर्शन का अपना विशिष्ट खगोल शास्त्र भी है जिसके अनुसार लोक का स्वरूप कमर पर हाथ रखे हुए तथा दोनों पैर फैलाए हुए पुरुष जैसा है। पृथ्वी स्थिर है और सूर्य इसके चारों ओर चक्कर काटता है। नित नई वैज्ञानिक खोजें हमारे खगोलशास्त्रीय ज्ञान में परिवर्तन कर रही हैं अतः श्री तुकोल के अनुसार इस सम्बन्ध में अंतिम रूप से कुछ भी कहा जाना संभव नहीं है।

तत्वमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन यथार्थवादी या वस्तुवादी कहा जा सकता है। शंकराचार्य के विवर्तवाद तथा बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद या प्रत्ययवाद से असहमति रखते हुए यह चेतना और भौतिक पदार्थ (जीव व अजीव) दोनों को ही नित्य, स्वतंत्र और सहअस्तित्ववान द्रव्य मानता है। इस दृष्टि से यह न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और मीमांसा के अधिक निकट है। ग्रन्थ के षष्ठम अध्याय में जीव के स्वरूप, उसके विभिन्न आधारों पर भेद (1) संसारी व मुक्त (2) एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय (3) देव व नारकी आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। साथ ही ज्ञान के आठ प्रकारों (1) मतिज्ञान, (2) श्रुति ज्ञान, (3) अवधि ज्ञान, (4) मनः पर्यय ज्ञान (5) केवल ज्ञान, (6) कुमति, (7) शुश्रुत व (8) विभंगाधिज्ञान का सूक्ष्म विवेचन करते हुए केवलज्ञान व सर्वज्ञ की अवधारणा को भी विश्लेषित किया गया है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय में निगोद, देव व नारकी गति में

जीवों की स्थिति, सुख-दुःख, परस्पर व्यवहार आदि का विस्तार से वर्णन किया है। उसी को आधार बनाकर श्री तुकोल ने देव व नारकियों के जीवन का अत्यन्त विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया है।

चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन कर्मसिद्धान्त की अनिवार्यता तथा सार्वकालिक व सार्वदैशिक वैधता को स्वीकार करते हैं। कर्म सिद्धान्त की दो अनिवार्य पूर्वमान्यताएं हैं— (1) कृत प्राणाश- अर्थात् किये हुए कर्म के फल का नाश नहीं हो सकता है- वह अवश्य ही मिलता है तथा (2) अकृत अभ्यागम- अर्थात् जो कर्म नहीं किया गया उसका फल नहीं मिल सकता।

इस दृष्टि से कर्म सिद्धान्त कर्म व उसके फल के बीच एक ऐसे अनिवार्य निरपवाद सम्बन्ध को स्वीकार करता है जिसे किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। भौतिक जगत के कारण-कार्य नियम का ही यह नैतिक पक्ष कहा जा सकता है। यद्यपि भारतीय दार्शनिक परम्परा के अधिकांश घटक इस सिद्धान्त व इसकी पूर्वमान्यताओं को स्वीकार करते हैं, पर ईश्वरीय हस्तक्षेप, दैवीय कृपा या कोप अथवा किसी अन्य बाहरी शक्ति के दखल के कारण, कर्म व उसके फल के बीच सम्बन्ध में परिवर्तन या अपवाद की संभावना से इन्कार नहीं करते हैं। किसी भी बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप की संभावना को पूर्णतया नकार कर जैन दर्शन कर्म सिद्धान्त को इसकी तार्किक परिणिति तक ले जाता है और अपने पूर्ण शुद्ध रूप में यह पुरुषार्थ का सिद्धान्त बन जाता है, जहां प्रत्येक जीव/व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं ही विधाता व नियंता है। वह जो भी है अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण है व भविष्य में जो भी होगा वह भी उसके स्वयं के कर्मों का ही परिणाम होगा। इस कठोर पुरुषार्थवाद के कारण जैन दर्शन जहां एक ओर नैतिक मूल्यांकन की आधारभूत शर्त कर्म-स्वातंत्र्य को अक्षुण्ण बनाये रख पाता है, वहीं दूसरी और धार्मिक मान्यताओं के साथ सामान्यतः जोड़े जाने वाली भाग्यवादी व नियतिवादी अवधारणाओं से भी स्वयं को मुक्त कर लेता है।

स्पष्ट है कि कर्मसिद्धान्त व उसके तार्किक निहितार्थों को जैन दर्शन ने अत्यन्त गंभीरता से लिया है और यही कारण है कि विभिन्न कर्मों व उसके फलों के बीच सम्बन्ध का जैसा विस्तृत व सूक्ष्म विवेचन जैन दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है वैसा संसार के किसी भी धर्म व दर्शन में उपलब्ध नहीं है।

कर्मों के सामान्य प्रकारों/भेदों के विस्तृत विवेचन के साथ साथ जैन आचार-ग्रन्थों में छोटे से छोटे कर्म व उसके संभावित फल/परिणामों का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह आश्चर्यचकित कर देने वाला है और दुर्लभ भी है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गल हैं जिनके आस्त्रव से आत्मा का शुद्ध, पूर्ण रूप आवृत हो जाता है। यही बंधन की अवस्था है। कर्मों के इस आवरण के हटने पर आत्मा अपनी सहज शुद्ध अवस्था-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य व अनन्त सुख युक्त चेतना के रूप में प्रकाशित होने लगती है। यही कैवल्य या मोक्ष की स्थिति है। बन्धन से मुक्ति तक की यह यात्रा वास्तव में कर्मों के आवरण को विच्छिन्न करने का ही उपक्रम है। इसके लिए आवश्यक है कि कर्मों का स्वरूप व प्रकृति, उनके विभिन्न प्रकारों व उनके परिणामों को भली प्रकार समझाा जाये और तत्पश्चात् उनसे मुक्ति की साधना के पथ पर अग्रसर हुआ जाये। श्री तुकोल ने ग्रंथ के अगले कुछ अध्यायों में इन्हीं बिन्दुओं पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

कर्मों को मुख्य रूप से दो प्रकारों (1) घातिया व (2) अघातिया में विभाजित किया गया है। घातिया कर्म आत्मा के सर्वोच्च गुणों (अनन्त दर्शन, ज्ञान वीर्य और सुख) को ढकते हैं- ये चार प्रकार के है- (1) दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, अन्तराय व मोहनीय। अघातिया कर्म आत्मिक गुणों का घात नहीं करते बल्कि उसके सांसारिक अस्तित्व को प्रभावित व निर्धारित करते हैं। ये भी चार प्रकार के हैं- (1) आयु (2) नाम (3) गोत्र और (4) वेदनीय। इन आठों प्रकार के कर्मों के उत्तरोत्तर अनेकानेक भेद हैं जिनके माध्यम से जैन चिंतकों ने जीवन के भौतिक व आध्यात्मिक दोनों पक्षों की अत्यन्त तर्कसंगत विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

कर्मों के स्वभाव व प्रकृति से ही जुड़ा हुआ एक और सिद्धान्त है- लेश्या सिद्धान्त- जिसे मनोविज्ञान के क्षेत्र में जैन विचारकों का एक विशिष्ट अवदान माना जा सकता है। लेश्या कर्म पुद्गलों का सूक्ष्म द्रव्य है जो मन की शुद्धि और विचारों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। चार प्रकार की कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) एवं क्रियाओं की तीव्रता के अनुसार लेश्याओं के छह भेद किये गये हैं— (1) कृष्ण (2) नील (3) कापोत (4) तेज (पीत) (5) पद्म (गुलाबी) और (6) शुक्ल। इनमें से प्रथम तीन आध्यात्मिक दृष्टि से अवनति की ओर ले जाने वाली हैं जबकि अन्य तीन क्रमशः आत्मिक

उन्नति के उच्चतर सोपानों की ओर ले जाती है। लेश्याओं का रंगों के साथ अनन्य संबंध औरं उससे व्यक्ति के व्यक्तित्व के चारों ओर निर्मित प्रभामण्डल का विस्तृत विश्लेषण मानव मनोविज्ञान के गूढ रहस्यों को गहराई तक समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का गंभीर चिन्तन निश्चित रूप से एक महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करता है।

जैन दर्शन में स्वीकृत सात तत्वों को भी कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। ये सात तत्व है : (1) जीव (2) अजीव (3) आस्त्रव (4) बंध (5) संवर (6) निर्जरा और (7) मोक्ष। जीव व अजीव में संबंध स्थापित करने वाला कर्म ही है। कर्म पुद्गलों के आस्त्रव अर्थात् आत्मा के साथ संयुक्त होने से जीव बंधन की अवस्था में आ जाता है। बंधन से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम कर्मों के आस्त्रव को रोकना आवश्यक है। इसे ही संवर कहा गया है। इसके लिए व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र का कठोर अनुशासनपूर्वक पालन करना आवश्यक है। जैन आचार ग्रंथों में इनका अत्यधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। नये कर्मों का आस्त्रव रूक जाने पर भी पूर्ववर्ती कर्मों की उपस्थिति के कारण आत्मा की बंधन से पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मा के साथ पारगमन करने वाले इन पूर्ववर्ती कर्मों का झड़ना ही निर्जरा है। यह दो प्रकार से हो सकती है- (1) कर्म पुद्गलों के फल देकर या भोगने से स्वतः नष्ट होने पर (2) कठोर तप के द्वारा सप्रयास कर्मों को नष्ट कर देने पर। पूर्ण निर्जरा के लिए तप की अनिवार्यता पर अत्यधिक जोर देने के लिए जैन धर्मावलम्बी विख्यात हैं। कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाने पर आत्मा अपनी सहज, स्वाभाविक शुद्ध अवस्था में आ जाती है- यही मोक्ष है और इसे पाना ही प्रत्येक जीव का अंतिम/चरम लक्ष्य है।

उपरोक्त सात तत्वों में जब पाप और पुण्य जोड़ दिये जाते हैं तो नौ पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन नव पदार्थों के स्वरूप का सतत चिंतन और उसके अनुरूप आचरण करने पर जैन परम्परा में अत्यधिक बल दिया गया है। कर्मों के आस्त्रव को पूर्णतया निरुद्ध करने एवं पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करने के लिए एक सुनिश्चित नैतिक और आत्मिक अनुशासन का प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग के चौदह स्तर या सोपान हैं जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है। गोम्मटसार के जीवकाण्ड की नौंवी और

दशमी गाथा में आध्यात्मिक विकास के इन चौदह सोपानों-गुणस्थानों का विस्तृत वर्णन है। (1) मिथ्यात्व (2) सासादन-गिरना या श्रद्धा का नष्ट होना (3) मिश्र सम्यकत्व और मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था (4) अविरत सम्यकत्व (व्रत रहित सम्यक् दर्शन) (5) देशविरत (आंशिक व्रत धारण करना) (6) प्रमत्त विरत (अपूर्ण व्रत) (7) अप्रमत्त विरत (पूर्ण व्रत-प्रमाद का अभाव) (8) अपूर्णकरण (नयी विचारात्मक प्रक्रिया) (9) अनिवृत्ति (ध्यान) (10) सूक्ष्म संपराय (कषायों की सूक्ष्मता) (11) उपशांतमोह (मोह का दबना) (12) क्षीण मोह (मोह रहित होना) (13) सयोग केवली (सर्वज्ञता) (14) अयोग केवली मन, वचन और काय की क्रियाओं से रहित केवली: इस अंतिम स्तर के पश्चात् आत्मा मुक्त हो जाती है। धातव्य है कि विकास का यह क्रम तार्किक है काल क्रम से नहीं। आत्मिक भावों की परिणिति के अनुरूप ऊपर के गुणस्थान पर पहुंचा हुआ व्यक्ति कभी नीचे के गुणस्थान पर भी आ सकता है। अत: साधक का सतत सजग रहना आवश्यक है। गुणस्थान की यह अवधारणा जैन दर्शन का सर्वथा मौलिक सिद्धान्त है और आत्मा के आध्यात्मिक विकास क्रम को समझने में बहुत उपयोगी है।

जैन दर्शन के सर्वाधिक मान्य एवं आधारभूत ग्रंथ तत्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है "सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग:"— सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनों के संयुक्त होने पर ही मोक्ष प्राप्ति संभव है। इसके अनुसार जहां एक ओर सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान के आधार के अभाव में चारित्र पालन निरर्थक है। वहीं दूसरी ओर, दर्शन व ज्ञान यदि चारित्र में परिणित न हो तो भी मोक्ष प्राप्ति असंभव है। इसीलिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व चारित्र को 'त्रिरत्न' कहा गया है। इन तीनों के संगम पर इतना बल देकर जैन दार्शनिक यह स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व के समस्त पक्षों के बीच पूर्ण सामंजस्य व संतुलन से ही आध्यात्मिक रूपान्तरण संभव है।

रूपान्तरण की इस प्रक्रिया को व्यवहारिक जीवन में उतारने को सुगम बनाने के उद्देश्य से जैन चिन्तकों ने एक विशिष्ट नीतिशास्त्र प्रस्तुत किया जिसमें मानवोचित जीवन के आदर्श नियामक सिद्धान्तों को समाहित किया गया। तीर्थंकर महावीर के समय से ही जैन समाज चार भागों में विभाजित हो गया

था (1) साधु (2) साध्वी (3) श्रावक (4) श्राविका। प्रथम दो के लिए निर्धारित किये गये नियम श्रमणाचार के अन्तर्गत आते हैं जबकि अंतिम दो के आदर्श मानक श्रावकाचार कहलाते हैं। पर श्रमण व श्रावक दोनों के लिए आधारभूत नैतिक नियम है- पंच महाव्रत- (1) अहिंसा (2) सत्य (3) अस्तेय (4) ब्रह्मचर्य व (5) अपरिग्रह। साधुओं के लिए इन महाव्रतों का पूर्ण व शुद्ध रूप में पालन करना आवश्यक है, जबकि श्रावक इनका सीमित रूप में पालन कर सकते हैं— इसलिये इन्हें अणुव्रत भी कहा जाता है। नैतिकता की आधारशिला के रूप में उपर्युक्त पंच व्रत चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय दर्शनों एवं धर्मों में स्वीकृत हैं। महाभारत, भगवद्गीता, योगसूत्र एवं धर्मशास्त्रीय परम्परा के अन्य सभी ग्रंथों में इन पांचों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पर जैन आचार ग्रन्थों में इनका जितने विस्तार एवं सूक्ष्मता से विवेचन किया है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। उदाहरणार्थ- यहां अहिंसा का अर्थ मात्र किसी प्राणी को मारने के निषेध से ही नहीं है- बल्कि मन में किसी के प्रति हिंसा का भाव होना, वचन से किसी को कष्ट पहुंचाना, कर्म से किसी को चोट पहुंचाना- सभी हिंसा की श्रेणी में आते हैं, अतः निषिद्ध कर्म हैं। यही नहीं, स्वयं प्रत्यक्ष रूप से हिंसा न करें पर दूसरों के हिंसक कर्मों में अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हों या उन कर्मों की अनुमोदना या प्रशंसा करें, तब भी हिंसा का पाप बंध होता है। यही सिद्धान्त अन्य चारों व्रतों के सन्दर्भ में भी अपनाया गया है। यही कारण है कि जैन ग्रंथों में इन व्रतों के विभिन्न पक्षों की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। प्रत्येक व्रत के जितने संभावित अतिचार अर्थात् उनकी पवित्रता को भंग करने वाले क्रिया-कलाप हो सकते हैं, उनका भी अतिविस्तार से विवेचन किया गया है। इस विवेचन में जैन आचार्यों की मानव मन की गहरी समझ स्पष्ट परिलक्षित होती है। व्रतों का शुद्ध एवं पूर्ण रूप से पालन करने में किस किस प्रकार की कठिनाइयां आ सकती है, व्यक्ति व्रत या कर्त्तव्य पालन की अपनी विफलता को न्याय संगत ठहराने के लिए किस किस प्रकार के बहाने खोज सकता है, इन विफलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, इन सभी बिन्दुओं पर जैन आचार्यों ने अत्यन्त गंभीरता से विचार किया है तथा यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया है कि इन व्रतों के पालन से जहां एक ओर व्यक्ति का उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास हो,

वहीं साथ साथ वह एक न्यायपूर्ण, समता एवं सुख शांति युक्त आदर्श समाज के निर्माण में अपना योगदान दे सके। व्यष्टि एवं समष्टि, आध्यात्मिकता एवं नैतिकता, शुद्ध चैतन्य व जीव के बीच किस प्रकार एक उचित संतुलन बनाये रखा जा सकता है, इसकी सुन्दर व्याख्या जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

पंच महाव्रतों/अणुव्रतों के अपने विश्लेषण में श्री तुकोल ने प्रतिष्ठित जैन आचार्यों को उद्धृत करते हुए कुछ साहसी व मौलिक व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अहिंसा व्रत को जैन नीतिशास्त्र की आधारशिला कहा जा सकता है- अतः उदाहरण के लिए उनकी इस व्रत की व्याख्या की ओर ध्यान आकृष्ट करना उपयोगी होगा। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा न करना, किसी को पीड़ा न पहुंचाना, सभी प्रकार की संकल्पी व आरंभी हिंसा से यथासंभव बचना, मांसाहार न करना- सामान्यतः अहिंसा व्रत को इसी प्रकार परिभाषित किया जाता है। पर यह अहिंसा का सिर्फ निषेधात्मक स्वरूप है जिसमें दूसरों को कष्ट देने से बचने पर ही बल दिया जाता है। अहिंसा का एक विधेयात्मक पक्ष भी है जो संभवतः अधिक महत्त्वपूर्ण है पर कुछ कारणों से जिस पर पर्याप्त बल नहीं दिया गया। अपने विधेयात्मक रूप में अहिंसा दया, करुणा, मैत्री, अनुकम्पा, दान, सहानुभूति एवं परोपकार के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इस दृष्टि से किसी को नहीं मारना अहिंसा है, तो मरते हुए को जीवन दान देना, अभयदान देना, रोगी को औषधदान देना, भूख से मरते हुए को भोजन देना, विपत्ति से घिरे हुए लोगों की सहायता करना, उनकी सेवा करना, जीव दया पालना, ये सब भी अहिंसा का अनिवार्य अंग है।

कुछ प्रमुख जैन साधु व चिंतक यह मत रखते हुए प्रतीत होते हैं कि चूंकि जैन दर्शन कर्म सिद्धान्त में अटूट विश्वास रखता है जिसके अनुसार प्रत्येक जीव अपने ही कर्मों के अनुरूप सुख या दुख भोगता है, अतः किसी अन्य के द्वारा इस कर्म-फल श्रृंखला में हस्तक्षेप किया जाना अपेक्षित नहीं है। इसीलिए सेवा या दया के उपक्रम अहिंसा सिद्धान्त के अनिवार्य अंग नहीं है।

पुनः, आध्यात्म की दृष्टि से जैन दर्शन पाप एवं पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मों को बन्धन का कारण मानता है। भले ही पाप लोहे की बेड़ी है व पुण्य सोने की, पर है तो दोनों ही बन्धन। अतः पाप की तरह पुण्य कर्म भी

मोक्ष (बन्धन से पूर्ण मुक्ति) की प्राप्ति में बाधक हो सकते हैं। अत: सेवा, जीव दया आदि पुण्य कर्म भी पूर्ण निर्जरा व मोक्ष प्राप्ति से दूर कर जीव को जन्म व पुनर्जन्म के चक्र की ओर ले जाते हैं (भले ही वह जन्म अत्यन्त सुखप्रद हो)।

श्री तुकोल, ग्रन्थ के दसवें अध्याय में उपरोक्त मत की सहमति युक्त व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। पर साथ ही यह भी कहते हैं कि पुण्य आत्मा की शुद्धि करता है। स्वभावत: कर्म पुद्गल होते हुए भी पुण्य कर्म की प्रवृत्ति आत्मा की शुद्धि है। यह मुख्यत: भौतिक जीवन में सुख व प्रसन्नता लाने का माध्यम है। पर साथ ही यह आध्यात्मिक विकास में भी महत्वपूर्ण सहायक अथवा साधन की भूमिका निभाता है। ग्रन्थ के तेहरवें अध्याय में तो श्री तुकोल अहिंसा की विधेयात्मक परिभाषा का न केवल स्पष्ट अनुमोदन करते हैं, बल्कि अपने मत के समर्थन में आचार्य उमास्वामी, आचार्य सोमदेव व आचार्य समन्तभद्र जैसे प्रतिष्ठित, मूर्धन्य विद्वानों के ग्रंथों के उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं।

उल्लेखनीय है कि विगत कुछ दशकों में कुछ समकालीन जैन चिंतकों ने भी अहिंसा की सकारात्मक व्याख्या पर बल देना प्रारंभ किया है। प्रसिद्ध विद्वान मनीषी श्री कन्हैया लाल जी लोढ़ा ने तो प्राकृत भारती अकादमी के संस्थापक अध्यक्ष व जीव दया के क्षेत्र में अपने महत्वपूर्ण योगदान के लिए सुविख्यात डॉ. डी. आर. मेहता की प्रेरणा व विशेष आग्रह पर इस विषय पर कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना भी की है, जिनमें उन्होंने जैन दर्शन के मूल आधिकारिक शास्त्रों से अनेक उद्धरण देकर यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि जीव दया, सेवा, दान, परोपकार आदि अहिंसा की अवधारणा के अनन्य अंग हैं और मैत्री, प्रमोद व कारुण्य भावना रखना अहिंसा व्रत के पालन करने वाले से अनिवार्यत: अपेक्षित है। यही कारण है कि तत्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी अनुकम्पा को सम्यक् दर्शन के एक अंग के रूप में रखते हैं। श्री लोढ़ा के ग्रन्थों में अहिंसा के सकारात्मक स्वरूप की विशद् विवेचना की गई है और यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि यह व्याख्या न केवल जैन धर्म के मूल आचार ग्रंथों से संगत है, बल्कि उनसे अनिवार्यत: निसृत भी होती है।

सामान्यत: अधिकांश नैतिक नियम एक प्रभावशाली निषेधाज्ञा के रूप में समझे जा सकते हैं, जैसे ईसाई धर्म की 'दस आज्ञाएं'। पर जैन धर्म में

प्रत्येक नैतिक नियम व व्रत का अपना विधेयात्मक व निषेधात्मक पहलू है। अपने निषेधात्मक रूप में जहां यह कुछ क्रियाओं, जैसे हिंसा, चोरी, अतिसंग्रह, असत्यभाषण आदि करने से रोकता है तो विधेयात्मक रूप में कुछ कर्त्तव्यों को अनिवार्य रूप से करने का निर्देश देता है।

जैन आचार्यों ने अहिंसादि पंच व्रतों के अतिचारों की बहुत विशद व्याख्या की है जिसमें प्रत्येक व्रत के साथ जुड़े विधि-निषेध का अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इस विवेचन में इन व्रतों के दो उद्देश्य परिलक्षित होते हैं— (1) आध्यात्मिक (2) सामाजिक। आध्यात्मिक फल आत्मसंयम की अभिवृद्धि करता है और कर्मों के आस्रव को रोकता है। जबकि सामाजिक उद्देश्य व्यक्ति को सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने दायित्व को पूरा करने के लिए प्रेरित करता है और जीव मात्र के कल्याण के लिए सक्रिय योगदान की अपेक्षा करता है। आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिए प्रत्येक श्रावक/गृहस्थ के लिए उपरोक्त पांच अणुव्रतों, तीन गुण व्रतों ((1)दिग्व्रत, (2) अनर्थदण्डव्रत, (3) भोगोपभोग परिमाण) व चार शिक्षाव्रतों ((1) दशवैकालिक (2) सामायिक (3) प्रोषधोपवास तथा (4) वैयावृत्य) के पालन को आवश्यक बताया है।

उपर्युक्त आचार संहिता के अनुसार आचरण करने से गृहस्थ धीरे धीरे आत्मिक उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है। इस यात्रा के प्रत्येक सोपान को "प्रतिमा" कहा गया है। प्रतिमाएं ग्यारह हैं और प्रत्येक एक सीढ़ी के पाये के समान है, जहाँ नीचे से प्रारंभ कर ऊपर की ओर बढ़ना होता है। गृहस्थ के लिये अंतिम सोपान मुनि या साधु होने की तैयारी करना होता है जहां से उसकी सन्यासी या श्रमण होने की यात्रा प्रारंभ हो सके।

पर इस यात्रा से पूर्व, कठोर अनुशासन के अन्तर्गत रहते हुए अपने दैनिक जीवन में दस धर्मों या दस उत्तम गुणों का पालन करना आवश्यक है। वे दश धर्म हैं- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन व ब्रह्मचर्य। इन गुणों का दैनिक आचरण में समावेश होने से श्रावक के व्यक्तित्व के आध्यात्मिक व सामाजिक दोनों ही पक्षों का परिष्कार होने लगता है और वह साधु जीवन के उच्चतर सोपान के योग्य हो जाता है।

जैन ग्रंथों में श्रमण या साधु के लिए अत्यन्त कठोर आचार संहिता का प्रावधान किया गया है। पंच महाव्रतों के पूर्ण पालन के साथ साथ उन्हें तीन गुप्तियों व पांच समितियों का भी पालन करना होता है। परिग्रह का त्याग करते

करते अन्ततः निर्ग्रन्थ अवस्था तक पहुंचने वाले साधु से अपेक्षा की जाती है कि वह बाह्य भौतिक पदार्थों के प्रति मोह का त्याग करते हुए धीरे धीरे शरीर के प्रति ममत्व पर भी विजय प्राप्त कर ले व 'आत्मोपलब्ध' हो जाये। यह अत्यन्त कठोर आत्मानुशासन व तप से ही संभव हो सकता है। जैन साधुओं की जीवन-चर्या संभवतः संसार के किसी भी अन्य धर्म के साधुओं से अधिक कठोर है और अत्यन्त उच्च स्तर के आत्मसंयम तथा बाह्य व आंतरिक तप की अपेक्षा करती है। श्री तुकोल ने ग्रन्थ के सोलहवें अध्याय में इसका बहुत ही सुन्दर व विस्तृत विवेचन किया है।

जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है- सल्लेखना। मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है- किसी भी प्राणी को उससे बचने की स्वतंत्रता नहीं है। पर मृत्यु का सामना कैसे किया जावे- इसमें चयन की निश्चित रूप से स्वतंत्रता है। भौतिक पदार्थों व शरीर के मोह से ग्रस्त व्यक्ति आसन्न मृत्यु के समक्ष दुख, नैराश्य व पीड़ा में डूब जाता है- किसी भी प्रकार से शरीर को बनाये रखने के लिए प्राण-पण से चेष्टा करता है। पर फिर भी जब मृत्यु अवश्यंभावी दिखती है तो अत्यन्त दैन्य, अवसाद, अशांति व कष्ट की स्थिति में देह को छोड़ता है।

मृत्यु के वरण का एक और तरीका भी है जो अधिक गरिमामय, शांतिपूर्ण व एक दृष्टि से आनन्दपूर्ण है। इसी को जैन दर्शन में सल्लेखना कहा गया है जिसकी विशद व्याख्या आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'रत्नकरणश्रावकाचार' (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) में मिलती है। वृद्धावस्था, असाध्य बीमारी, भयंकर दुर्भिक्ष आदि स्थितियों में जब सामान्य जीवन संभव न हो और मृत्यु आसन्न एवं अवश्यंभावी हो तब मनुष्य को क्रोध, मान, माया व लोभ आदि कषायों से रहित होकर, सांसारिक विषयों और शरीर की आसक्ति से मुक्त होकर, आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर चिंतन करते हुए, धीरे धीरे भोजन व जल को छोड़ते हुए, समतापूर्ण मनःस्थिति में देह का त्याग करने का प्रयास करना चाहिये। पूर्णतः स्वेच्छा से स्वीकार किये गये इस सल्लेखना व्रत को कभी कभी आत्महत्या व कभी यूथेनेसिया (दया-मृत्यु) का ही एक रूप समझ लिया जाता है। पर यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। सल्लेखना उद्देश्य व प्रक्रिया दोनों में ही आत्महत्या व यूथेनेसिया से भिन्न है। आत्महत्या, निराशा, असफलता, क्रोध, चरम अवसाद, भय, तनाव व क्षोभ की अवस्था में आवेश में लिया गये निर्णय

का परिणाम होता है जो सामान्यतः गुप्त रूप से विषपान, जल में डूबकर, अग्नि में कूदकर, फांसी लगाकर या किसी हिंसात्मक साधन आदि से की जाती है। इच्छापूर्ति में असफलता से उत्पन्न नैराश्य की पीड़ा से मुक्ति का यह मार्ग मानसिक कमजोरी व पथभ्रष्टता जनित होता है और इसीलिए जैनाचार्यों ने इसे जघन्य अपराध की श्रेणी में रखा है। इसके विपरीत सल्लेखना समस्त इच्छाओं व कषायों को उपशमित कर, पूर्णतः नियोजित तरीके से, संसार के समस्त प्राणियों के प्रति क्षमाभाव, समता एवं शांति के साथ देह छोड़ने का गरिमामय तरीका है। मात्र पीड़ा मुक्ति से अधिक इसका उद्देश्य कर्मों की निर्जरा व आत्मसाक्षात्कार होता है, अतः किसी भी रूप में इसे आत्महत्या या दयामृत्यु के समान नहीं माना जा सकता है। इस ग्रन्थ के सतरहवें अध्याय में श्री तुकोल ने उपरोक्त बिन्दुओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। ज्ञातव्य है कि इस विषय पर उन्होंने एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है जहां सल्लेखना से जुड़े विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के सभी दर्शन, (चार्वाक को छोड़कर), मानव जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' को मानते हैं व दावा करते हैं कि उनका दर्शन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक विश्वसनीय मार्ग दिखाता है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को भी अन्ततः 'मुक्ति' के पथ के विवेचन के रूप में समझा जा सकता है। मुक्ति के 'साधना-मार्ग' का प्रत्येक दर्शन की मोक्ष की अवधारणा के साथ अत्यन्त गहरा व अनिवार्य सम्बन्ध है। अधिकांश जैनेतर दर्शन, विशेष रूप से हिन्दु दार्शनिक, मोक्ष को ईश्वर साक्षात्कार, ईश्वरार्पण, आत्मा का परमात्मा में विलीन होना, (या वेदांत की तरह आत्मा का ब्रह्म में विलीन होना) के रूप में परिभाषित करते हैं। पर चूंकि जैन दर्शन इस प्रकार के ईश्वर की अवधारणा में विश्वास नहीं करता, इसका मोक्ष का विचार भी कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। इसके अनुसार, प्रत्येक आत्मा (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सभी जीव) स्वरूपतः अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से युक्त है। पर कर्मों के आवरण के कारण उनका यह वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। कर्मों के इस गहन आवरण को धीरे धीरे भेद कर आत्मा के शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ रूप का साक्षात्कार होना, अपने 'स्व' रूप में स्थित होना ही 'मोक्ष' है।

मुक्ति के इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जैनाचार्यों ने जिस साधना पथ का विधान किया है उसमें 'तप' की विशिष्ट भूमिका है। जैसा

पूर्व में कहा जा चुका है, जैन आचार मीमांसा में बारह प्रकार के तपों का प्रावधान है। छह बाह्य तप (1) अनशन (2) अवमौदर्य (3) वृत्ति परिसंख्यान (4) रस परित्याग (5) विविक्त शय्यासन (6) कायक्लेश।

आंतरिक तप हैं- (1) प्रायश्चित (2) विनय (3) वैयावृत्य (4) स्वाध्याय (5) व्युत्सर्ग (6) ध्यान। बाह्य तप, आत्म-संयम को दृढ़ कर व्यक्ति के शरीर व मन को आन्तरिक तपों की ओर प्रवृत करने की भूमिका का निर्माण करते हैं। आन्तरिक तप, आत्म शुद्धि के मार्ग में बाधक चारों प्रकार के घातिया कर्मों को नष्ट कर मोक्ष/कैवल्य के चरम लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। आत्मोपलब्धि के इस पथ पर 'ध्यान' का सर्वाधिक महत्व है और इसीलिए जैनाचार्यों ने ध्यान के विभिन्न पक्षों व प्रकारों का विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचन किया है। उमास्वामी चार प्रकार के ध्यान- (1) आर्त ध्यान (2) रौद्र ध्यान (3) धर्म ध्यान और (4) शुक्ल ध्यान का वर्णन करते हैं। इनमें से प्रथम दो, राग व द्वेष में वृद्धि करने वाले, आत्मा को कषायों से मलिन करने वाले होने के कारण पाप रूप हैं अत: सर्वथा त्याज्य हैं। धर्मध्यान वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर चिन्तन मनन व तत्व ज्ञान पर केन्द्रित होता है और शनैः शनैः ध्यान की सर्वोच्च अवस्था- 'शुक्ल ध्यान' के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। शुक्ल ध्यान आत्म स्वरूप में स्थिर कर चेतना को शुद्धता के उस उच्चतम शिखर पर आरूढ़ कर देता है जहां आत्मा के सहज, स्वाभाविक गुणों-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य का पूर्ण प्रकटीकरण हो जाता है। आत्मोपलब्धि का यह सोपान ही आत्मा से परमात्मा बन जाने की यात्रा का अंतिम चरण होता है।

ग्रंथ के अंतिम भाग में जैन दर्शन के दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त अनेकान्तवाद और स्यादवाद का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ये दोनों जैन दर्शन की मौलिक अवधारणाएं हैं और भारतीय चिन्तन परम्परा को समृद्ध करने में इनका विशिष्ट योगदान रहा है। अनेकान्तवाद एक तत्वमीमांसीय सिद्धान्त है जिसकी आधारभूत स्थापना है "अनन्त धर्मकम् वस्तु:"। इसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु में, चाहे वह पहाड़ जैसी विशाल हो या अणु जैसी सूक्ष्म, अनन्त धर्म या गुण होते हैं। प्रत्येक पदार्थ के अपने स्वयं के गुणों के साथ-साथ उसके अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध भी उसके गुणों को परिभाषित करते हैं। चूंकि जगत में पदार्थों की संख्या अनन्त है, अत: अनिवार्यत: प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों का पुंज है और मानव के सीमित ऐन्द्रिक ज्ञान और बौद्धिक क्षमता के

द्वारा ऐसी अनन्तधर्मा वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में जानना संभव नहीं है। सामान्य मानव किसी भी वस्तु के कुछ पक्षों को ही जान सकते हैं, अतः उनका ज्ञान एकांगी व सापेक्ष ही हो सकता है। केवल मुक्त आत्माएं, केवलज्ञानी या सर्वज्ञ ही सम्पूर्ण जगत को उसके अनन्तधर्मा रूप में पूर्ण रूपेण जानने में समर्थ होते हैं। पर सामान्य भाषा की सीमाओं के कारण इस ज्ञान की अभिव्यक्ति या संप्रेक्षण सदैव सापेक्षता लिए हुए होगी।

जैन दार्शनिकों के अनुसार हमारा प्रत्येक कथन, वस्तु या पदार्थ के किसी एक पक्ष को ही अभिव्यक्त करता है। अतः उसका सत्यता मूल्य उस दृष्टि बिन्दु के सापेक्ष होता जिससे वह कथन किया गया है। इस प्रकार के सापेक्ष कथन को 'नय' कहा गया है। प्रत्येक 'नय' पदार्थ के किसी एक धर्म/पक्ष को ही अभिव्यक्त करता है और चूंकि पदार्थ के अनन्त पक्ष हो सकते हैं अतः 'नय' भी अनन्त होंगे। नयों की इस सापेक्षता को द्योतित करने के लिए जैनाचार्यों ने प्रत्येक कथन के पूर्व 'स्यात्' का प्रयोग करने का प्रावधान किया है। 'स्यात्' इस बात का सूचक है कि वक्ता अपने कथन की निरपेक्ष सत्यता का आग्रह नहीं कर रहा है। बल्कि कह रहा है कि इस विशेष दृष्टिकोण की अपेक्षा से, जिससे कि वह पदार्थ को ग्रहण कर रहा है वस्तु का यही स्वरूप है। पर उसी वस्तु को अन्य अनन्त दृष्टिकोणों से भी देखा जा सकता है और उन दृष्टि बिन्दुओं की अपेक्षा से अन्य कथन/नय, जो कभी कभी एक दूसरे से विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, उतने ही सत्य होंगे, जितना कि वक्ता का कथन। 'स्यात्' के माध्यम से, एक पक्षीय कथनों/नयों के प्रति निरपेक्ष सत्यता के दुराग्रह को हटाने एवं भिन्न अपेक्षा से किये गये अन्य सापेक्ष कथनों को उचित स्थान व सम्मान देने के इस सिद्धान्त को 'स्याद्वाद' के नाम से अभिहित किया गया है।

'स्यादवाद', दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक उदारता व बौद्धिक सहिष्णुता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। अपने से इतर अन्य भिन्न दृष्टियों को भी समझने और उचित स्थान देने, 'ही' के दुराग्रह (मैं ही सत्य) को छोड़ 'भी' की समावेशिता (अन्य दृष्टियां भी सत्य) पर बल देने के कारण स्याद्वाद ने एक ऐसी वैचारिक शैली विकसित कर दी है जिसमें एकांगी हठधर्मिता का स्थान समन्वयशील दृष्टि ले लेती है और वस्तु-स्वरूप उसकी समग्रता में उद्घाटित होने लगता है।

जैनाचार्यों ने इस विचार पद्धति के विभिन्न पक्षों का अत्यधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा नयों के विभिन्न भेदों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। नयों के दो आधारभूत प्रकारों (1) निश्चयनय और (2) व्यवहार नय के साथ-साथ (1) द्रव्यार्थिक नय और (2) पर्यायार्थिक नय की विशद् विवेचना की गई है। वस्तु स्वरूप को उद्घाटित करने की कथन की विशिष्ट शैली 'सप्तभंगी नय' भी विकसित की गई है। वस्तुओं के गुणों/पर्यायों को अलग-अलग दृष्टिकोणों से ग्रहण करने के आधार पर सप्त नय (1) नैगम, (2) संग्रह, (3) व्यवहार, (4) ऋजुसूत्र, (5) शब्द, (6) समभिरूढ और (7) एवंभूत का प्रावधान किया गया है। ग्रंथ के उन्नीसवें अध्याय में इन सभी भेदों का विवेचन किया है।

अनेकान्ती तत्वमीमांसा व स्यादवादी अभिव्यक्ति पद्धति के माध्यम से जैनाचार्य भारतीय दार्शनिक परम्परा के विभिन्न दर्शनों के घोर विरोधी दिखाई देने वाले सिद्धान्तों के बीच भी समन्वय का सुन्दर मार्ग दिखाने में सफल रहे हैं। उदाहरणार्थ, वेदान्त दर्शन के अनुसार सत् नित्य व अपरिवर्तनशील है। परिवर्तन भ्रम, मिथ्या या माया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। सत्ता हर क्षण परिवर्तनशील है, नित्यता भ्रम है। जैन दर्शन 'सत्' का लक्षण करते हुए मानता है कि 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' (तत्वार्थसूत्र 5/30) अर्थात् सत्ता उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) व ध्रौव्य (स्थिरता) युक्त होती है। प्रत्येक अस्तित्वमान पदार्थ में निरंतर कुछ उत्पन्न व कुछ नष्ट होता रहता है पर साथ ही कुछ स्थिर भी बना रहता है। इसी बात को द्रव्य की परिभाषा में और स्पष्ट कर दिया गया है 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्' (तत्वार्थसूत्र 5/38) अर्थात् द्रव्य वह है जिसमें गुण एवं पर्याय होते हैं। द्रव्य के नित्य, अनिवार्य धर्मों को 'गुण' कहा गया है। द्रव्य के निरंतर परिवर्तित होने वाले, उत्पन्न व विनष्ट होने वाले धर्मों को पर्याय कहा गया है। जैसे आत्म द्रव्य में चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि उसके स्वलक्षण धर्म 'गुण' हैं जो सदैव बने रहते हैं। पर आत्मा में क्रोधादि कषाय रूप परिणमन भी निरंतर चलता रहता है और उनकी उत्पत्ति व विनाश होता रहता है। ये उसकी विभिन्न पर्यायें हैं। अतः गुण की दृष्टि द्रव्य नित्य है पर पर्याय की दृष्टि से वह अनित्य भी है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन की द्रव्य विषयक अवधारणाएं एकांगी हैं क्योंकि वेदान्त जहां मात्र गुणों के आधार पर द्रव्य को

परिभाषित कर रहा है और पर्यायों की सत्यता का पूर्ण निषेध कर रहा है, वहाँ बौद्ध दर्शन मात्र पर्यायों को ही देख रहा है और गुणों की सत्ता को स्वीकार ही नहीं कर रहा है। वस्तुतः गुण व पर्याय दोनों ही वस्तु-स्वरूप के अभिन्न अंग हैं और इनके समन्वय के अभाव में वस्तु को यथार्थ रूप में परिभाषित करना संभव नहीं है। वेदान्त व बौद्ध दर्शन की समस्या यह है कि वे वस्तु के किसी एक पक्ष या अंश, जिसे कि वे ग्रहण कर रहे हैं, के आधार पर ही सम्पूर्ण वस्तु को परिभाषित कर रहे हैं, और अपने एक पक्षीय/आंशिक निरूपण को ही सम्पूर्ण सत्य मानने का दावा कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वे अपने सापेक्ष सत्य (नय) को निरपेक्ष सत्य मानने का आग्रह कर रहे हैं। जैनाचार्यों के अनुसार, इनकी स्थिति अंधों और हाथी की उस कहानी के समान है जिसमें प्रत्येक अंधा हाथी के किसी एक अंग (पैर, पूंछ, सूंड, धड़, कान आदि) का स्पर्श कर उसे ही सम्पूर्ण हाथी समझ बैठता है और अपने अन्य साथियों से विवाद में उलझ जाता है। वस्तुतः ज्ञान व वचन की सापेक्षता को स्वीकार न कर पाना ही अधिकांश विवादों के मूल में होता है और जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद व स्याद्वाद के माध्यम से इस मूल का उच्छेदन करने के लिए अत्यन्त सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों को ठीक प्रकार से समझ नहीं पाने के कारण अनेक बार इनकी आधारहीन आलोचनाएं की जाती रही हैं। स्याद्वाद को संशयवाद, अज्ञेयवाद, संभावनावाद, आत्मव्याघातपूर्ण सिद्धान्त कहकर उपहास किया गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि शंकराचार्य जैसे अद्भुत विद्वान एवं डॉ. राधाकृष्णन जैसे दार्शनिक मनीषी ने भी इसके वास्तविक स्वरूप को ठीक से समझे बिना आधारहीन, अन्यायपूर्ण खण्डन किया है।

स्याद्वाद, अज्ञेयवाद नहीं है क्योंकि यह अंतिम तत्व को न केवल पूर्णतः ज्ञेय मानता है, बल्कि सर्वज्ञ की अवधारणा को भी स्वीकार करता है। 'स्यात्' को 'शायद' के रूप में अनुवादित कर इसे संशयवाद व संभावनावाद के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यहां 'स्यात्' संशय या अनिश्चतता का द्योतक नहीं बल्कि अपेक्षा दृष्टि अथवा सापेक्षता का सूचक है। एक ही पदार्थ में विरोधी धर्मों की सत्ता स्वीकार करने के कारण इसे आत्मव्याघात पूर्ण सिद्धान्त कहना भी इसी अपेक्षा-दृष्टि को नहीं समझ पाने का परिणाम है।

मेरे विचार में, संशय, अनिश्चितता, आत्मव्याघात के इन आरोपों के मूल में पूर्वोक्त 'ही' व 'भी' की भूमिका को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाना है। वस्तुत: जब कहा जाता है 'स्यात् घट अस्ति' तब इसका तात्पर्य है कि किसी एक 'अपेक्षा' से घट का अस्तित्व है। इस 'अपेक्षा' को निर्धारित करने वाले चार मानक है: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव की दृष्टि से घट का अस्तित्व है पर साथ ही पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव की दृष्टि से उसका अस्तित्व नहीं भी है। इन दोनों बातों में कोई विरोध भी नहीं है। एक ही व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है पर अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। एक रेखा अपने से बड़ी रेखा की अपेक्षा से छोटी व अपने से छोटी रेखा की अपेक्षा से बड़ी होने का गुण रखती है। निरंतर बदलती पर्यायों के कारण भिन्न क्षेत्र व काल की अपेक्षा से किसी भी वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप में निरुपित किया जाना स्वाभाविक ही है।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी पदार्थ के विषय में कुछ भी कहा जा सकता है व सभी कथन समान रूप से सत्य होंगे। आलोचकों का यह मानना है स्याद्वाद प्रत्येक कथन के लिए 'यह भी सत्य है', 'यह भी सत्य है' कह कर सत्य व असत्य के बीच के भेद को ही समाप्त कर देता है और किसी भी विषय पर किसी निश्चित मत को असंभव बना देता है। पर यह मान्यता तर्क संगत नहीं है। आलोचक यह नहीं देख पा रहे हैं कि 'स्याद्वाद' जहां अपने से इतर व भिन्न दृष्टि बिन्दुओं की सापेक्ष सत्यता को स्वीकार करने पर बल देता है वहां उतनी ही दृढ़तापूर्वक यह भी मानता है कि उस विशिष्ट अपेक्षा दृष्टि से, जिससे कि वस्तु का निरूपण किया गया है, वह कथन/नय 'ही' सत्य है।

वस्तुत: अनेकान्तवाद जहां वस्तुस्वरूप को समझने के लिए एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, वहीं स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए एक लिए अत्यन्त तर्कसंगत व मौलिक कथन शैली विकसित कर देता है। इन दोनों के माध्यम से न केवल दार्शनिक, तत्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय समस्याओं को सुलझाया जा सकता है बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर चल रहे अधिकांश विवादों व संघर्षों का समन्वयशील दृष्टिकोण से तर्कसम्मत समाधान खोजा जा सकता है।

ग्रन्थ के अंतिम अध्याय में आधुनिक युग में जैन धर्म की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है और दिखाया गया है कि किस प्रकार इस धर्म के

नैतिक व आध्यात्मिक सिद्धान्त हमारे समकालीन समाज की अनेक ज्वलंत समस्याओं का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। इस संदर्भ में अहिंसा, अपरिग्रह आदि पंच महाव्रतों, तप व दान की प्रवृत्ति, अनेकांत व स्यादवादी विचार शैली आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ अनेकान्तवाद को ही लें। ऐसा माना जाता है कि विश्व में अब तक हुए युद्धों में एक बहुत बड़ी संख्या उन युद्धों की है जिनके मूल में धर्म या धर्मजनित विद्वेष रहा है। हमारे समकालीन युग की तो सबसे बड़ी समस्या ही धार्मिक कट्टरतावाद (Religious Fundamentalism) हो गई है जिसके कारण वैचारिक असहमति का स्थान धार्मिक उन्माद और घोर असहिष्णुता ने ले लिया है। अपने से भिन्न धर्म के अनुयाइयों को 'धर्म के शत्रु' मानकर उनकी हत्या कर देना 'धार्मिक कर्त्तव्य' या 'पुण्य-कर्म' माना जाने लगा है। 'धार्मिक आतंकवाद' अपने चरम पर है और यह सम्पूर्ण मानव जाति के विनाश का एक बड़ा कारण बन सकता है।

वस्तुत: धार्मिक कट्टरतावाद अपने उग्र रूप में धीरे-धीरे स्वत: ही धार्मिक आतंकवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। दुर्भाग्यवश विश्व के अनेक प्रमुख धर्म, विशेष रूप में वे धर्म जो किसी 'किताब' से उत्पन्न और संचालित होते हैं (Semitic Religion) धार्मिक कट्टरता के मुख्य वाहक बन जाते हैं। किसी एक किताब को 'ईश्वरीय वाणी' या 'अंतिम सत्य' मानने का विश्वास स्वत: ही अपने धर्म के सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रह की सीमा तक आग्रह एवं अंध-आस्था, तथा अपने से इतर धर्मों के प्रति तीव्र घृणा, विद्वेष व तिरस्कार का भाव उतपन्न करने में सहायक हो जाता है।

उग्र धार्मिक कट्टरतावाद परिणामों से जूझते विश्व के समक्ष जैन धर्म का अनेकान्तवाद निश्चित रूप से एक प्रभावशाली समाधान प्रस्तुत कर सकता है। अपने धर्म के प्रति विश्वास व श्रद्धा के साथ-साथ अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में अन्तर्निहित सत्य को वैकल्पिक जीवन-दृष्टियों के रूप में उचित सम्मान देने का आग्रह करते हुए, अनेकांतवाद 'निरपेक्ष सत्य' पर एकाधिकार का दावा करने से उपजे धार्मिक दंभ के समक्ष एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत कर देता है। सभी धर्म सत्य के किसी पक्ष या अंश के संवाहक हो सकते हैं, यह बोध निश्चय ही धार्मिक सहिष्णुता व वैचारिक उदारता को प्रोत्साहित करता है। मेरे विचार में, धर्मजनित संघर्षों, वैमनस्य और कटुता को विराम देने के लिए

सम्पूर्ण विश्व को अन्ततः इस अनेकान्तवादी विचारशैली को ही अपनाना होगा। तभी मानव जाति धार्मिक कट्टरतावाद से उपजे उन्माद का शमन कर शांति, सौहार्द्र, सह-अस्तित्व और प्रेम से युक्त समाज का निर्माण करने में सुमर्थ हो सकेगी।

अनेकांतवाद को जैन धर्म के एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अहिंसा' का ही वैचारिक पक्ष कहा जा सकता है। 'अहिंसा परमोधर्म' के उद्घोष के साथ स्थापित इस धर्म में अहिंसा के विभिन्न पक्षों का अत्यन्त विशद् व सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। समस्त जीवोंकी समानता के सिद्धान्त के आधार पर जैन दर्शन जहाँ सभी प्रकार की शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक हिंसा को त्याज्य मानता है वहीं अहिंसा के विधेयात्मक स्वरूप पर बल देते हुए प्रेम, करुणा, अनुकम्पा एवं परस्पर सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करता है। वर्तमान परिदृश्य में विश्व को संभवतः इन्हीं सद्गुणों की सर्वाधिक आवश्यकता है।

यहाँ जैन धर्म के एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अपरिग्रह' की ओर ध्यान आकृष्ट करना समीचीन होगा। अनेकानेक पर्यावरणीय समस्याओं से त्रस्त मानव जाति का अस्तित्व आज गंभीर संकटों से घिरा हुआ है। विकास के नाम पर अपरिमित भोगवादी संस्कृति को प्रोत्साहित करने के कारण प्राकृतिक संतुलन खतरे की सीमा तक बिखर गया है और मानव व मानवेतर जगत के बीच सम्बन्धों का आधार सौहार्द्र नहीं आक्रामकता हो गया है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता से अधिक संचय करने का निषेध करने व न्यूनतम भोगपभोग पर आधारित जीवन शैली पर बल देने वाली 'अपरिग्रह' की जैन अवधारणा निश्चित रूप से इस विश्वव्यापी संकट का सामना करने का मार्ग सुझाती है। मानवेतर जगत, यथा- पशु, पक्षी, वनस्पति व प्रकृति के अन्य घटकों में भी चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन ब्रह्माण्ड के किसी भी तत्त्व के अनावश्यक दोहन व शोषण का प्रबल विरोध करता है और संयम पर आधारित जीवन-पद्धति को प्रोत्साहित करता है। पर्यावरणीय असंतुलन से उत्पन्न आसन्न संकटों का सामना करने में अपरिग्रह का यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। साथ ही हमारे समकालीन युगकी सर्वाधिक चर्चित अवधारणा- 'सतत विकास' (Sustainable development) के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आधारभूमि का भी निर्माण कर सकता है।

स्पष्ट है कि हिंसा, युद्ध, आतंकवाद, पर्यावरणीय संकट, शोषण, अन्याय व नैतिक मूल्यों के विश्वव्यापी क्षरण से जूझ रहे मानव समाज को जैन धर्म के सिद्धान्तों में निश्चित रूप से अपनी अनेकानेक समस्याओं का समाधान मिल सकता है और एक बेहतर विश्व के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

प्राकृत भारती अकादमी, श्री तुकोल के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव करती है। सहज, सरल प्रवाह युक्त हिन्दी में इस गंभीर ग्रन्थ का सुन्दर एवं विद्वतापूर्ण अनुवाद करने के लिए हम श्री रमेश चंद जैन के विशेष रूप से आभारी हैं और आशा करते हैं कि अब हिन्दी में उपलब्ध होने से यह उपयोगी ग्रन्थ एक विस्तृत पाठक वर्ग के लिए जैन दर्शन व धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को समझने में सहायक हो सकेगा। इन सिद्धान्तों की मूल दृष्टि को आत्मसात कर सुधि पाठक अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर सकने में समर्थ हो सकें और स्वचेतना को उर्ध्वमुखी कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हों, इसी में इस ग्रन्थ के प्रकाशन की सार्थकता होगी।

प्रो. कुसुम जैन
निदेशक- प्राकृत भारती अकादमी
पूर्व अध्यक्ष-दर्शनशास्त्र विभाग,
पूर्व अधिष्ठाता-कला संकाय,
पूर्व निदेशक उच्च अध्ययन केन्द्र
पूर्व निदेशक मानवीकि पीठ- राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
सम्प्रति : सदस्य, शासी निकाय
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

जैनधर्म का सार

(Compendium of Jainism)

अनुक्रमणिका

विवरण		पृष्ठ
पुरोवाक्	ए.एन.उपाध्ये	V
भूमिका	टी.के.तुकोल	VIII
प्रस्तावना	प्रो.कुसुम जैन	XIII
अध्याय-1	जैनधर्म तथा इसकी प्राचीनता	1
अध्याय-2	तीर्थङ्कर और भगवान् महावीर	20
अध्याय-3	महावीर के बाद तथा संघभेद	36
अध्याय-4	ईश्वर तथा पूजा की संकल्पना	46
अध्याय-5	लोक	58
अध्याय-6	जीव या आत्मा का सिद्धान्त	66
अध्याय-7	कर्म सिद्धान्त	82
अध्याय-8	लेश्या का सिद्धान्त	99
अध्याय-9	सात तत्त्व (कर्म सिद्धान्त जारी)	108
अध्याय-10	नव पदार्थ या मौलिक सत्य	121
अध्याय-11	गुणस्थान या आत्मा के विकास के चौदह स्तर	127
अध्याय-12	रत्नत्रय (तीन रत्न)	140
अध्याय-13	जैन नीतिशास्त्र तथा जीवन का मार्ग या सत्ता (अस्तित्व)	156
अध्याय-14	गृहस्थ के जीवन में उन्नति के सोपान	186
अध्याय-15	दस धर्म या दस उत्तम गुण	192
अध्याय-16	साधु का नीतिशास्त्र	205
अध्याय-17	सल्लेखना	220
अध्याय-18	मुक्ति का पथ	227
अध्याय-19	अनेकान्तवाद - स्याद्वाद	244
अध्याय-20	आधुनिक युग में जैनधर्म की प्रासंगिकता	261
परिशिष्ट :	THE JAINA EMBLEM	277
	हिन्दी अनुवादक का परिचय	279

अध्याय-1

जैनधर्म तथा इसकी प्राचीनता

मानवीय विचारों का इतिहास इस बात को प्रकट करता है कि मनुष्य निरन्तर सत्य और आनन्द की खोज में रहा है। वह कष्ट तथा दुःख से अपने आप को बचाना चाहता है। चूँकि वह सामाजिक प्राणी है अतः उसकी सुख की तथा दुःख की समस्याओं का समाधान समाज या विश्व के सन्दर्भ में होना चाहिए। उसके पास प्रसन्नता या दुःख के अनुभव का सन्दर्भ आत्मा अथवा शरीर के साथ संलग्न है। इसके अतिरिक्त समस्त जगत् है। मनुष्य तथा जगत् का सम्बन्ध विज्ञान और धर्म की विषय वस्तु रहा है; जिसका सामान्य उद्देश्य सत्य की खोज करना रहा है। विज्ञान का सम्बन्ध स्वयं प्रकृति के प्रतिभास की खोज से रहा है। इसके लिए वह प्रकृति में छिपी हुई घटनाओं और विवरणों के नियमों को बनाने में विश्लेषणात्मक ढंग से खोज करता है। इसके लिए वह रहस्यात्मक या पौराणिक उपचार का आश्रय नहीं लेता है। बाह्य जगत् में यद्यपि विज्ञान की उपलब्धियाँ उत्तेजित करते हुए ढंग से हुई उल्लेखनीय रही हैं; किन्तु सत्य की समस्याएं तथा जीवन का अर्थ अब भी इसकी दृष्टि से बाह्य है।

प्रारंभिक धर्म ने मनुष्य तथा जगत्, मनुष्य तथा उसके कर्तव्य, उसके जीवन का लक्ष्य तथा वह मार्ग जो इसे प्राप्ति के सम्मुख ले जाता है; इन सब प्रारम्भिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। समय-समय पर इन प्रश्नों का उत्तर साधु-सन्तों ने नियमों तथा उदाहरणों के द्वारा दिया है। जो कुछ उन्होंने कहा और जो कुछ लिखा उसी से उनके धर्मों का रूप बन गया। एक बिन्दु पर उनका मतभिन्न हो गया, वह बिन्दु है-ईश्वर की सत्ता उसके गुण तथा कार्य।

जैनधर्म इस बात को नहीं मानता कि जगत् ईश्वर के द्वारा रचा गया है। उसके अनुसार जगत् का निर्माण जीव तथा अजीव तत्त्वों से हुआ है जो कि नित्य किसी के

द्वारा न बनाए गये, सह अस्तित्व वाले अतः स्वभाव में स्वतंत्र हैं। अजीव पाँच प्रकार के हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल तथा आकाश। जीवन की पहचान ज्ञान और दर्शन से होती है। वह रूप रहित कर्त्ता तथा अपने शरीर के प्रमाण वाला है। यह संसार में रहता है और सिद्ध होने पर पूर्वाग्रह में रहता है, आत्मा अमर है, जबकि पुद्गल अविनाशी है। वेदान्ती कहते हैं कि सृष्टि का कारण केवल ब्रह्मा है। जैनों ने यह पहचान की है कि पेड़-पौधे पृथ्वी के भाग, ठण्डा जल, अग्नि तथा वायु में जीवन है। इस प्रकार का वर्गीकरण हिन्दुओं के वेदों तथा दूसरे आगम ग्रन्थों में नहीं है। उपनिषद् आत्मा तथा अतीन्द्रियता पर जोर देता है। बुद्ध ने तात्त्विक प्रश्नों के उत्तर न देकर उनको अव्यक्त रहने दिया। उन्होंने जीव, शरीर, विश्व की प्रकृति, मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता और असत्ता इन प्रश्नों का विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक उत्तर देने से मना कर दिया। इन विषयों पर कल्पना करने का भी उन्होंने निषेध कर दिया।

जैनों के धार्मिक विचार स्पष्ट और बौद्धिक हैं। जैनधर्म एक मुक्त जीव में विश्वास करता है जिसने अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान को ईश्वर के समान प्राप्त कर लिया है। भगवत्ता पूर्णता का आदर्श है। ईश्वर जगत् का या व्यक्ति का नियंत्रण नहीं करता है। वह किसी पर कृपा नहीं करता है या किसी को प्रसन्न नहीं करता है; किन्तु हिन्दू धर्म एक व्यक्तिगत ईश्वर को मानता है जो कि सृष्टिकर्ता है। जो जगत् की स्थिति और संहार करता है। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण बनने हेतु जैनधर्म ने कुछ सिद्धान्त तथा चारित्र के नियम निर्धारित किये हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति तभी आदर्श हो सकता है जब वह जीवन का आधार अहिंसा को माने। यह विश्व प्रेम का प्रचार करता है, उसका उद्देश्य जगत् के प्रत्येक प्राणी का भला करना है। स्वार्थपरता, लोभ, क्रोध और मान ये मुख्य कारण हमारे दुःख के हैं। इन्हें निस्वार्थता, दान, दया और क्षमा से विनष्ट करने की हर हाल में आवश्यकता है। जैनधर्म ने नैतिक तथा आत्मिक अच्छाई की प्राप्ति के लिए गृहस्थ के जीवन में 11प्रतिमाएं बतायी हैं तथा अन्त में परिवारजन से अलग होने को कहा है। आत्मिक विकास के लिए इसने आत्मा के लिए 14 गुणस्थानों का विवेचन किया है। श्रावक की 11 प्रतिमाओं का पालन, पंचम गुणस्थान में समाहित किया है। पाँच अणुव्रत हैं- अहिंसा- किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपने परिग्रह को स्वयं सीमित रखना। इन व्रतों का दैनिक जीवन में पालन करना चाहिए। इनसे व्यक्तिगत कल्याण की अभिवृद्धि होती है तथा अनन्त सामाजिक लाभ

होता है। इसी प्रकार प्रतिदिन आगम के अभ्यास के नियम, दान तथा पूजा एक सामान्य गृहस्थ को विचारों में तथा कार्यों में शुद्ध रखने में मदद करते हैं। साधु तथा साध्वियों की नैतिकता अब भी बहुत कठोर है तथा वे मानवीय जीवन के सभी पहलुओं के प्रति बोधगम्यता कराते हैं। जैन क्रियायों का उद्देश्य व्यक्ति की भक्ति का विकास करना, धार्मिक आदर्श की ओर बढ़ना, विचारों में पवित्रता की प्राप्ति एवं वाणी तथा कर्म में पवित्रता लाना है। वे मनुष्य को सम्यक्मार्ग में लगने में मदद करते हैं तथा उसकी इच्छा को परिपूर्ण होने के लक्ष्य का अनुभव कराते हैं तथा तीर्थंकरों की सर्वज्ञता को बतलाते हैं।

जैनधर्म जीवन का मार्ग बतलाने वाला है जिसे जिनों या तीर्थंकरों ने दिखलाया था। यह वह धर्म है जो कि अपने अनुयायियों को कर्मों को नष्ट करने की मदद करता है तथा अन्तिम सुख को प्राप्त कराने में भी सहायक है। तीन रत्न- सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग बनाते हैं। ये तीनों मिलकर अकेले आत्मा को पूर्णता के शिखर पर ले जाते हैं। यह आत्मा का गीत है जिन्हें पवित्रात्माओं ने सुना था। ये पवित्रात्माएं संख्या में 24 हैं, जो वर्तमानकाल चक्र में पोषित हुए तथा उन्होंने भगवत्ता को प्राप्त किया। जैन परम्परा के अनुसार पहले तीर्थंकर ऋषभदेव हैं और, अन्तिम तीर्थंकर महावीर। चौबीस तीर्थंकरों में ऋषभदेव ने अहिंसाधर्म का प्रकाशन किया अन्तिम महावीर थे; जो बुद्ध के समसामयिक और उम्र में बड़े थे। अब यह स्वीकृत हो चुका है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है तथा महावीर जिनका काल 599 ईसा पूर्व से 527 ईसवी पूर्व माना जाता है, जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे। उनसे 250 वर्ष पहले के पार्श्व भी ऐतिहासिक व्यक्ति थे। ऋषभदेव के द्वारा प्रचारित अहिंसा सिद्धान्त भारत में आर्यों से पहले का था तथा उस काल में यह संस्कृति प्रचलित थी[1]।

आधुनिक खोजों की अभिवृद्धि होने के बावजूद भी तथा भारतीय इतिहास और दर्शन के क्षेत्र में प्रगति होने के बाद भी कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो इस बात पर जोर देते हैं कि जैनधर्म वैदिक ब्राह्मणों के धर्म की एक शाखा है जैसे कि बौद्ध लोग हिन्दूधर्म से निकले हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ जैसे-आरनोल्ड .....इस बात पर जोर देते हैं कि महावीर जैनधर्म के संस्थापक हैं। उनके अनुसार जैन इसी प्रकार के समाज से जीवाश्म के रूप में[2] निकले हुए हैं जो कि अब समाप्त प्राय है। वे इस निरीक्षण की ओर आगे बढ़ गये-इसी प्रकार भारत के जैन तथा लंका, वर्मा और श्याम तथा हिमालयीन बौद्ध भारतीय समाज के जीवाश्म के रूप में देखे जा सकते हैं। यह वह समाज है जो कि मौर्य साम्राज्य[3] के

अन्तर्गत वृद्धि को प्राप्त कर रहा था। यह दृष्टिकोण अपर्याप्त सामग्री पर आधारित है चाहे यह सामग्री गलत न हो। वास्तव में जैनधर्म न किसी अन्यधर्म की शाखा है न इसे कालबाह्य धर्म कह सकते हैं जिसे कि जीवाश्मीय चट्टान के रूप में व्यक्त किया गया है। यह सही है कि जैन इस समय गणना में अल्पसंख्यक हैं, किन्तु भारतीय दर्शन, साहित्य, कला, स्थापत्य तथा संस्कृति की अभिवृद्धि में उनका उल्लेखनीय योगदान है। धर्म के अध्ययन के विद्यार्थी के लिए जैनधर्म के विषय में दिलचस्पी इस तथ्य पर भी आधारित होती है कि इसका काल बहुत पुराना है[4]। हम जानते है कि जैनियों के पवित्र ग्रन्थ संस्कृत साहित्य से प्राचीन हैं जिस संस्कृत साहित्य को हम शास्त्रीय साहित्य (Classical) कहते हैं। टायनवी ने संभवतः बहुत सारे तथ्यों को उजागर न कर नजरअन्दाज किया है जैसा कि आधुनिक शोध छात्रों ने निम्नलिखित पृष्ठ में उल्लिखित किया है।

श्रीमती सिकलेयर स्टीवेन्सन ने यह विचार व्यक्त किया है कि बौद्ध तथा जैनधर्म दोनों का उद्गम एक साथ ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व हुआ था। वह समय ऐसा था कि छोटे-छोटे राज्यों में लगातार युद्ध होते रहते थे जिसमें सामान्य मनुष्यों को भयंकर अत्याचार सहन करने पड़ते थे तथा इस दुःखमय संसार में मनुष्य पुनर्जन्म से छुटकारा पाना चाहता था तथा अपनी ग्रहण की हुई समस्त वस्तुओं से छुटकारा चाहता था और अपनी स्वेच्छा से समस्त परिग्रह तथा भावनाओं से छुटकारा चाहता था जिससे राजा के हाथों से अथवा भाग्य से अपने-आप को बचा सके[4]। इस प्रकार के दृष्टिकोणों को और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में उठते हुए प्रश्न तीन हैं-

1. जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है
2. या हिन्दू धर्म की शाखा है
3. क्या यह वैदिक धर्म से प्राचीन है ?

जिओ पी. टेलर जिन्होंने श्रीमती स्टीवेन्सन की पुस्तक पर भूमिका लिखी है; का कहना है कि पिछले 30 वर्षों में विद्वानों का एक समुदाय जिसमें हर्वर्थ प्रोफेसर बुहलर, प्रो.जैकोवी तथा डॉ. हार्नले ने जैनधर्म सम्बन्धी हमारे ज्ञान को बहुत आगे बढ़ाया; क्योंकि एक लम्बे समय से यह विचार चल रहा था कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है; किन्तु प्राच्य विद्वानों की लम्बी शोध के फलस्वरूप यह विचार अन्तिम रूप से समाप्त हो गया तथा जैनधर्म भारत का बहुत प्राचीन संगठन स्वीकार कर लिया गया। बौद्धधर्म से भिन्न होने के कारण यह बात निश्चित हो गयी कि जैनधर्म दोनों धर्मों में

प्राचीन है तथा यह बहुत सुनिश्चित है कि महावीर यद्यपि बुद्ध के समकालीन थे किन्तु वे बुद्ध से 50 वर्ष[5] बड़े थे।

इसके अतिरिक्त बौद्ध इतिहास तथा साहित्य इस बात की स्थापना करता है कि संसार त्याग के बाद बुद्ध ने पार्श्वनाथ के धर्म में संन्यास की दीक्षा लेकर जैन विचारधारा का अनुसरण किया था। पार्श्वनाथ जैनधर्म के 23वें तीर्थंकर थे। बौद्ध साहित्य में महावीर निगंठनाथ के पुत्र में वर्णित किये गये हैं। मज्झिम निकाय में संन्यासियों का एक सन्दर्भ है जो महावीर के अनुयायी थे और कहते थे कि महावीर सर्वज्ञ हैं तथा उन्होंने उनका पूर्व जन्म के विषय में बहुत कुछ बताया है। बुद्ध के द्वारा अपने शिष्यों को स्वयं अपने अनुभवों के विषय में बतलाया गया है कि वे नग्न थे तथा भोजन अपने हाथ की हथेलियों में ग्रहण करते थे तथा भोजन करते समय बहुत सारे प्रतिबन्धों का पालन करते थे। यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा जो पहले चारित्र पालन किया गया वह जैन तपस्वियों से पूरा मेल खाता है, उस पुस्तक में उपालि का एक सन्दर्भ आया है कि उनका बुद्ध से इस बात में मतभेद था कि भावकर्म द्रव्यकर्म को कैसे प्रभावित करते हैं? उपालि पहले बुद्ध का भक्त था किन्तु अन्ततः उसने जैनमत में अपने को परिवर्तित कर लिया था।

धम्मपद बौद्धधर्म की बाईविल है इसमें त्रिपिटक के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से पद्यों का संग्रह किया गया है। त्रिपिटक पालि के आगम ग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध की शिक्षाएं समाहित हैं तथा स्वाभाविक रूप से उसमें ब्राह्मण शब्द की पुनर्व्याख्या की गयी है। जो कि परम्परागत नहीं है, बल्कि व्यक्ति के अच्छे गुणों पर निर्भर है। (देखो धम्मपद 393) वृषभ, महावीर और बुद्ध उसी श्रमण परम्परा से सम्बन्धित थे तथा गुणों के आधार पर वे ब्राह्मण थे। यह बात धम्मपद की 422वीं गाथा में कही गयी है-

उसभं, पवरं, वीरं, महेसिं, विजिति।
वीनां अनेजं, नाहतकं, बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

अर्थ- प्रवरों में श्रेष्ठ वृषभ विजयी तथा महान् संत (विजित तथा महर्षि)। वीर (महावीर) तथा बुद्ध जो कि इच्छारहित तथा शुद्ध (अनेज तथा नहतक) थे। इन सबको हमें अवश्य ही ब्राह्मण कहना चाहिए।

तत्त्वविद्या और दार्शनिक विचारों में जैन और बौद्ध धर्म में अन्तर है। जीव के विषय में जैनों के विचार अधिक प्राचीन हैं जबकि बौद्धधर्म सभी वस्तुओं को क्षणिक मानता है। जैनधर्म जीव और अजीव को नित्य द्रव्य मानता है। बौद्धधर्म के अनुसार एक

जीवन से दूसरे जीवन की कोई निरन्तरता नहीं है। लोक परिवर्तनशील और आत्मरहित है। आत्मा नित्य नहीं है। एक जीवन से दूसरे जीवन में परिवर्तित होने पर एक नया जीवन का उदय घटनाओं की सन्तति के भाग के रूप में होता है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने बहुत सारे सन्दर्भ ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे यह प्रदर्शित होता है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पुराना है। मानने में जो सामान्य भ्रान्तियाँ हैं उन सभी को दूर कर दिया है। ब्राह्मणेतर होते हुए जैनियों ने बहुत सारे प्रसिद्ध विचारों पर कार्य किया जो कि अधिक प्रारंभिक और अपरिपक्व चरित्र के थे जैसे जीव के विषय में विचार किन्तु बौद्धधर्म के सिद्धान्त पूर्ण रूप से भिन्न चरित्र के हैं उनके अनुसार कोई पूर्ण नित्य सत्ता नहीं है, दूसरे शब्दों में सभी वस्तुएं क्षणिक हैं। इसके अतिरिक्त उनके दार्शनिक विचारों में मूलभूत अन्तर है। बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म के घेरे से बाहर होते हुए वर्तमान में इन दोनों में समता प्रतीत होती है। अतः भारतीय लेखक भी उनके विषय में भ्रम में पड़ जाते हैं अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि कुछ यूरोपीय विद्वान् जैनधर्म के बहुत कम साहित्य से परिचित होते हुए आसानी से यह मानने लग गये कि यह बौद्धधर्म की एक शाखा है, किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि उनका सिद्धान्त गलत है। बौद्धों का आगम साहित्य निगंठ को (जो कि जैनों का पुराना नाम है) एक प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय के रूप में मानता है। निगंठ को संस्कृत में निर्ग्रन्थ और प्राकृत में निग्गंठ कहते हैं। निगंठों का नेतृत्व बुद्ध के समय में नातपुत्र वर्धमान महावीर के हाथ में था। नात या नातपुत्र जैनों के अन्तिम तीर्थंकर कहलाते थे। बौद्ध ग्रन्थों में महावीर का निर्वाण पावापुर में उल्लिखित है जो कि जैन परम्परा से मेल खाता है। महावीर बुद्ध के समसामयिक थे और संभवतः बुद्ध से उम्र में बड़े थे, जिनकी मृत्यु का उल्लेख पावा में वर्णित है। बुद्ध के समान महावीर अपने सम्प्रदाय के संस्थापक नहीं थे, किन्तु वे तीर्थंकर थे। वे अपने धर्म के लेखक भी नहीं थे। सर्वसम्मति से बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे बोधि प्राप्त कर धर्म के मूल सत्य का उद्घाटन कर लिया था। यह बात उनके व्यक्तिगत कार्यों से प्रकट होती है। उनके प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन को उनके अनुयायियों ने सिद्धान्त मानकर उसका प्रचार किया। इस प्रकार की परम्परा जैनों के आगम साहित्य में महावीर के विषय में नहीं है। इस तरह महावीर उस सम्प्रदाय की परम्परा में हुए प्रतीत होते हैं जो कि परम्परा बहुत पहले प्रारंभ हो चुकी थी। यदि वे जैनधर्म के संस्थापक होते तो परम्परा उनका प्रवर्तक के रूप में गुणगान करती तथा इस प्रकार उनकी भक्ति को दबाती या रोकती नहीं, किन्तु उनके विषय में यह सन्देह नहीं है कि वे अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके पूर्ववर्ती पार्श्व थे जिनका निर्वाण महावीर से 250 वर्ष पहले हुआ था[7]।

जैनधर्म तथा हिन्दू धर्म-

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस बात का प्रचार किया कि जैनधर्म हिन्दूधर्म के प्रति विद्रोह के रूप में उदय में आया। श्रीमती स्टीवेन्सन ने इस बात पर बल दिया कि इस बात को हमेशा याद रखना चाहिए कि एक विद्रोही पुत्री के रूप में जैनधर्म ब्राह्मण धर्म की एक पुत्री है, जिसके बहुत सारे विश्वास अब भी जैनियों में प्रचलित हैं[8]। अपने विचारों के समर्थन में दोनों धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश न डालकर उन्होंने स्वयं यह कहा है कि उनकी पूजा पद्धति हिन्दुओं से मिलती जुलती है तथा उनके घरेलू पुरोहित यद्यपि वे मन्दिर के अधिकारी नहीं हैं फिर भी ब्राह्मण हैं[9]। कुछ भारतीय विद्वान् भी ऐसा मानते हैं कि जैनों का उद्गम हिन्दुओं से हुआ तथा वह वैदिक हिन्दूधर्म की एक शाखा है। श्री वी.एन.लूनिया का कहना है कि छटी शताब्दी ईस्वी पूर्व का समय विश्व में एक बड़ी मानसिक भ्रान्ति का समय था। इस समय भारत में हिन्दू अपनी पुरानी दार्शनिक पद्धतियों से हताश थे। वे एक सरल पूजा पद्धति चाहते थे। फलस्वरूप ब्राह्मण[10] धर्म में जैनों का सुधारवादी आन्दोलन उदय में आया। यह प्रचलित प्रभाव है कि जैनधर्म उनका धर्म है जिन्होंने हिन्दुओं के पशु यज्ञों के विरुद्ध विद्रोह किया।

इस प्रश्न का हल दोनों के दार्शनिक तथा तात्त्विक विचारों में मौलिक भेद के रूप में सशक्त रूप में मौजूद है। वेद जिनका उदय दैवीय माना जाता है। उनमें सूर्य, इन्द्र और अग्नि देवता की पूजा है। ये वैदिक युग में तीन प्रसिद्ध देव थे। वरुण विश्व का नियन्ता माना गया है। वह सब जगह विद्यमान है तथा मनुष्यों को उनके पापों की सजा देता है। पूजा की पद्धति में यज्ञ बहुत विस्तृत था। दूसरा प्रारंभिक उद्देश्य देवताओं की कृपा प्राप्त करने के लिए उनका गुणगान करना था। बाद में ब्राह्मणों के काल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश आये। वह उपनिषदों का काल था; जबकि पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त प्रसिद्ध हुए। उन्होंने ब्रह्म को आत्मा के रूप में माना, जिसका साक्षात्कार पुनर्जन्म से छूटने हेतु आवश्यक है। जब मनुष्य ब्रह्म की श्रेणी में पहुँच जाता है तब वह सुख और दुःखों से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति की आत्मा तथा जगत् के साथ उसकी एकता पूरे उपनिषद् साहित्य में व्यक्त की गयी है तथा तत्त्वमसि के रूप में उसकी व्याख्या मिलती है। तुम वह सामान्य सत्ता हो; यह उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त है।

हिन्दू धर्म के ये मौलिक सिद्धान्त जैनधर्म से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। श्रीमती एन.आर.गुसेवा ने दोनों धर्म के मध्य अन्तर को रेखांकित किया है। आठ प्रमुख लक्षण हैं जो कि जैनधर्म को ब्राह्मणधर्म से पृथक् करते हैं, वे लक्षण इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं

कि उनके आधार पर जैनधर्म की ब्राह्मणधर्म की शाखा के रूप में संभावना बिल्कुल नहीं है तथा इसका उद्गम कोई अन्य भी नहीं है। संक्षेप में ये लक्षण निम्नलिखित हैं-

1. जैनधर्म वेद की पवित्रता का निषेध करता है।

2. जैनधर्म इस सिद्धान्त का विरोधी है कि देवता लोग पूजा के प्रमुख लक्ष्य हैं।

3. जैनधर्म खूनी यज्ञ तथा ब्राह्मणों के बहुत सारे क्रियाकाण्डों के विरुद्ध है।

4. ब्राह्मण समाज की चातुर्वर्णात्म पद्धति को जैनधर्म मान्य नहीं करता है।

5. दूसरे के जीवन की रक्षा करने को मान्यता देता है।

6. संन्यास धर्म को स्वीकार करता है।

7. मुनियों के लिए नग्नत्व का विधान करता है।

8. स्त्रियों को साध्वी बनने की अनुमति देता है[11] तथा उन्हें पवित्र ग्रन्थ पढ़ने की भी अनुमति देता है। इसमें मैं एक बात और भी जोड़ना चाहती हूँ कि जैनधर्म ईश्वर के द्वारा सृष्टि की रचना को नहीं मानता है तथा ईश्वर संरक्षक है; यह भी नहीं मानता। इन दो धर्मों में तथा बौद्धधर्म में फिर भी तीन तत्त्व सामान्य हैं। वे हैं आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास, कर्म का सिद्धान्त कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है, अन्त में निर्वाण या मोक्ष की संभावना। इन तीनों सिद्धान्तों को ब्राह्मणों ने प्रत्यक्ष रूप से अवैदिक धर्मों से लिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये सिद्धान्त जैनों के आचार्यों से नहीं लिये[12] गए।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उसमें यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि जैनधर्म; जो कि आधार रूप में हिन्दूधर्म से भिन्न है, वह हिन्दूधर्म की शाखा नहीं माना जा सकता। अब यह प्रश्न होता है कि **क्या जैनधर्म हिन्दूधर्म से पुराना है?**

वैदिक तथा दूसरे सन्दर्भ- ऋग्वेद, यजुर्वेद और पुराणों में जैनतीर्थंकर तथा अर्हंतों के सिद्धान्तों के संदर्भ विद्यमान हैं। श्री सुवैया शास्त्री ने बहुत सारे सन्दर्भ अपने षट्खण्डागम की भूमिका में जोड़े हैं। वहाँ से यहाँ पर कुछ सन्दर्भ पृष्ठ 10 से 12 तक के मध्य से लिए गये हैं। जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव के अन्य पुत्रों के साथ भरत और बाहुबली नामक दो पुत्र थे। भारतवर्ष का नाम बड़े पुत्र भरत के नाम पर भारत हुआ। इस का विवरण आचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण में दिया है। इसका समर्थन विष्णुपुराण के वर्णन में भी होता है।

ऋषभात् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रः शताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्शमेतल्लोकेषु गीयते॥

-विष्णुपुराण

वे सौ भाईयों में सबसे बड़े थे। उनके समय में यह भूमि विश्व में भारत के नाम से जानी गयी। भागवत् पुराण के पाँचवें अध्याय में यह कहा गया है-

भगवान् ऋषभदेवःउपशमशीलानां उपरतकर्मणांमहामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं परमहंस धर्मं उपशिक्षमाणः स्वतनयज्येष्ठंभरतं धरणीपालनाय अभिषिच्यस्वयंशरीरमात्रपरिहग्रहः प्रवव्राज॥

भागवत् पुराण स्कंध-5, अध्याय-5

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत को सिंहासन पर बैठाया, जो धर्म के अच्छे ज्ञाता थे तथा अपने अपनी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य लक्षणों से उन्होंने परमहंस धर्म की शिक्षा दी तथा अन्त में शरीर मात्र परिग्रह रखकर प्रव्रज्या धारण की। ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

दूसरे सिद्धान्त का कुछ विद्वान् विरोध करते हैं। उनके अनुसार दुष्यंत और शकुन्तला का पुत्र भरत इस सम्मान का अधिकारी है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है कि दुष्यंत नाम का राजा बहुत बाद में हुआ तथा उसकी प्रसिद्धि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलं नाटक के बाद अधिक हुई।

ऋग्वेद में बाद दूसरे तीर्थंकर का सन्दर्भ है।

वामदेवाशान्त्यर्थअनुविधीयते सोस्माकं अरष्टिनेमि स्वाहा। अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपं अर्हन्निदंदयसे विश्वं भुवंनवाओ जाओ रुद्रनत्वदास्ति॥

-ऋग्वेद अष्टक-2 वर्ग-7

इसी वेद में एक और सन्दर्भ है-

ॐ स्वस्तिनः विधवेदाःस्वस्तिनस्तर्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनोबृहस्पतिर्ददान्।

-ऋग्वेद अष्टक 1 वर्ग 16

यजुर्वेद में ऋषभ, सुपार्श्व तथा नेमिनाथ के सन्दर्भ हैं-

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो, ॐ ऋषभः पवित्र पुरुहूतमध्वरंयतीषुनग्नं परममाह संस्तुतं वरं, शत्रुं जयंतं पशुरिन्द्रिमहुरिति स्वाहा। ॐ त्रातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति। अमृतारमिन्द्र हवे सुगतं सुपारिश्वमिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरुषं महन्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा।

-यजुर्वेद अध्याय-25, श्रुति-19

यहाँ पर प्रथम सातवें तथा बाईसवें तीर्थंकर के सन्दर्भ स्पष्ट हैं। डॉ. राधाकृष्णन ने इन सन्दर्भों की प्रामाणिकता स्वीकार की है तथा कहा है कि जैन परम्परा अपने धर्म का प्रारंभ ऋषभदेव से स्वीकार करती है, जो अनके शताब्दी पहले हुए। इस बात को दिखलाने का प्रमाण है कि प्रथम शताब्दी ईसवी में लोग ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) की पूजा करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से पहले भी प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का उल्लेख है। भागवत पुराण इस बात से सहमत है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक[13] थे।

प्रथम तीर्थंकर का उल्लेख मनुस्मृति में भी है-

अष्टमोमरुदेव्यां तु नाभेर्जातः उपक्रमः।
दर्शयन् कर्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीति त्रयस्य कर्त्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः॥

-मनुस्मृति

युग के आरम्भ में प्रथम जिन का जन्म आठवें मनु नाभि से मरुदेवी के गर्भ से हुआ, जो कर्म के नियामक थे तथा जिन्हें सुर और असुर नमस्कार करते थे तथा जिन्होंने नीति तथा दण्ड के नियमों का प्रचार किया। यही विवरण भागवत पुराण में पाया जाता है। केवल भागवत के श्लोक ही निर्दिष्ट परम्परा को सुनिश्चित नहीं करते, अपितु ऋषभदेव ने जो अपने पुत्रों को उपदेश दिया, वह भी जैन सिद्धान्तों के अनुरूप है।

उपर्युक्त अर्हतों के सन्दर्भ तथा तीन तीर्थंकरों के सन्दर्भों का तात्पर्य यह है कि ये तीनों व्यक्तित्व पूर्व वैदिक होना चाहिए तथा जिस धर्म का उन्होंने प्रचार किया वह वैदिक धर्म से पूर्व का है। जैनों के स्वयं के विश्वास के अनुसार जैनधर्म अनादि है तथा इसका पुनः पुनः युगों युगों में पुनःउद्धार होता है उसके लिये अगणित तीर्थंकर हुए हैं। धर्म के विद्यार्थी के लिए जैनधर्म के प्रति दिलचस्पी इस तथ्य से निहित है कि इसका

प्रारंभ बहुत पहले हुआ। यह धर्मों में इतना आरंभिक है तथा दूसरा तत्त्वज्ञान तथा उद्भावनाएं इतनी प्रारंभिक हैं कि इसने बहुत प्राचीन भारतीय दर्शनों को जन्म दिया, वे हैं- सांख्य तथा योग तथा बौद्धधर्म। यह सैद्धान्तिक निराशावाद का भाग है जो कि इन धर्मों में है तथा प्रायोगिर, आदर्श, मोक्ष जो कि उनमें पाया जाता है वह भी इसके अनुरूप[14] है।

वेदों का काल- वेदों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में विचारणीय मतभेद हैं। ऋग्वेद की रचना और संग्रह का काल ज्ञात नहीं । इस बात को निर्दिष्ट करने का निश्चित प्रमाण है कि वैदिक सूक्त ईसा से 1500 वर्ष[15] पहले थे। वेदों की रचना की कालावधि लम्बी है, जिसे तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व 1000 वर्ष तक रखते हैं। बालगंगाधर तिलक इसे ईसा पूर्व 1500 मानते हैं जबकि बाद के इतिहासज्ञ यह विचार करते हैं कि वेद ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी[16] में रचे गये। वेद के सूक्तों को इकट्ठा होने तथा अग्रसर होने में कई शताब्दियों का काल लगा होगा जो कि आर्यों के भारत में आने का काल है[17]। विस्तृत स्वीकृत ऋग्वेद का काल 2500 ईसापूर्व से पहले का नहीं[18] है।

मोहनजोदारो तथा हड़प्पा की उपलब्धियाँ- बहुत से विद्वानों ने सिन्धु सभ्यता की प्राचीनता तथा प्रकृति के विषय में अन्वेषण कार्य किये हैं। इस सभ्यता को पुरातत्त्वज्ञ हड़प्पा संस्कृति के नाम से जानते हैं। मोहनजोदारो तथा हड़प्पा नगरों के नाम में से एक नाम है जो कि पंजाब में रावी नदी के बाएं किनारे के दो शहरों के नाम हैं। मोहनजोदारो दूसरे नगर का नाम है जो कि सिन्धु नदी के दाएँ किनारे है। इसका क्षेत्र इस नदी के मुहाने पर से 250 मील है। सर जॉन मार्शल का मोहनजोदारो के विषय में कार्य एक स्मारक है। इसमें 6 सील तथा चिह्नित 12 प्लेट तथा तथा प्लेट cxviii की आकृति है। इन पर मिस्टर चन्द्रा ने निर्देश दिये हैं। अगस्त 1932 के माडर्न रिव्यू में प्रकाशित अपने आलेख में कहा गया है। इन मोहरों पर खड़ी हुई मुद्राओं में देव मुद्राएं जो कि कायोत्सर्ग में स्थित हैं, इनमें एक जैनयोगी की खड़ी हुई मुद्रा को उदाहृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए दूसरी शताब्दी के लगभग की प्रसिद्ध मूर्ति मथुरा संग्रहालय की ली जा सकती है। ऋषभ का स्वयं अर्थ बैल है जो स्वयं जिन का चिह्न है। यह भी कौतूहलजन्य है कि मुहर नं. एफ.जी. में भी एक खड़े हुए देवता वृषभ के साथ खड़े हुए हैं। क्या यह ऋषभदेव के पूर्व रूप हो सकते[19] हैं ? यदि ऐसा है तो शैवधर्म के साथ जैनधर्म भी विश्व के प्राचीनतम धर्मों में एक स्थान प्राप्त कर सकता है। दूसरी मुहर एक खड़े हुए नग्नदेवता की है जो कि वृक्ष की दो शाखाओं के बीच में खड़ी है।

ये मुद्राएं बिना किसी सन्देह के जैनधर्म की संस्कृति और परम्परा को निश्चित करती हैं। आचार्य तुलसी का कहना है कि योगासन की बहुत सारी मुद्राएं जो कि मोहनजोदारो से प्राप्त है, उन्हें जैनों ने बनाया होगा। पहले के भारत में यह अच्छी तरह से जानी जाती होंगी तथा इन्हें बहुत बाद में हिन्दू सन्यासियों[20] ने उधार लिया होगा। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार का कहना कि मुहर नं. 449 का शिलालेख मेरे पढ़ने में जिनेश्वर या जिनेश रूप में (जिन ईई सरह)[21] आया है।

पुरातत्त्वज्ञों के द्वारा खोजी गयी मुहरों में कुछ पर स्वस्तिक चिह्न हैं, उन्हें संदर्भित करते हुए श्रीमती गुसेवा का कहना है कि जैनधर्म का स्वस्तिक सामान्य प्रतीक है। यह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व का चिह्न है। जैनों का कथन है कि महावीर से पहले 23 तीर्थंकर हुए तथा मध्य का भाग 18वें तीर्थंकर अर के चिह्न का रूप है। यह चिह्न भी जैनमन्दिरों[22] और हस्तप्रतियों में सदैव लगाया जाता है। खुदाई से सुनियोजित सुन्दर शहर प्रकट हुए हैं; जो कि आर्यों के आक्रमण से पहले के हैं। इस बात में शोधकर्ता विद्वान् एक मत हैं कि इन नगरों की सभ्यता और परम्परा के मनुष्य चार हजार ईस्वी पूर्व के रहे होंगे, जिन्होंने इनका निर्माण किया और उनकी सभ्यता आर्यों से श्रेष्ठ थी। प्रो. चक्रवर्ती ने यहाँ युद्ध के हथियारों की अनुपस्थिति से इस ओर ध्यान आकर्षित किया तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सिन्धु घाटी की सभ्यता अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित थी जो कि जैन संस्कृति का मध्यवर्ती धर्म है। वह दूसरे विद्वानों के इस अनुमान पर सहमत हैं कि योगी की मूर्ति या ऋषभ की मूर्ति जो कि मोहनजोदारो तथा हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त हुई है; उसका घनिष्ठतम जुड़ाव भगवान् ऋषभदेव के साथ है जिनकी अहिंसा की संस्कृति सिन्धुघाटी में रहने वाले मनुष्यों का धर्म थी[24]। आर्यों का जिन लोगों ने विरोध किया था उन पर विजय के बाद वे पंजाब तथा गंगा के मैदान के पश्चिमी भाग में बस गये उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को दस्यु कहा तथा उनको विंध्य के बाहर खदेड़ दिया। उन्होंने विविध देवों की पूजा प्रारंभ की । यह पूजा यज्ञों में पशुओं की बलिदान से होती थी। बाद में उनका सामाजिक ढाँचा वर्षों में बदल गया जिसने देश के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उस समय निश्चित रूप से लोगों में सामंजस्य और सहचारिता के भाव थे। अहिंसात्मक संस्कृति के अनुयायियों ने हिंसात्मक पशुयज्ञ और वर्ण व्यवस्था की निन्दा की।

इन दार्शनिक विकासों के अतिरिक्त श्रीमती गुसेवा ने आत्मविद्या के दार्शनिक विचार का सन्दर्भ दिया है। यह क्षत्रियों का योगदान था। वह परम्परा जिसने प्राचीन भारतीय साहित्य का विस्तृत रूप से प्रतिनिधित्व किया, इस बात पर बल देती है कि

आत्मविद्या का विचार पूर्वी गंगा के प्रदेश में संक्षिप्त रूप से था, जहाँ पर कि जैनधर्म को रूप दिया गया। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी इस प्रदेश के क्षत्रिय शासकों से सन्देश सुनने के लिए आए। प्राचीन भारतीय साहित्य में जैनधर्म की प्राचीनता के स्रोतों के संकेत है तथा इसमें यह भी संकेत है कि व्रात्यों से क्षत्रिय और संन्यासी; जो कि आर्येतर थे; ने अवैदिक शिक्षाओं की स्थापना में उल्लेखनीय भूमिका अदा की[25]। यह स्मरण में रखना योग्य है कि यद्यपि वेदों के आत्मविद्या का निर्देश नहीं किया। उनमें उपनिषदों का भी उल्लेख नहीं है, जिन्होंने बाद में आत्मविद्या का निर्देश नहीं किया। उनमें उपनिषदों का भी उल्लेख नहीं है, जिन्होंने बाद में आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या का बाद में प्रचार किया।

शिलालेख- इतिहास का यह स्थापित तथ्य है कि प्राचीन बिहार तथा उसकी सीमाओं के आसपास के शासक या तो जैनधर्म के संरक्षक थे या उसके अनुयायी थे। लिच्छवी गणतंत्र का शासक चेटक जैन था तथा उसकी बहिन (एक परम्परा के अनुसार पुत्री) का विवाह सिद्धार्थ के साथ हुआ था; जिनसे महावीर का जन्म हुआ। नन्द राज्यवंश के कुछ राजा जैन थे। इसी प्रकार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी जैन था, जो बाद में (मुनि दीक्षा ग्रहण कर) भद्रबाहु के साथ दक्षिण आ गया। पार्श्व के समय से कलिंग की सीमायें जैनों द्वारा अधिकृत थीं। अतः यह स्वाभाविक है कि इस भाग में जैनधर्म की स्मारक होना चाहिए। मथुरा के पास की खुदाई में जैन स्थापत्य के महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपलब्ध हैं। अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ से संबंधित 78वें संवत् का एक शिलालेख उपलब्ध है। श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर ने एक शिलालेख का सन्दर्भ दिया है, जिसका कटवाचन रायबहादुर गौरीशंकर हरिशंकर झा ने किया था। इसकी प्राप्ति अजमेर के पास बडली से हुई थी। इसमें 84वें वीर निर्वाण संवत् (443 ईस्वी पूर्व) का उल्लेख है तथा इससे ज्ञात होता है कि उस समय जैनधर्म राजस्थान में प्रचलित था[26]। करीब 100 ई. पूर्व का एक शिलालेख फुरहर को प्राप्त हुआ था, जिसमें ऋषभदेव की पूजा के लिए भूमिदान का उल्लेख है। डॉ. हीरालाल जैन ने मथुरा के समीप प्राप्त एक स्तूप के शिलालेख का उल्लेख किया है। इसमें कहा गया है कि एक नृत्यकार की पत्नी फल्गुयश ने अरहन्त की पूजा के लिए आयागपट्ट का निर्माण कराया था। विन्सेण्ट स्मिथ इसका काल 150 ईसा पूर्व निर्धारित करते हैं। इसका आधार[27] उस शिलालेख की लिपि है।

श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर ने उदयगिरि पर्वत पर लिखे गए हाथी गुफा[28] शिलालेख का उल्लेख किया है। यह शिलालेख अपभ्रंश में है। इसमें जैनधर्म की प्राचीनता पर मूल्यवान् प्रकाशन डाला गया है। इसका प्रारंभ पारम्परिक णमोकार मन्त्र से होता है,

जिसमें अरहंत और सिद्धों को नमस्कार किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि जैन राजा खारवेल ने खण्डगिरि पर्वत पर बहुत सी गुफायें खुदाईं थीं। खारवेल के इस शिलालेख में भगवान् ऋषभदेव की एक मूर्ति का उल्लेख हुआ है, जिससे यह तथ्य स्थापित होता है कि महावीर से पूर्व ऋषभदेव की पूजा होती थी। ये ऐतिहासिक वर्णन इस बात की पुष्टि करते हैं कि ऋषभदेव जैनों के तीर्थंकर थे।

विदेशी विद्वान्- ऊपर जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में कहा गया है। हर्मन जैकोबी ने जो आलेख लिखे हैं, मैं उनका उल्लेख कर चुका हूँ। उनका कहना है कि हमें उन उल्लेखों को झुठलाने का कोई तार्किक आधार प्राप्त नहीं होता है जो कि बहुत से मनुष्यों के समुदाय ने लिखे हैं। समस्त घटनायें जो कि उनकी प्राचीनता से सम्बन्धित हैं, इतनी बहुलता से तथ्यात्मक रूप में उल्लिखित हैं कि वे अच्छी तरह से रद्द नहीं की जा सकती हैं। जब तक हमें उन विद्वानों के द्वारा मजबूत प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाते, जो कि जैनधर्म[29] की प्राचीनता के विषय में सन्देह करते हैं। डॉ. फुरहर तथा प्रो.एल.डी.बारनेट दोनों यह स्वीकार करते हैं कि 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे[30]। ए.ए.मेकडानल ने हिन्दू पुराणों की प्राचीनता का उल्लेख किया है तथा उनका कहना है कि जैनधर्म की प्राचीनता ब्राह्मण धर्म से पहिले की सिद्ध[31] होती है।

मेजर जनरल जे.जी.आर. फरलांग इन्हीं निर्णयों पर पहुँचते हैं। पूरे उत्तरभारत में एक प्राचीन और बहुत अधिक संगठित, दार्शनिक, नैतिक, कठोर संन्यस्त चर्यावाला जैनधर्म जैसा धर्म था, जिससे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण धर्म के संन्यासी तथा बौद्ध भिक्षुओं का समुदाय विकसित हुआ। जब तक आर्य लोग गंगा अथवा सरस्वती तक पहुँचे, तब तक 8वीं 9वीं सदी ईस्वी पूर्व के पार्श्व से पहले के 22 प्रसिद्ध बोध, सन्त या तीर्थंकरों ने जैनों को उपदेश दिया था[32]।

भारतीय विद्वान् - भारतीय विद्वानों द्वारा व्यक्त किए गए विचार इन निष्कर्षों का समर्थन करते हैं। इस विषय में मैं डॉ. राधाकृष्णन् के मत को उदाहृत कर चुका हूँ। प्रो. ए.चक्रवर्ती का कहना है-वैदिक साहित्य के विभिन्न स्तरों में हुए विकास का निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने पर हमें इस तथ्य को प्रकट करना होगा कि विचारों के दो समानान्तर विकास हुए। एक अहिंसा के सिद्धान्त पर कठोरता से जोर देता है तथा दूसरा यज्ञीय नियमों पर बल देता है। ऋषभदेव ने जो अहिंसा का सिद्धान्त प्रचारित किया था, वह सम्भवतया आर्यों के भारत आने के पहले का है और अपने समय की प्रचलित संस्कृति[33] है। जैनधर्म के इतिहास पर लिखते हुए प्रोफेसर हीरालाल ने इसी प्रकार के

मत व्यक्त किए हैं। जैन अपने धर्म की प्राचीनता का दावा करते हैं। उनके पहले तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिनका उल्लेख विष्णु और भागवत् पुराणों में हैं। वे बहुत प्राचीन काल में हुए। प्रारंभिक ब्राह्मण साहित्य में उन धर्मों के चिह्न प्राप्त होते हैं, जो कठोरता से वेद की प्रामाणिकता का विरोध करते हैं तथा पशुबलि विषयक संस्था के विरोधी हैं। जैन परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध के समय इस धर्म का नेतृत्व नेमिनाथ करते थे, जो कि उसी यादव वंश से सम्बन्धित थे, जिस वंश से श्रीकृष्ण सम्बन्धित थे। उन्हें 22वाँ तीर्थंकर माना गया है। इस धर्म ने ईसा पूर्व 8वीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अन्तर्गत विशिष्ट शक्ति प्राप्त की। पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ[34] था। डॉ.ए.एन.उपाध्ये, जो कि प्राकृत और जैनविद्या के अपर्वू विद्वान् हैं, उपर्युक्त दर्शायें गए निष्कर्मों का समर्थन करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि को ग्रहण करते हुए जैनों के ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर इत्यादि विश्व के सबसे बड़े रहस्यवादी हुए। यह उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि भागवत् में ऋषभदेव के विषय में दिया गया विस्तृत वर्णन व्यावहारिक तथा आधार रूप से जैन परम्परा में किए गए वर्णन से सहमत हैं[35]।

कुछ दूसरे भारतीय विद्वान् हैं, जो जैनधर्म की प्राचीनता का समर्थन करते हैं। डॉ. विद्याभूषण का कहना है कि जैनधर्म की स्वयं प्रतीति सृष्टि के प्रारम्भ में होती है। मुझे यह निश्चय करने में कोई सन्देह नहीं कि जैनदर्शन[36] वेदान्त से अधिक पूर्ववर्ती है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ. एन.एस. बसुर को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि सम्भवतः ऋषभदेव सबसे पहले लेखन कला के आविष्कारक थे। ब्रह्म विद्या के प्रचार के लिए उन्होंने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया। यही कारण है कि वे 8वें अवतार के रूप में जाने गए। उनका जन्म मरुदेवी से हुआ था; जो कि भारत के राजा नाभिराय की रानी थीं। भागवत में 22 अवतारों[37] में ऋषभदेव को आठवाँ अवतार निर्दिष्ट किया है। सर्वोदय नेता विनोबा भावे ने यह खुलासा किया कि महावीर स्वामी 24वें तीर्थंकर के रूप में जाने जाते हैं। उनसे हजारों वर्ष पहले जैनधर्म ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया था। ऋग्वेद में भगवान् की प्रार्थना में कहा गया है- **अर्हन्निदंदयसे विश्वमध्वम्**। अर्थात् ओ अर्हन्! आप इस सार्थक विश्व पर दया करते हो। इनमें अर्हन् और दया ये दो शब्द जैनियों में प्रिय हैं। मेरी इस बात में सहमति है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म जितना पुराना[38] है। प्रो. जी. सत्यनारायण इस विषय में अधिक विशिष्ट हैं। उनकी दृष्टि में जैनधर्म वैचारिक भारतीय सम्प्रदायों में सबसे पुराना प्रतीत होता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने जो कहा-

उसके विरुद्ध यह उल्लेखनीय है कि जैनधर्म अपने धर्म के गौरव के साथ तथा इसके विशाल धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक साहित्य के साथ प्राचीनता की दृष्टि से बहुत आदि का है। जैनधर्म का अपना निजी इतिहास है। इसके बहुत से अनावृत भाग पर प्रत्येक वर्ष बहुत से विद्वानों की एक ताजी शोधों द्वारा भारत और बाहर रोशनी डाली जा रही है। जैनधर्म के इतिहास के स्रोत अब अधिक हैं तथा उनका स्वयं का इतिहास भी कौतूहल की दृष्टि से अधिक[39] है। मेरा अपना विश्वास यह है कि जैनधर्म द्रविड़ लोगों का धर्म था। ये लोग आर्यों से पूर्व भारत के मूल निवासी[40] थे।

विधिवेत्ता क्या कहते हैं ? - मैं विधिवेत्ताओं के निष्कर्ष को उद्धृत किए बिना इस विषय के निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। सर सी.वी. कुमारस्वामी शास्त्री; जो कि मद्रास हाई कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश थे, उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है- आधुनिक खोजों ने यह प्रदर्शित किया है कि जैन हिन्दुओं के विरोधी नहीं है, किन्तु जैनियों का उद्गम तथा इतिहास स्मृतियों तथा टीका ग्रन्थों से बहुत पुराना है; जो कि हिन्दू विधि तथा रीति रिवाजों को जानने के लिए अधिकृत माने जाते हैं। यथार्थ मैं जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर बुद्ध के समसामयिक थे तथा 527 ई. पूर्व में उनका निर्वाण हो गया था। जैनधर्म पहले के तीर्थंकरों का कथन करता है तथा इस बात पर बहुत थोड़ा सन्देह होता है कि जैनधर्म एक भिन्न धर्म है तथा ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व फलफूल रहा था। यथार्थ में जैनधर्म वेद की प्रामाणिकता का निषेध करता है, जो कि हिन्दू धर्म का मूल है तथा उन त्योहारों की फलश्रुति का निषेध करता है, जिसे हिन्दू आवश्यक मानते हैं। जहाँ तक जैन कानून का सम्बन्ध है, इसके लिए जैनों के पृथक् ग्रन्थ हैं, जिनमें एक भद्रबाहु संहिता महान् जैन आचार्य की महत्त्वपूर्ण कृति है। हेमचन्द्र द्वारा रचित 'वर्द्धमान नीति' तथा अर्हन्नीति में भी जैन विधि का विचार किया गया[41] है।

बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश रांगलेकर ने भी जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में इसी से मिलते जुले विचार व्यक्त किए हैं। बाद की ऐतिहासिक खोजों से यह सत्य सामने आया है कि जैनधर्म इस देश में ब्राह्मण धर्म से बहुत पहले उदय में आया था तथा इसका अपना क्षेत्र था तथा यह विचार करना गलत है कि जैन मूलतः हिन्दू थे और क्रमशः हिन्दूधर्म में परिवर्तित हो गए। यह भी सत्य है कि हिन्दुओं से लम्बे सम्पर्क के कारण, देश में उनका बाहुल्य होने से जैनियों ने उनके बहुत से रीति रिवाजों को तथा उन त्योहारों को अपना लिया, जो कि हिन्दुओं द्वारा कठोरता से पालन किए जाते थे तथा उनका सम्बन्ध ब्राह्मण धर्म से था। पहले के पैराग्राफ के अन्त में उन्होंने कहा था- यह

सत्य है कि जैन वेदों के आगमिक चरित्र का निषेध करते हैं। वे अन्त्येष्टि संस्कार, श्राद्ध करना तथा मृत्यु प्राप्त जीव की मुक्ति हेतु ब्राह्मण सिद्धान्तों के अनुसार किए गए तर्पणों, आहुतियों आदि का निषेध करते हैं। जैनों में यह विश्वास नहीं है कि एक पुत्र जन्म के कारण या दत्तक होने के कारण पिता को आर्थिक लाभ पहुँचा सकता है। वे हिन्दू ब्राह्मणों से इस चरित्र में भिन्न हैं, जो कि वे मृत्यु होने पर अन्त्येष्टि के बाद करते रहते[42] हैं।

हिन्दू कानून के सिखाने वालों का जैनधर्म की प्राचीनता से सम्बन्धित प्रश्न के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, जैसी उन्हें उस कानून से मतलब था जिनसे जैन व्यक्तिगत कानून से अनुशासित होते थे। मुल्ला ने जैन सिद्धान्त और जैन कानून के विषय में कहा है-जैनधर्म ईसा की बहुत सी शताब्दियों पहले फलाफूला था। जैनधर्म में बहुत से तीर्थंकरों का वर्णन है जिनमें से अन्तिम महावीर थे जो कि बुद्ध के समकालीन थे और उनका निर्वाण 527 ईसवी पूर्व में हुआ। जैनधर्म वेद की प्रामाणिकता का निषेध करता है जो कि हिन्दूधर्म का मूल है तथा वह बहुत सारे कर्मकाण्डों की सार्थकता का निषेध करता है जिसको हिन्दू आवश्यक समझते हैं[43]। सामान्य हिन्दू नियम जैनों पर उनके स्पेशल रीति-रिवाजों की प्रामाणिकता की अनुपस्थिति में प्रयुक्त किया गया। इसके लिए उन्होंने कानून में हेरफेर किया।

मेने के पास कुछ इस विषय में जोड़ने को बहुत कम था, क्योंकि उनका वाद-विवाद उस कानून से सम्बन्धित था, जो कि जैनों के विभिन्न मामलों में प्रयुक्त किया गया। उसके अनुसार जैन यद्यपि सामान्य रूप से हिन्दू कानून के अन्तर्गत निष्ठित किये गये थे; जबकि वे वेद की दैवीय प्रामाणिकता को नहीं मानते थे तथा वे मृत्यु होने पर श्राद्ध या अन्य संस्कारों को नहीं करते थे[44]।

निष्कर्ष - आधुनिक शोध करने वाले विद्वानों के द्वारा सावधानीपूर्वक किये गये विचार और खोजों के फलस्वरूप विद्वान् इस तार्किक निश्चितता के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनधर्म एक मौलिक धर्म है, जो कि आर्य पूर्व काल के प्रारंभिक समय की कल्पना तक पहुँचना है। वे प्रतिमाएं और मोहरें; जो कि हड़प्पा और मोहनजोदारो से प्राप्त हुई हैं वे इस बात को प्रकट करती हैं कि यहाँ पर ऋषभ तथा उनके चिह्न वृषभ का प्रतिनिधित्व हुआ है। इस प्रकार प्रथम तीर्थंकर की मूर्ति वृषभ चिह्न के साथ प्राप्त हुई है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व का चिह्न स्वस्तिक प्राप्त है तथा एक मुहर पर जिनेश्वर शब्द लिखा हुआ है।

जैनधर्म वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानता है तथा उसके मौलिक सिद्धान्त वैदिक परम्परा के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व तथा बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का उल्लेख हुआ है। यह वेद पूर्व का धर्म है जो भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व फलफूल रहा था।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. एस. राधाकृष्णन्, अध्यक्ष : दर्शन का इतिहास पूर्वीय तथा पश्चिमी,जिल्द-1 भारत सरकार द्वारा अनुदानित, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली
2. आरनोल्ड टायनबी ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री ,भाग-1, पृ. 86, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन
3. वही, पृ. 9
   अ. हर्मन जैकोवी स्टडीज इन जैनिज्म पेज-1 जैन साहित्य संशोधक कार्यालय, अहमदाबाद
   ब.मैक्समूलर (सम्पादक) सैक्रिड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, जिल्द-22, भाग-1, पृष्ठ 9
4. श्रीमती सिंकलेयर स्टीवेन्सन-हर्ट ऑफ जैनिज्म, हक्फ्री मिलफोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन
5. वही, पृ. 6
6. ज्योतिप्रसाद जैन - जैनधर्म सबसे प्राचीन धर्म, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, पृ. 6-12
7. जेम्स हेस्टिंग्स (सम्पादक)-एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द-7, पृ. 465.74, एडिनवर्ग-टी एण्ड टी क्लार्क 38 जार्ज स्ट्रीट, न्यूयार्क
8. श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवेन्सन-हर्ट ऑफ जैनिज्म, पृ. 5
9. वही, पृ. 6
10. बी.एन.लूनिया - भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 8
11. श्रीमती एन.आर.गुसेवा, जैनिज्म, रेडकर द्वारा-रूसी भाषा से अनुवादित, पृ. 20 सिन्धु पब्लिकेशन प्रा.लि., बॉम्बे-1
12. वही, पृ. 22
13. एस.राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग-1, पृ. 287, एनल एण्ड अनविन, लन्दन
14. जेम्स हेस्टिंग्स एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग-2, पृष्ठ 465
15. एस.राधाकृष्णन् तथा चार्ल्समूर (सम्पादक)सोर्सबुक ऑफ इण्डियन फिलोसॉफी,पृष्ठ. 6
16. श्रीमती एन.आर.गुसेवा : जैनिज्म, पृ. 2
17. वही, पृ. 2
18. राधाकुमुद मुखर्जी : हिन्दू सिविलाजेशन पार्ट-1, पेज-31, भवन्स मेहता यूनिवर्सिटी, बम्बई।
19. वही, पृ. 20-21
20. आचार्य तुलसी, श्रमण संस्कृति का प्राग्वैदिक काल में अस्तित्व, पृ. 255
21. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : जैनिज्म द ओल्डेज लिविंग रिलीजन, पृ. 50

22. श्रीमती एन.आर.गुसेवा, जैनिज्म, पृ. 25
23. ए.चक्रवर्ती : तिरुक्कुरल विद इंगलिश ट्रान्सलेशन एण्ड कमेण्ट्री एण्ड इण्ट्रोडक्शन,पेज-13, द डायोसेशन प्रेस, मद्रास
24. वही, पृ. 14
25. श्रीमती एन.आर.गुसेवा : जैनिज्म, पृ. 23
26. एस.सी.दिवाकर, रिलीजन एण्ड पीस, पृ. 63-64, 1 ऑल इण्डिया दि. जैन संघ, मथुरा
27. हीरालाल जैन : कन्ट्रीव्यूशन ऑफ जैनिज्म टू इण्डियन कल्चर, अन्नाराव मिरजी द्वारा हिन्दी से कन्नड में अनूदित, पृ. 375, 376 जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
28. एस.सी.दिवाकर : रिलीजन एण्ड पीस, पृ. 60.61
29. ज्योतिप्रसाद जैन : जैनिज्म द सोल्डेस्ट लिविंग रिलीजन।
30. वही, पृ. 20
31. मैकडानल ए. : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पेज 299
32. जे.आर.जी. फरलांग : शोर्ट स्टडीज इन द सायंस ऑफ कन्टेमपरेरी रिलीजन्स, पेज 242-244
33. एस. राधाकृष्णन् : हिस्ट्री ऑफ फिलॉसाफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, पृ. 139
34. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, भाग-1, पृ. 400,पब्लिकेशन डिवीजन गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
35. ए.एन.उपाध्ये : परमात्म प्रकाश ऑफ योगेन्दु देव (भूमिका सहित), पृ. 39 श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया आनन्द (बोरिया), गुजरात।
36. ज्योतिप्रसाद जैन : जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन ऑफ इण्डिया, पृ. 41
37. वही, पृ. 41
38. जैन जगत् (हिन्दी पत्रिका) अप्रेल, 1974, पृ. 11, भारत जैन महामण्डल, बम्बई।
39. द जैन गजट, 1916, पृ. 73
40. वही, 1943, पृ. 85
41. ऑल इण्डिया रिपोर्टर, 1927 मद्रास, पृ. 228-229 (गटप्पा वी.एस. एरम्मा)
42. वही, 1939 बम्बई, 377, 380 रावजी हीराचन्द
43. एस.टी.देशाई (सम्पादक) हिन्दू कानून के सिद्धान्त, लेखक-मुल्ला, पृ. 640 चौदहवाँ संस्करण- एन.एम.त्रिपाठी प्रा.लि. बॉम्बे 1970
44. मेने-ट्रीटीज ऑन हिन्दू लॉ एण्ड यूसेज, 11वाँ संस्करण, पृ. 83

❑❑❑

अध्याय-2

तीर्थङ्कर और भगवान् महावीर

जैन परम्परा के अनुसार काल अनन्त है। इस काल द्रव्य के कल्प या चक्र हैं। प्रत्येक कालचक्र दो आरों में विभक्त है-अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी। पहला वह आरा है जिसके मध्य सुख और अच्छाई घटती जाती है तथा दूसरा आरा वह है जिसमें पवित्रता, सत्य तथा अच्छाई धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। ये दोनों बराबर आरे छः भागों में विभाजित हैं। इनकी अवधि असमान है। इनमें से प्रत्येक के लक्षण अलग-अलग हैं।

वर्तमान आरा अवसर्पिणी कहलाता है तथा इसके छः भाग हैं-1. सुषमा-सुषमा या बड़े सुख का काल 2. सुषमा-सुख का काल 3. सुषमा-दुःखमा-सुख और दुःख का काल 4. दुःखमा-सुषमा- दुःख तथा कुछ सुख का काल 5. दुःखमा-दुःख का काल 6. दुःखमा-दुःखमा-बड़े दुःख का काल। उत्सर्पिणी काल के भाग भी विपरीत क्रम में इसी नाम वाले हैं, जो कि दुःखमा-दुःखमा से प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के प्रथम तीन और उत्सर्पिणीकाल के अन्तिम तीन सुख के काल हैं। सृष्टि के प्रारंभ के समय मनुष्य न तो कला जानता था, न व्यवसाय, न कृषि। वह पूरी तरह से फल और कन्द को भोजन के रूप में ग्रहण करता था तथा वस्त्र के रूप में पत्तियाँ और पेड़ की छाल ग्रहण करता था। अतः वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते थे, क्योंकि उनसे सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। इस युग के बाद कर्म भूमि का प्रारंभ हुआ, जिसमें कठिन परिश्रम करना होता है। यह परम्परा आधुनिक खोजों से सुनिश्चित हुई है; जो यह बतलाती है कि हथियारों और कृषि के आविष्कार से पहले मनुष्य फलों तथा पेड़ों की जड़ों पर निर्भर रहता था।

विकास धीरे-धीरे हुआ। इस काल में चौदह कुलकर एक के बाद एक हुए। ये वे बुद्धिमान् व्यक्ति थे जो जगत् में उन्नतिशील परिवर्तन के लिए उत्तरदायी थे। नई

मेधा और कलाओं का आविष्कार हो रहा था, रहने की कला में क्रमशः प्रादुर्भूत हो रहा था।

प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्विन्, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुद्देव, प्रसेनजित ये मनु या बुद्धिमान मनुष्य हुए, जो मानवता के लिए लाभकारी सिद्ध हुए। उन्होंने न केवल आराम से रहने का रास्ता बताया अपितु मनुष्यों को नैतिकता और अच्छाई के प्रारंभिक नियमों का ज्ञान कराया।

ऋषभ- अन्तिम मनु नाभि के एक पत्नी थी, जिसका नाम मरुदेवी था। उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम ऋषभ था। जैन परम्परा ऋषभ को पहला तीर्थंकर मानने में एक मत है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है-

येन प्रणीतंप्रथुधर्मतीर्थम्।

ज्येष्ठं जनः प्राप्य जयन्ति दुःखम्॥

तीर्थंकर वह है जिसने सर्वोच्च धर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया; जिसकी सहायता से मनुष्य अपने दुःख को जीत सकते हैं। वे अरिहन्त भी कहलाते हैं। अरिहंत वे कहलाते हैं जिन्होंने विषय वासनायें तथा लोभ आदि को जीत लिया है तथा घातिया और अघातिया सभी कर्मों को जीत लिया है। अरिहन्त को अर्हत भी कहते हैं जो आदर के योग्य हैं। यूरोपियन विद्वानों ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार से की है। तीर्थंकर को मतलब होता है एक पवित्र गुरु अथवा तीर्थंकर का निर्माण करने वाला तथा सब कठिनाईयों को दूर करने वाला जो कि मोक्ष के मार्ग में आती हैं अथवा तीर्थंकर का अर्थ खेवटिया होता है जो सत्ता के पार ले जाता है। ऋषभ का ही प्रतीक वृषभ था। चूँकि उन्होंने मनुष्यों को सिखाया कि गन्ने की पैदावार कैसे करनी चाहिए ? उनका वंश इक्ष्वाकुवंश के रूप के रूप में जाना गया उन्होंने मनुष्यों को जानवरों का पालन बनाने की कला सिखाई तथा भूमि को जोतने के लिए बैलों का उपयोग करना बताया। उन्होंने अहिंसा और सत्य की स्थापना की और उसका पालन किया। उन्होंने समाज को तीन व्यवसायिक वर्गों में संगठित किया- कृषक, वणिक् तथा सैनिक। अन्तिम वर्ग योग्य शरीर वालों पर ही निर्भर था, जो देश की रक्षा कर सकें तथा समाज में नियम स्थापित रख सकें। उन्होंने अनेकों वर्षों तक अपने राज्य का शासन किया। उनके बहुत से पुत्र थे, उनमें भरत और बाहुबली अच्छी तरह जाने जाते हैं। उन्होंने अधिक पवित्रता और शुद्धता का जीवन बिताया।

तथ्य के रूप में भगवान् ऋषभदेव ने नागरिक जीवन की आधारशिला रखी और मनुष्यों को यह पढ़ाया कि पारस्परिक लाभ के लिए कैसे एक दूसरे का सहयोग लेना चाहिए। उन्होंने मनुष्यों को 72 कलाएं सिखायीं तथा स्त्रियों को 64 ललित कलाएं सिखायीं, जिनमें लेखन,चित्रकला तथा संगीतकला सम्मिलित थे। उनकी सांसारिक शिक्षाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था अनाज की खेती करना तथा मिट्टी के बर्तन बनाना। प्रो. लोथर बेन्डल इसी कारण उनको कृषि का जनक और संस्कृति का जनक ठीक ही कहते हैं। उनकी सबसे बड़ी प्राप्ति आत्मा की पहचान थी जो कि जीवन की पवित्रता का आरंभिक मूल है तथा अहिंसा का प्रकाशन करने का भी मूल है। उनका जीवन जैनियों के महापुराण और पद्मपुराण में दिया गया है तथा उसकी पुष्टि हिन्दुओं के पुराणों जैसे भागवत् तथा शिव पुराण से होती है। जब ऋषभ अपने राज्य का पालन प्रजा को प्रसन्न और सौद्देश्य बनाने के लिए कर रहे थे तब एक महत्त्वपूर्ण बड़ी घटना घटी। जब एक दिन वे अपने सभा में बैठे हुए थे तब नीलांजना नाम की एक नर्तकी नृत्य करने के लिए लायी गयी। उसने संगीत की ध्वनि के साथ जब नृत्य करना आरम्भ किया तथा जब अपनी उत्तम कला को चरम बिन्दु पर पहुँचाने वाली थी तब एकाएक वह गिर पड़ी तथा उसने अन्तिम सांस ली। यह घटना जीवन की अनिश्चितता तथा क्षणिकता को सुनिश्चित करने के लिए काफी थी उन्होंने संसार को छोड़ने का निश्चय किया। ऋषभ ने भरत को अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुकुट पहनाया। उन्होंने बाहुबली सहित समस्त पुत्रों में अपना राज्य विभाजित कर दिया। भरत के स्मरणीय राज्य के कारण से भारत ने प्रसिद्ध नाम भारतवर्ष पाया। ऋषभ ने उन सभी चीजों का पालन किया जो कि श्रमण के जीवन में आवश्यक थीं। वे कैलाश पर्वत पर गये जहाँ पर उन्होंने एक नग्न मुनि के रूप में तप किया। उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की तथा अहिंसा, प्रेम और सत्य के धर्म का प्रचार किया। उनके 84 गणधर थे, जिन्होंने उनके उपदेशों की जनता में व्याख्या की। भरत के पुत्र ऋषभसेन तीर्थंकर के पहले आध्यात्मिक दूत (सन्देश प्रेषक) थे। सोमप्रभ तथा श्रेयांस राजा के यहाँ हस्तिनापुर स्थान पर लम्बे उपवास के बाद उन्होंने आहार ग्रहण किया। वे भी उनके धर्म प्रचारक हुए। उनकी सबसे बड़ी पुत्री ब्राह्मी ने सबसे पहले संन्यास धारण किया तथा वह आर्यिका बन गयी। उनकी द्वितीय पुत्री सुन्दरी आर्यिका संघ में सम्मिलित हो गयी। यह परम्परा के अनुसार उल्लेखनीय है कि ऋषभदेव को लिपि विद्या का अपनी पुत्रियों को सिखाने का श्रेय जाता है। इसी कारण वह लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से जानी जाती है। विष्णुपुराण तथा वायु पुराण में यह कथन किया गया है कि ऋषभदेव ने अहिंसा के संदेश का प्रचार किया। इससे यह बात सिद्ध है कि

हिन्दुओं में भी तीर्थंकर का आदर था। अपने धर्म का प्रचार करने के बाद (जो कि 'जिनों का धर्म' नाम से जाना गया) वे हिमालय की शाखा कैलाश पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए। उन्होंने अघातिया कर्मों का नाश कर दिया था। उनका निर्वाण माघ कृष्ण चतुर्दशी को हुआ। हड़प्पा तथा मोहनजोदारो की खुदाई में जहाँ पर कायोत्सर्ग नग्न मुद्रा में मोहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर बैल प्रतीक भी पाया गया है उनका सन्दर्भ हम पहले ही दे चुके हैं। बहुत सारी उपलब्धियों से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता अहिंसक संस्कृति तथा आर्यपूर्व सभ्यता थी जो कुछ वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, उनमें शस्त्रों का अभाव यह सूचित करता है कि वहाँ युद्ध नहीं हुए थे तथा राज्य का प्रशासन अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित था। यह शुभ लक्षण है कि इस प्रकार की स्थापत्यीय खोजों तथा दूसरे प्रकार के प्रमाण धीरे-धीरे जैन परम्परा तथा इसकी प्राचीनता के पक्ष में जा रहे हैं। जैन मन्दिर एक या अधिक तीर्थंकरों को समर्पित हैं। जहाँ पर वे आदर्श के रूप में पूजे जाते हैं। उनकी प्रतिमाएं गर्भगृह में रखी गयी हैं। ये प्रतिमाएं ज्यादातर खड्गासन या खड़ी हुई मुद्रा में हैं अथवा पद्मासन (बैठी हुयी मुद्रा) में हैं। चूँकि तीर्थंकरों की समस्त प्रतिमाएं मानवीय रूप में उत्कीर्ण हैं अतः एक जैसी दिखाई देती हैं। अतः उनको उनके चिह्न से पहचाना जाता है। वर्तमान कालचक्र में चौबीस तीर्थंकर थे; जिनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार हैं-

क्र.	नाम	पिता	माता	जन्मस्थान	चिह्न	चित्र
1.	ऋषभ	नाभिराय	मरुदेवी	अयोध्या	बैल	
2.	अजितनाथ	जितशत्रु	विजयादेवी	अयोध्या	हाथी	
3.	संभवनाथ	जितारि	सेना	श्रावस्ती	घोड़ा	
4.	अभिनन्दननाथ	संवर	सिद्धार्थ	अयोध्या	बंदर	
5.	सुमतिनाथ	मेघप्रभ	सुमंगला (मंगला)	अयोध्या	चकवा	
6.	पद्मनाथ	धरण	श्रीधरा (सुसीमा)	कोशाम्बी	लालकमल	
7.	सुपार्श्वनाथ	सुप्रसिद्ध	प्रतिष्ठा (पृथ्वी)	काशी	स्वस्तिक	
8.	चन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मण	चन्द्रपुरी	अर्धचन्द्र	
9.	पुष्पदंत (सुविधिनाथ)	सुग्रीव (सुप्रिय)	रामा	काकन्दी	मकर	

10. शीतलनाथ	दृढ़रथ	सुनन्दा (नंदा)		भद्रिकापुरी
कल्पवृक्ष				
			(भद्रिल्ल)	(श्रीवत्स)
11. श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णुद्री (विष्णा)	सिंघपुरी	गेंड्रा
12. वासुपूज्य	वसुपूज्य	विजया (जया)	चम्पापुरी	भैंसा
13. विमलनाथ	कृतवर्मन्	सुरम्या (श्यामा)	कांपिल्य	शूकर
14. अनन्तनाथ	सिंघसेन	सर्वयशा, जयश्यामा	अयोध्या	भालू
15. धर्मनाथ	भानु	सुव्रता	रत्नपुरी	वज्रदंड
16. शान्तिनाथ	विश्वसेन	ऐरादेवी	हस्तिनापुर	बकरा
18. अरनाथ	सुदर्शन	मित्रादेवी	हस्तिनापुर	मत्स्य
19. मल्लिनाथ	कुम्भराय	रक्षिता (प्रजावती)	मिथिलापुरी	जलपात्र (झारी)
20. मुनिसुव्रत	सुमित्र	पद्मावती	कुशाग्रनगर या राजग्रह	कछुआ
21. नमिनाथ	विजय	वप्रा (विप्रा)		मिथिलापुरी
नीलकमल				
			(मथुरा)	
22. नेमिनाथ	समुद्रविजय	शिवादेवी	शौरीपुर या द्वारका	शंख
23. पार्श्वनाथ	अश्वसेन	वामादेवी	काशी	सर्प
24. महावीर या वर्धमान	सिद्धार्थ	प्रियकारिणी (त्रिशला)	कुण्डलपुर (कुंडग्राम)	सिंह

ऋषभ, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर को छोड़कर सभी तीर्थंकरों ने सम्मेदशिखर (आधुनिक पारसनाथ); जो कि बिहार में है; से निर्वाण क्रमशः कैलाशपर्वत, चम्पापुरी, गिरनार पर्वत तथा पावापुरी से हुआ।

यह सारिणी जे.एल.जैन द्वारा लिखित 'आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म' के अन्तिम अध्याय से उद्धृत की गयी हैं।

महापुराण में उनके वंश, गर्भ में आने का समय प्रत्येक की माता के स्वप्न (गर्भकल्याणक), जन्म (जन्म कल्याणक), सिंहासनारोहण, राज्यारोहण, दीक्षा (दीक्षाकल्याणक) तथा निर्वाण प्राप्ति (मोक्ष कल्याणक) का विस्तृत वर्णन है। इन्द्र के नेतृत्व में देवों ने सक्रिय रूप से प्रत्येक कल्याणक में भाग लिया। प्रत्येक तीर्थंकर के पूर्वभवों में वे मनुष्य या तिर्यंच थे। इन सब भवों का निर्वाण प्राप्ति तथा जिन होने तक का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम तीर्थंकर की ऊँचाई बहुत बड़ी थी तथा उनका जीवन लाखों वर्षों से अधिक था। प्रत्येक तीर्थंकर की माँ ने जो स्वप्न देखे थे। उनका पुराणों में अन्तर्निहित है; जो माता-पिता को इस बात से प्रभावित करता है कि उनके एक पुत्र होगा जो जिन होगा तथा वह तपोमय शुद्ध जीवन पवित्रता से बितायेगा जो कि उनके जीवन में अनिवार्य है। पाँचों अवसरों पर पूजा और महोत्सव पंचकल्याणक कहलाते हैं। संभवतः ये मनुष्यों में जागृति पैदा करने के लिए किये जाते हैं तथा विश्व को यह उद्घोष करते हैं कि एक नये गुरु का आगमन हुआ है। जीवन और काल के वर्णन का इरादा अनुयायियों पर यह प्रभाव डालने के लिये है कि प्रत्येक जिन शारीरिक और आत्मिक अत्युच्चता को प्राप्त कर चुका है। यह अनुरूप नहीं है कि कवि ने अपने मस्तिष्क में अत्यधिक शक्ति और पौरुष का प्रत्यक्षीकरण किया था अतः उन्होंने अपने कवित्वमय वर्णनों में प्रत्येक जिन में वह आरोपित कर दिया। इस प्रकार उनकी दैवीय महानता (दीप्ति) को वैश्विक सत्ता के माध्यम से इस प्रकार अपने पाठकों को प्रभावित किया। भावावलि या पूर्वभवों तथा निर्वाण का इतिहास सीखने का इरादा इस बात पर जोर देने के लिए है कि कर्म के नियम प्रत्येक जीव के संचालन के लिए कठोर हैं। चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यों न हो, उसे अनिवार्य रूप से यह अनुभव करना होगा।

प्रत्येक तीर्थंकर के इतिहास का वर्णन करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त इनमें से अनेकों का इतिहास अब भी पुराणों के आवरण में ढका हुआ है। यह सोचना बहुत अधिक हठधर्मी होगी कि समस्त तीर्थंकर पौराणिक थे; क्योंकि कम से कम अन्तिम तीन की ऐतिहासिकता अब स्वीकार कर ली गयी है। इसके बावजूद भी करीब 50 वर्ष पहले बहुत से विद्वानों ने यह मताग्रह किया था कि महावीर जैनधर्म के संस्थापक थे अतः मैं उन्हीं लोगों को संदर्भित करता हूँ जो कि ऐतिहासिक वातावरणों के कहे जाते हैं।

मुनिसुव्रत- भगवान् मुनिसुव्रत बीसवें तीर्थंकर हैं जिनका जन्म वैसाख कृष्ण द्वितीया को हुआ था। वे राजगृह या कुशाग्रनगर में जन्में थे। उनके पिता सुमित्रराज थे। पद्मावती उनकी माता का नाम था। उनका प्रतीक कछुआ था। उन्होंने फाल्गुन वदी द्वादशी को पार्श्वनाथ पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। डॉ. कामताप्रसाद जैन ने ऋग्वेद (2-3-27-32) में कूर्म ऋषि के नाम का निर्देश किया था। उनके उपदेश संभवतः इन तीर्थंकर के अनुरूप हैं। इनका उल्लेख कूर्मपुराण में भी है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है[2]।

अरिष्टनेमि या नेमिनाथ - ऋग्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख है जैसा कि हम पहले कथन कर आये हैं। उनका जन्म शौरीपुर में श्रावक शुक्ल द्वितीया को हुआ था उनके पिता समुद्रविजय थे जबकि उनकी माँ का नाम शिवादेवी था। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव समुद्रविजय के छोटे भाई थे। वे यादव क्षत्रिय कुल के थे। जैन पुराण के अनुसार राजा उग्रसेन की एक पुत्री थी। उसका नाम राजमती था। यह तय किया गया था कि नेमिनाथ का विवाह राजमती के साथ होगा। अतः जब वे अपने ससुर के घर उत्सव के साथ जा रहे थे तब उन्होंने कुछ पशुओं की आवाज सुनी तथा उन्हें स्तम्भों से बँधा हुआ देखा। जब उन्होंने दूसरों से प्रश्न किया तब उनसे कहा गया कि कुछ राजा जो कि अतिथि के रूप में शादी के समय उपस्थित हो रहे हैं, उनके भोजन के लिये ये पशु मारे जाने का इरादा हुआ है। उनका हृदय दया से भर गया तथा उन्होंने अपना रथ पीछे मुड़वा दिया। उन्होंने संसार त्याग कर दिया तथा श्री कृष्ण और दूसरे रिश्तेदारों के द्वारा अनुनय किये जाने पर भी संन्यास स्वीकार कर लिया। जब राजमती को घटनाओं के बदलाव के विषय में जानकारी हुई तो उसने स्वयं अपना राजसी जीवन त्याग दिया और आर्यिका हो गयी उसने दया धर्म, आत्म संयम तथा त्याग धर्म का मगध, पल्लव आदि राज्यों में प्रचार किया। बाद में वे गिरनार लौट आये और कठोर तपस्या के बाद उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। वेदों में अरिष्टनेमि का उल्लेख होने का संदर्भ पहले दिया जा चुका है; जो इन तीर्थंकर की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं करते हैं। डॉ.प्राणनाथ जिन्होंने बेबीलोनिया के राजा नेबुदनेचर प्रथम (1140 ई.पू.) का नाम एक ताम्रपत्र पर पढ़ा, वह प्रकाशित हो चुका है। उसमें कहा गया कि वह राजा रेवत पर्वत पर गया और उसने अपनी श्रद्धा भगवान नेमिनाथ को अर्पित की[3]। डॉ. फुरहर ने मथुरा में पुरातात्त्विक खोजों के अध्ययन के आधार पर घोषित किया कि नेमिनाथ ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे[4]। डॉ. कामताप्रसाद का कहना है कि इंडोसीथियन काल के कुछ शिलालेखों में इन तीर्थंकर का सन्दर्भ दिया है[4]। महाभारत के आदिपर्व में कहा गया है कि यह महाकाव्यीय युद्ध कलि संवत् के

प्रादुर्भाव जो कि 3101 ई.पू. में हुआ था; में सम्पन्न हुआ था। नेमिनाथ श्री कृष्ण के ताऊजात भाई और समसामयिक थे। यद्यपि उन्होंने महाभारत जैसे युद्ध में भाग नहीं लिया था। जैनपुराण पार्श्वनाथ से 2750वर्ष पहले उनका निर्वाण मानते हैं। यह गणना महाभारत युद्ध की गणनाओं से मिलती-जुलती है। जब तक दूसरा प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाता तब तक भगवान् नेमिनाथ की ऐतिंहासिकता को जानने के लिये यह गलत नहीं होगा। इस सन्दर्भ में डॉ. आर. विलियम्स के द्वारा रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका के अप्रेल 1966 के अंक का प्रकाशन उल्लेखनीय है। उनके मत में नेमिनाथ परम्परानुमोदित काल की भूमिका से उसी प्रकार प्रकट हुये जिस प्रकार कि पार्श्व दृश्य से स्पष्ट रूप से पार्श्वनाथ प्रकट हुये थे।

पार्श्वनाथ - नेमिनाथ के बाद भगवान् पार्श्वनाथ हुए जो कि 23वें तीर्थंकर हैं। वे वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। उनकी माँ का नाम ब्राह्मी था उनका जन्म पौष माह के कृष्ण पक्ष की एकादशी को 1039 ई.पू. में हुआ था। परम्परानुसार उनका जन्म नेमिनाथ भगवान् के निर्वाण के 2750 वर्ष बाद हुआ था। वे उग्रवंश तथा कश्यप गोत्र के थे। उनका राजचिह्न फण फैलाया हुआ नाग था। वे एक बड़े सुधारवादी थे तथा गौरवपूर्ण व्यक्तित्व के थे। यहाँ तक कि वे बचपन से दया से भरे हुए थे। प्रत्येक बड़े व्यक्तित्व को कुछ घटनाओं से जोड़ना यद्यपि साधारण है, किन्तु वह उनकी नायक शक्ति या दैवीय प्रकृति के विषय में कहता है।

यह कहा गया है कि जब राजकुमार 30 वर्ष के थे तो उन्होंने साकेतपुर के राजा देवसेन के विषय में सुना जो कि भगवान् ऋषभदेव का पंचकल्याणक पूजा का उत्सव मना रहे थे। वे यहाँ पर गये तथा उन्हें ज्ञात हुआ कि किस प्रकार भगवान् ने संसार त्याग कर दिया था। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन क्षणभंगुर है तथा धर्म के नाम पर हिंसा हो रही है। उन्होंने संसार छोड़ने का निश्चय किया। उनके पिता को इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने जीवन की बुराईयों के विषय में उन्हें सलाह दी तथा सही संन्यास की महत्ता के विषय में बतलाया। वे वन में गये। वहाँ जाने पर उन्होंने समस्त गहने और वस्त्र अलग कर दिये। उन्होंने अपने बालों को अपने ही हाथों अलग कर दिया तथा एक श्रमण के समस्त नियमों का पालन करने लगे। उन्होंने उपवास और तप किये। उन्होंने मनःपर्ययज्ञान या दूसरे के विचारों को पढ़ने का ज्ञान प्राप्त किया । उन्होंने समस्त स्नेह त्याग दिया तथा शुद्धता को विकीर्ण कर दिया। यह कहा जाता है कि जब वे ध्यान में गहराई से लवलीन थे तब संवरदेव जो कि पहले राजा महीपाल था उसने सघन वर्षा प्रारंभ की तथा कष्ट

होने के कारणों की वह कोशिश करने लगा। नाग-धरणेन्द्र तथा पद्मावती का युगल इसे जानने के लिए आये तथा भगवान् के ऊपर उन्होंने अपने फण फैला दिये जो कि की गई घटनाओं से अविचलित थे। यह कहना उचित होगा कि भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर एक नाग छत्राकार फण फैलाये हुए रहता है। नाग उनका प्रतीक चिह्न है।

अपने ऊपर पूरा नियंत्रण रखते हुए पार्श्वनाथ ने अपना तप निराबाध जारी रखा तथा उन्होंने अपने आप पर पूरा नियंत्रण रखा। अन्त में जब वे शुक्लध्यान में लीन हो गए। जब उन्होंने चैत्र कृष्ण चतुर्थी को केवलज्ञान प्राप्त किया, तब उन्होंने जिनों का सन्देश प्रचारित करना आरंभ किया तथा समस्त जनों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का व्रत पालन करने का आह्वान किया। वह देश के विभिन्न स्थानों में गए। जैसे-काशी, कौशल, मगध, कलिंग तथा पंचाल इत्यादि। 60 वर्ष 8 माह की अवस्था तक धर्म प्रचार करते हुए वे सम्मेदगरि पर गए और तप में लवलीन हो गए। जब उनकी आयु एक सौ वर्ष की हो गई तो श्रावण शुक्ल सप्तमी 939 ई. पूर्व में निर्वाण प्राप्त किया। सम्मेदगिरि (सम्मेदशिखर) जो पहले 19 तीर्थंकरों के निर्वाण प्राप्ति के कारण प्रसिद्ध हुआ था, पार्श्वनाथ पर्वत कहलाने लगा, जो कि आजकल जैनों का सबसे पवित्र स्थान माना जाता है।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के विषय में विवाद नहीं है, जैसा कि जैकोबी ने कहा है। उनके जीवन के दृश्य उड़ीसा में खण्डगिरि- उदयगिरि की गुफाओं में शिल्पांकित हैं। वे द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के हैं। इण्डो-सीथियन युग का जो शिलालेख मथुरा में पाया गया है, वह भी उनकी ऐतिहासिकता की स्थापना करता है। डॉ. जिम्मर ने कहा है-पार्श्वनाथ की सबसे अधिक चौंकाने वाली वे जैन प्रतिमायें है, जिनमें पार्श्वनाथ के कन्धों पर दो नाग फण फैला रहे हैं। ये मूर्तियाँ पुरानी मैसोपोटामिया की कला से कुछ कुछ सम्बन्धित हैं तथा इन प्रतीकों की बहुत प्राचीनता का सुझाव देती हैं, जो कि जैन संस्कृति में संयोजित किए गए।

पार्श्वनाथ के द्वारा जिस धर्म का प्रचार किया गया, वह उनके पूर्ववर्तियों से अधिक वृहत् था। पार्श्व के अनुयायी केशी तथा वर्द्धमान के अनुयायी गौतम के बीच जो संवाद हुआ, जिसका कि उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र में है, उससे यह बात प्रतीत होती है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये रत्नत्रय जैनधर्म के सदैव से भाग रहे हैं। पार्श्वनाथ ने केवल चातुर्याम धर्म का प्रचार किया। ब्रह्मचर्य को उन्होंने अपरिग्रह में जोड़ दिया। पार्श्वनाथ ने अधोवस्त्र और उत्तरीय की अनुमति दे दी। गौतम की व्याख्या

यह है कि तीर्थंकर धर्म के नियमों का निर्वाह करते हुए जो आवश्यक है, उसका सुनिश्चय करते हैं[8]। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्त्र का प्रश्न उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया, जितनी कि आन्तरिक पवित्रता मानी गई। यह बात जानी गई कि प्राचीन तीर्थंकरों ने दोषों के प्रायश्चित स्वरूप सामायिक संयम का उपदेश दिया, जबकि पार्श्व ने गलत कार्यों की व्यर्थता आत्मिक उत्थान के लिए प्रतिपादन की तथा आत्म साक्षात्कार के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आवश्यकता पर जोर दिया।

भगवान् महावीर - महावीर चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम थे। अब इस बात में कोई विवाद नहीं रह गया है कि वे जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे। महावीर का जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को 599 ईसा पूर्व में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ थे, वे वैशाली के कुंडग्राम में क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। उनकी माँ त्रिशला थी जो कि लिच्छवि वंश के राजा चेटक की पुत्री थी। उसका दूसरा नाम प्रियकारिणी था। एक दूसरी परम्परा है जो यह कहती है कि वह चेटक की पुत्री थीं। उनके माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। बालक का सबसे पहले नाम वीर रखा गया किन्तु उनके जन्म से लेकर राज्य में समृद्धि अधिक बढ़ गयी; इस कारण वे वर्धमान कहलाये। कुछ धार्मिक पुस्तकों में उन्हें ज्ञातृ पुत्र कहा गया। बौद्ध साहित्य में उन्हें नात पुत्र कहा गया है। परम्परा के अनुसार जन्म से उन्हें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान था। इस प्रकार वे समस्त बौद्धिक और आध्यात्मिक वरदानों के साथ जन्मे थे जिस कारण वे बहुत बड़े धार्मिक गुरु के रूप में चिह्नित किये गये। वे राजकुमार के रूप में शिक्षित हुए। उन्हें वरद व्यक्तित्व प्राप्त था तथा उनकी मेधा तीक्ष्ण थी। ऐसा कहा जाता है कि संजय और विजय नामक मुनि जिन्होंने उनके विषय में सुना था, उनकी महानता से अपने सन्देह दूर करना चाहते थे। अतः वे उनके दर्शन के लिए गये किन्तु जब उन्होंने उन्हें यथार्थ रूप में देखा तो उनके सारे सन्देह दूर हो गये। इस कारण से उन्होंने उनको सन्मति कहा। यद्यपि उनका जन्म राजकीय वंश में हुआ था किन्तु उन्हें शक्ति साधन के प्रति प्रेम नहीं था। उन्होंने इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव किया कि प्रत्येक जीवधारी में आत्मा है उन सब में अपने ही समान शक्ति है। उनकी प्रत्येक जीवधारी प्राणी के प्रति पूरी कृपा और प्रेम था। उनके लिए भौतिक सुख के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। उनके लिए आत्म संयम जीवन का एक मार्ग था। उनका स्वभाव मधुर था तथा किसी के प्रति उनके मन में दुर्भाव नहीं था। उनके विषय में दो प्रसिद्ध कथाएं हैं जिनके विषय में संक्षिप्त रूप से कहा जाता है-पहली कथा है कि जब वे महल में थे तब उन्होंने देखा कि मनुष्य भय के कारण हड़बड़ी में भाग रहे

हैं। जब वे बाहर आये तो उन्होंने देखा कि एक राजकीय हाथी नागरिकों को डराता हुआ पागल की तरह भाग रहा है। वे फौरन ही दौड़े। हाथी की सूँड़ पकड़ ली और थोड़े ही समय में उसको शान्त कर दिया। उनका आश्चर्य जनक उत्साह और आद्रमनियंत्रण नागरिकों के लिए प्रशंसा का विषय था इसी प्रकार जब वे एक बार में अपने मित्रों के साथ घूम रहे थे तब उन्हें डराता हुआ एक कोबरा दिखाई दिया जिससे लोग भागने लगे। जब दूसरे भाग रहे थे तब राजकुमार शांत चित्त थे और जब नाग उनके समीप आया तब उन्होंने उसे पकड़ लिया और वे अपने मित्रों को चकित करते हुए उसके फण पर नाचते रहे। इस प्रकार की कहानी श्रीकृष्ण के विषय में भी आती है। यह कहा जाता है कि उनकी बहादुरी का यह एक वर्णन है इन्हीं सब कारणों से वह महावीर कहलाए।

महावीर इस प्रकार समस्त उपलब्धियों सहित तथा साहसपूर्वक सुन्दर युवावस्था को प्राप्त हुए। जब वे करीब 28 वर्ष के थे तब उनके माता-पिता ने स्वाभाविक रूप से उनके विवाह के विषय में सोचा । इस बिन्दु पर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में कुछ अन्तर है। पहली (दिगम्बर) परम्परा का कहना है कि महावीर ने विवाह से मना कर दिया क्योंकि आत्मिक रूप से उन्होंने यह निश्चय कर लिया था। वे यह मानते थे कि विवाह आध्यात्मिक उन्नति में बाधा है। उनके जीवन के विषय में श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि उनका विवाह कलिंग राजकुमारी यशोदा के साथ हुआ था तथा उनके एक पुत्री भी थी जिसका विवाह जामाली के साथ हुआ था । जामाली उनका शिष्य था किन्तु कुछ समय बाद वह उनसे अलग हो गया।

दोनों परम्पराओं के अनुसार महावीर ने प्रव्रज्या ले ली जबकि वे 30 वर्ष के थे तब तक उनकी माता की मृत्यु हो गयी थी। उन्होंने उनका धन दान में वितरित कर दिया। वे वन की ओर चले गये। जहाँ उन्होंने अपने वस्त्र फेक दिये तथा अपने हाथों केशलोंच कर दिया। उन्होंने अपना अधिकांश समय गुफाओं और जंगलों में तप करते हुए बिताया। वे पहाड़ों तथा उनकी चोटियों पर भी रहा करते थे। ग्वाले उन्हें प्रायः परेशान करते थे तथा अज्ञानी व्यक्ति उन्हें पीड़ा देते थे और बुरा व्यवहार करते थे। ऐसा कहा जाता है कि जब वे तप में लवलीन थे तब एक किसान ने उनसे अपने पशु देखते रहने के लिए कहा तथा भोजन करने के लिए वह अपने गाँव चला गया। जब वह लौटा तो उसे अपने पशु नहीं मिले। उसने अपने पशुओं के न मिलने का कारण संत को माना उसने उन्हें पीटा किन्तु जब उन्होंने उन्हें अविचलित और मुस्कुराते हुए देखा तो उसे अपनी भूल महसूस हुई तथा उनसे क्षमायाचना की। महावीर ने 4 दिन के एक साथ उपवास किये तथा वे

ध्यान में लवलीन रहे। उन्हें अपने शरीर, मन और वाणी पर पूरा संयम था तथा वे आत्मशुद्धि पर पूरा जोर लगा रहे थे जो कि शरीर से आत्मा की मुक्ति के लिए परमावश्यक है। उन्हें सामाजिक स्तर का विशेषध्यान नहीं था तथा वे ऊँच और नीच के भेद से अपरिचित थे। एक बार उन्होंने चन्दना नामक एक युवती के हाथ से आहार ले लिया जो कि वृषभदत्त नामक एक धनी व्यक्ति के घर पर दासी थी। वह हृदय से तथा चारित्र से शुद्ध थी। उन्होंने यह कार्य तब किया जबकि बहुत से धनी व्यक्ति उन्हें आहार देना चाह रहे थे। इस प्रकार उदाहरण के द्वारा उन्होंने जन्म और स्तर पर आधारित भेदभाव को समाप्त किया।

उन्होंने बारह वर्ष तप करने और गहरा ध्यान लगाने में व्यतीत किए। वे जृम्भिक ग्राम या आधुनिक झरिया में गए तथा ऋजुकूला नदी के किनारे एक शालवृक्ष के नीचे बैठ गए। वे शुक्ल ध्यान में लीन हो गए तथ चार घातिया कर्मों का विनाश कर दिया। ये चार कर्म थे-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। वह तिथि वैशाख शुक्ल दशमी की थी, जब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

जब पूजनीय साधु महावीर जिन या अर्हत् हो गए तब वे समस्त वस्तुओं का साक्षात्कार करने वाले केवली हो गए। उन्होंने विश्व की समस्त दशाओं को जाना और देखा था। वे देव, मनुष्य और राक्षसों को जानते देखते थे। उनके मस्तिष्क के विचारों, आहार, कार्य, इच्छाओं तथा खुले और गोपनीय कार्य के विषय में वे जानते देखते थे। अर्हत् के लिए कोई गोपनीय नहीं होता है। उन्होंने संसार के लोगों की समस्त दशाओं को जाना, देखा कि वे क्या सोचते हैं, बोलते हैं तथा एक क्षण में क्या करते हैं ?

यह जानने के बाद भगवान् ने सर्वज्ञता प्राप्त की। बहुत सारे व्यक्ति अर्हत् की पूजा करने के लिए एकत्रित हुए। उनमें इन्द्रभूति गौतम भी था, जो कि वैदिक शास्त्रों का प्रतिष्ठित विद्वान् था। राजगृह के निकट, विपुलाचल पर भगवान् का प्रथम उपदेश हुआ। श्वेताम्बरों का कहना है कि पावानगर के पास दिया गया, जहाँ उन्होंने मन्दिर बनवाया है। प्रथम उपदेश को सुनकर इन्द्रभूति के सारे संशय दूर हो गए और उन्हें नया ज्ञान प्राप्त हुआ। वे और उनके अनुयायी, जिनमें उनके भाई अग्निभूति और वायुभूति भी थे, ने श्रमण दीक्षा की याचना की और वे दीक्षित हो गए। इन्द्रभूति गौतम पहला गणधर हुआ, उसने उसके उपदेशों की व्याख्या की। इस घटना से मगध में आध्यात्मिक विचार के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति हुई।

महावीर ने अहिंसा, सत्य, आत्म संयम, स्वयं विनय तथा स्वयं ज्ञान जैसे सिद्धान्तों का प्रचार आरंभ किया जिससे मनुष्य मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। उन्होंने बारह वर्ष में जो अनुभव प्राप्त किया था, उसका प्रचार किया था। बारह वर्षों के तपःकाल में उन्होंने अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लिया था। जाति और धर्म को ध्यान में न रखकर मनुष्यों की बहुत बड़ी भीड़ उनके उपदेशों को सुनने के लिए एकत्रित हो गई। जैन परम्परा के अनुसार उनके उपदेशों की सभा को समवसरण (जहाँ सभी अपने को समान समझें) के रूप में जाना गया। उन्होंने अपने वर्षावास अनेक स्थानों पर बिताये। जैसे- वैशाली, राजगृह, नालन्दा, मिथिला तथा श्रावस्ती। हजारों मनुष्य; जो कि आध्यात्मिक ज्ञान के पिपासु थे, भगवान् के चरणों में आ गए। उन्होंने अपना वर्षाकाल पावापुर में बिताया, जहाँ उन्होंने अमावस्या के दिन अंतिम साँस ली, जब कि प्रातःकाल से तप में लीन थे। उन्होंने अपने अघातिया कर्मों का विनाश किया और कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन प्रातः काल निर्वाण प्राप्त किया। वह समय 527 ईस्वी पूर्व का था उन्होंने अपने आप को जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु के बन्धनों से मुक्त कर लिया। वे पूरी तरह से मुक्त हो गये। काशी, कौशल और वैशाली के राजाओं ने उस दिन प्रकाशोत्सव किया चूँकि ज्ञान की राशि चली गयी थी अतः हमें भौतिक प्रकाश को ग्रहण करना चाहिए[10]। आज भी उस दिन पर्व का दिन मनाया जाता है। यह प्रकाश का दिन दीपावली का दिन है।

महावीर ने जिस धर्म का प्रचार किया वह नया धर्म नहीं है। यह उन जिनों का धर्म है जो कि उनके पहले चले गये थे तथा जिन्होंने आत्मा की महानता के प्रारंभिक सिद्धान्तों को प्रसिद्ध किया था। जगत् के दो सार तत्त्व जीव और अजीव हैं। वे प्रारंभ से ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं यह मन, वचन और काय की क्रिया हैं जो कि कर्म को जीव के साथ जोड़ने के लिए उत्तरदायी है जिसे तप के द्वारा रोकना या हराना संभव है। यह धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने तथा ध्यान के द्वारा संभव है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है उसके जीवन का लक्ष्य अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख प्राप्त करना है जिससे कि कर्मों की बेड़ियों से छूट सके। अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त ने हमारे देश के लिए एक शास्त्र के रूप में प्रयुक्त किया तथा सिद्ध कर दिया कि अहिंसा और सत्य कमजोर के शस्त्र नहीं हैं किन्तु बहादुर के शस्त्र हैं।

महावीर ने अपना उपदेश लोगों को अर्धमागधी में दिया। उनके गणधरों ने द्वादशांग में अपने उपदेशों का संचय किया। उनका सन्देश खाली हृदय नहीं है उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जीवन का कुछ अर्थ है। जीवन तभी सोद्देश्य हो सकता है, यदि कोई व्यक्ति इसके पवित्र लक्ष्य के प्रति सजग हो। पवित्र जीवन तथा प्रेम के लिए यह आशा

का सन्देश है। महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत का अलग से प्रचार किया। इसे प्रकार उनके पाँच व्रत हो गये-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। उन्होंने समाज को संघ के रूप में निर्मित किया जिसमें मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका थे। पहले दो वर्गों के लिए पाँच व्रतों को उन्होंने महाव्रत के रूप में या बड़े व्रतों के रूप में निर्धारित किया। इन्हीं को उन्होंने श्रावक और श्राविका के लिए अणुव्रत या छोटे व्रत बतलाये। महाव्रत को इसलिए लागू किया कि जो इनका पालन करें वे बड़ी कठोरता से और सूक्ष्मता से पालन करें तथा बड़े अभ्यास, सजगता तथा अति सावधानी से प्रत्येक व्रत का सभी पहलुओं के साथ पालन करें। उन्होंने श्रावक तथा श्राविकाओं के लिए ग्यारह प्रतिमाएं बताईं। सम्यक् श्रद्धा के साथ इनका पालक वे अन्त तक करे तथा कम से कम वस्त्र धारण करें। उन्होंने अतिचारों की रोकथाम पर जोर दिया। प्रत्येक मूल के लिए निष्कपट, प्रायश्चित्त भी बतलाये। उन्होंने इस बात का प्रचार किया कि तप तथा व्रतों का नियमित पालन कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए आवश्यक हैं।

गणधर - जब भगवान् महावीर ने सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद अपना उपदेश देना प्रारंभ किया तब उनके उपदेशों की गणधरों ने व्याख्या की। इस प्रकरण को बन्द करने से पहले उन गणधरों का सन्दर्भ देना चाहिए। इस कार्य को करने वाले प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम थे। वे ब्राह्मण थे तथा वैदिक शास्त्र के अच्छे जानकार थे। तत्त्व विद्या सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या के सम्बन्ध में उनके कुछ सन्देह थे। सर्वज्ञ भगवान् के विषय में सुनकर वे यह जानने के लिये गये कि छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय तथा सात तत्त्वों का क्या मतलब है ? तीर्थंकर के द्वारा इन सिद्धान्तों की व्याख्या सुनकर वे पूर्ण सन्तुष्ट थे। महावीर ने इस बात का प्रचार किया कि जीवन क्या है? तथा कर्म का क्या मतलब है तथा कर्म विभिन्न जन्मों तथा पुनः जन्मों के लिए कैसे उत्तरदायी हैं ? इन्द्रभूति ने ज्ञान की अनुभूति की तथा वे अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये। इसके बाद उनके दो भाई जिनका काम अग्निभूति तथा वायुभूति या जो वैदिक दर्शन के बहुत बड़े विद्वान् थे उन्होंने अपने सन्देहों का स्पष्टीकरण किया।

इन तीन भाईयों के अतिरिक्त आठ अलग क्षत्रिय और ब्राह्मण विद्वान् थे जो महावीर के उपदेशों से आकर्षित थे। वे भी अपने शिष्यों के साधु उनके धर्म में दीक्षित हो गये। वे थे सुधर्मा, मौर्यपुत्र, मौनदरि, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अचेलक तथा प्रभव।

इन गणधरों में इन्द्रभूति गणधर सबसे अधिक प्रभावशाली थे तथा व्याख्या की गंभीर शक्ति को रखते थे। इस कारण वे पहले गणधर हुए जिन्होंने केवल महावीर के उपदेशों की व्याख्या ही नहीं की अपितु उन्हें लिखित रूप में रूपान्तरित (परिणत) किया।

महान् गुरु एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने धर्म पंचयाम व्रत का जाति और धर्म का भेदभाव न करते हुए स्थान-स्थान पर गये। उन्होंने मुक्ति, आत्म संयम और आत्मज्ञान का उपदेश दिया। उस समय के अनेक बड़े शासक जैसे मगध के श्रेणिक और अजातशत्रु, वैशाली के चेटक, श्रावस्ती के प्रसेनजित् उनके उपदेश सुनने के लिए एकत्रित हुए तथा उनके अनुयायी बन गये। ग्यारह गणधरों में से महावीर के बाद गौतम और सुधर्मा ही जीवित रहे जबकि उनमें से शेष बचे हुओं ने भिन्न-भिन्न समयों में सल्लेखना ग्रहण की और राजगृह से निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम 12 वर्ष तक रहे और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। सुधर्मा ने तब आध्यात्मिक नेतृत्व संभाला और उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उनका अनुसरण जम्बूस्वामी ने किया जिन्होंने अन्त में केवलज्ञान प्राप्त किया।

जम्बू स्वामी के निर्वाण प्राप्ति के बाद 403 ईस्वी पूर्व में प्रभव ने जैन विचारों का नेतृत्व किया तथा 397 ईसापूर्व में उनकी मृत्यु हुई। उनके समय में ओसवाल जैन और श्रीमाल जैन का उदय हुआ[11]। यह उल्लिखित किया जा सकता है कि जम्बू स्वामी तक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराएं एक हैं, इसके बाद श्वेताम्बर परम्परा प्रभव, स्वयंभव, शम्भु, विजय तथा भद्रबाहु का नाम देती हैं जबकि दिगम्बर परम्परा विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु का नाम निर्देश करती हैं। ये श्रुतकेवली कहे जाते हैं जिन्होंने कि अपने तीन पूर्ववर्तियों की तरह केवलज्ञान प्राप्त नहीं किया[12]। यह इतिहास की विशिष्ट घटना है कि ये भद्रबाहु मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त के गुरु थे। वे अपने 12000 शिष्यों के साथ दक्षिण की ओर प्रयाण कर गये, क्योंकि उन्हें भयानक दुष्काल होने का प्रचंडता का अनुभव हुआ। चन्द्रगुप्त अपने गुरु के साथ हो लिए। श्रवणबेलगोला तथा दूसरे जगहों के शिलालेखों के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इस बड़ी घटना के कारण जैनधर्म भारत के दक्षिण में फैला। चन्द्रगुप्त 297 ईस्वी पूर्व में अपने राज्य सिंहासन को छोड़ने के बाद जैनसाधु हो गया तथा 12वर्ष के बाद सल्लेखना व्रत को अंगीकार करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ[13]।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. कामताप्रसाद जैन : तीर्थंकरों का धर्म (अंग्रेजी), पृ. 42, विश्व जैन मिशन, अलीगंज (यू.पी.) 1964
2. वही, पृ. 67-70
3. टाइम्स ऑफ इण्डिया (प्रतिदिन का समाचार), 19 मार्च, 1935, बेनेट एण्ड कोलमेन कम्पनी लिमिटेड, बम्बई।

4. इपीफिया इण्डिका, जिल्द 1, पृ. 389
5. वही, जिल्द द्वितीय, पेज 206-10
6. कामताप्रसाद जैन : रिलीजन ऑफ तीर्थंकराज, पृ. 79
7. जिम्मरहेनरिक : फिलोसॉफी ऑफ इण्डिया, पेज-208, सम्पादक : जोसेफ केम्पबेल, रुटलेज के गन पॉल लिमिटेड, ब्राडवे हाउस कार्टरसेन, लन्दन ई.सी. 4
8. हर्मन जैकोवी- सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट जिल्द-45 (उत्तराध्ययन सूत्र), पृ. 119-23 डोवर पब्लिकेशन, आई.एन.सी., न्यूयार्क
9. वही, जिल्द 22 जैन सूत्राज, पृ. 263-64
10. वही, (कल्प सूत्र), पृ. 266
11. श्रीमती सिंकलेचर हर्ट ऑफ जैनिज्म, पृ. 69 हमफ्री मिल्क फोर्ड आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस-लन्दन।
12. मुनि सुशीलकुमार, जैनधर्म , पृ. 41 ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी भवन
13. श्रीमती सिंकलेयर स्टीवेन्सन - हर्ट ऑफ जैनिज्म, पृ. 70 (पाद टिप्पणी)

❑❑❑

अध्याय-3

महावीर के बाद तथा संघभेद

किसी बड़े गुरु के लिए मार्गदर्शक होना बहुत कठिन है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन्द्रभूति गौतम श्रमणों के धर्म में अपने दो भाईयों के साथ दीक्षित हो गये थे तथा वे प्रथम गणधर हो गये थे। ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति और सुधर्मा ऐसे व्यक्ति थे जो अपने गुरु के बाद जीवित रहे। महावीर 14000 उत्तम साधुओं के नायक थे। उनके संघ में 36000 आर्यिकाएं, 1,59,000 पुरुष श्रावक तथा 31,800 श्राविकाएं थी। अपने गुरु के निर्वाण के 12 वर्ष बाद इन्द्रभूति ने निर्वाण प्राप्त किया। आठ वर्ष बाद सुधर्मा ने भी उनका अनुसरण किया। जम्बू स्वामी सुधर्मा के शिष्य थे और उन्होंने महावीर निर्वाण के 64 वर्ष बाद निर्वाण प्राप्त किया। सुधर्मा के मोक्ष चले जाने के बाद भद्रबाहु तथा शीलभद्र छठी पीढ़ी के समसामयिक थे। यह स्वाभाविक है कि तीर्थंकरों ने जिस सिद्धान्त का प्रचार किया था उसके विषय में उनके अनुयायियों के संघ में मतभेद पैदा हो गये। यहाँ तक कि महावीर के जीवन काल में मक्खलि गोशाल और जामालि में अपने गुरु से मतभेद था तथा वे उनसे अलग हो गये। पहले ने अपना निजीमत आजीविक चलाया तथा दूसरे का मत बहुरत के नाम से स्थापित किया गया।

बौद्ध साहित्य से यह प्रकट होता है कि महावीर के अनुयायियों में संघर्ष हो गया। दीघनिकाय दिये गये विवरणों से यह प्रतीत होता है कि यह संघर्ष महावीर के द्वारा प्रचारित किये गये धर्म में उत्कृष्ट और सही ज्ञान के विषय में था। कभी-कभी शब्दों के गम्भीर वाद-विवाद उनमें हो जाते थे तथा उनमें एक दूसरे पर आक्रमण करना भी असामान्य नहीं था।

यह कहना बहुत कठिन है कि इन लड़ाई-झगड़ों के कारण नये सम्प्रदायों का उदय हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्व के समय कुछ साधु थोड़े से वस्त्र रखते थे किन्तु उनमें इस विषय पर अपने गुरु और उत्तराधिकारियों के बीच मतभेद नहीं था, फिर

भी नये संघभेद के जन्म सम्बन्धी विवरणों में अन्तर है। इस विषय में कुछ पुरा कथाएं भी हैं। भद्रबाहु का 12000 मुनियों के साथ में दक्षिण की ओर चले जाना 296 ईस्वी पूर्व या 298 ईस्वी पूर्व में हुआ। यह जैनधर्म के इतिहास में एक सीमा चिह्न हुआ। कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में 600 ईस्वी के शिलालेख में इस घटना का उल्लेख है। उसका प्रासंगिक भाग यहाँ उल्लिखित किया जा सकता है। अब यथार्थ में महावीर रूपी सूर्य के बाद, जो कि समय विश्व को उन्नत करने के लिए उदित हुआ था तथा जो हजारों देदीप्यमान किरणों के साथ चमका तथा उनके गुण, जो कि कमलों को विकसित करने के कारण हुए, जिन्होंने मनुष्यों को आशीर्वाद दिया तथा जिसने सबसे बड़े जैन सिद्धान्त की झील को पोषित किया, जो कि अपूर्व गुणों का निवास था, वह पूरी तरह अस्त हो गया। इस परम्परा में जो भद्रबाहु स्वामी थे, वे बड़े पुरुषों के उत्तराधिकारियों में एक उदाहरण के योग्य माने गए, जो कि आदर के योग्य श्रेष्ठ ऋषि गौतम गणधर के अनुक्रम में आते हैं। गौतम गणधर के तत्कालीन शिष्य लोहाचार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृतिकार्य, जयनाम, सिद्धार्थ, घृष्टिसेण, बुद्धिल तथा दूसरे आचार्य ये सब अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे तथा जिन्होंने उज्जयिनी में 12 वर्ष के अकाल की भविष्यवाणी की थी। पूरा संघ उत्तर से दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हुए ऐसे देश में पहुँचा जो कि सैकड़ों ग्रामों से युक्त था तथा प्रसन्नजनों से भरा हुआ था[2]। परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य, जो कि राजा थे, उन्होंने अपना राजसिंहासन छोड़ दिया तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ चले गए। संख्या 17 और अठारह के दो शिलालेख, जो कि चन्द्रगिरि पहाड़ी पर है तथा दूसरे दो श्रीरंगपट्टम में पाए गए हैं, उनमें भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दो मुनियों का कथन है। ये दोनों एक साथ श्रावणबेलगोला तक आए, इसकी पुष्टि चिदानन्द कवि द्वारा रचित एक कवि द्वारा 1680 ई. में रचित मुनिसुव्रत काव्य से होती है।

इस घटना की ऐतिहासिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। आर.नरसिंहाचार्य ने डॉ. ल्यूमेन का सन्दर्भ देते हुए कहा है कि साधुसंघ का दक्षिण की ओर प्रयाण करना दिगम्बर परम्परा का मूल तथ्य है। डॉ. हार्नले ने जैन पट्टावलियों या गुर्वावलियों के आलोचनात्मक परीक्षण के बाद कहा था।

भद्रबाहु के पूर्व जैन समुदाय अविभाजित तथा भद्रबाहु के साथ दिगम्बर और श्वेताम्बर अलग-हो गये। दिगम्बरों का अलग हो जाना विहार में हुए भयंकर अकाल का परिणाम था, जबकि भद्रबाहु के नेतृत्व में संघ दक्षिण चला गया था। विहार

अविभाजित जैन संमुदाय का मूलधर था[3]। आर. नरसिहाचार्य का कहना है कि जैन परम्परा में जो कहा गया उसे परिकल्पना के रूप में तब तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक विरोधी वाद इस[4] विषय में भविष्य में किसी शोध से सिद्ध न हो।एस.आर.शर्मा ने इसके विषय में कहा है कि स्वर्गीय डॉ. बी.ए.स्मिथ का निष्कर्ष जिसमें प्रचलित परम्परा की संभावना को कहा गया है कि भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य गये तथा मैसूर के पास भद्रबाहु श्रुतकेवली की सल्लेखना हो गयी, यह बात अधिक मतभेद के बिना स्वीकार की जा सकती है। नवीन खोजों ने कोई विरोधी प्रमाण पर प्रमाण नहीं डाला है।

श्वेताम्बर परम्परा में संघभेद के विषय में दो विवरण मिलते हैं -1. भद्रबाहु नेपाल गये तथा वहाँ ध्यान में लवलीन रहे। उनकी अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने समस्त अनुयायियों की एक सभा (द्वादशांग आगम की एक संगीति) बुलाई। दिगम्बरों ने इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनका विश्वास था कि मूलग्रन्थ बहुत पहले ही विलीन हो चुके थे अतः संघ में विभाजन हुआ। 2. एक शिवभूति नाम के मुनि थे। दीक्षा लेने से पहले वे एक राजा की सेवा में थे। जब उन्होंने दीक्षा स्वीकार की तो राजा ने एक कम्बल के साथ कुछ सुन्दर वस्त्र दिये। शिवभूति के गुरु ने कहा कि इन वस्त्रों को बाहर फेक दो; क्योंकि उनको रखने से सम्पत्ति के प्रति अनुराग बढ़ेगा। शिवभूति ने ऐसा करने से मना कर दिया। तब गुरु ने स्वयं ही उन वस्त्रों को फाड़ डाला। शिवभूति क्रोधित हुआ। वह अपने गुरु से अलग हो गया तथा श्वेताम्बरों का नया सम्प्रदाय आरंभ किया।

इन दोनों में से किसी भी कथन का इतिहास से समर्थन नहीं होता है। मुझे ऐसा लगता है कि संघभेद धीरे-धीरे हुआ तथा कुछ समय बाद उसने एक निश्चित शक्ल ग्रहण की। श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के बाद स्थूलभद्र तथा उनके शिष्य उत्तरभारत में रह गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब सिकन्दर ने 327-326 ईस्वी पूर्व में भारत पर आक्रमण किया तब उत्तर भारत में दिगम्बर थे। यूनानी इतिहासकारों ने उनका उल्लेख जिम्नो सोफिस्ट के रूप में किया है, जिसका अर्थ होता है 'नग्नदर्शनिक'। पार्श्व के समय में कुछ भिक्षु ऐसे थे जो कटि वस्त्र पहनते थे। महावीर ने स्वयं नग्न रहना स्वीकार किया; क्योंकि कटिवस्त्र पहनने को उनके समय कोई महत्त्व नहीं दिया गया। पंडित वेचरदास (श्वेताम्बर विद्वान्) ने यह मत व्यक्त किया है कि जम्बू स्वामी के निर्वाण के बाद चारित्र में शिथिलता आनी प्रारम्भ हो गयी। उस शिथिलता ने भगवान् महावीर के कठिन नियमों को विदा करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार से विभाजन का विषवृक्ष उगना प्रारम्भ हुआ ऐसा प्रतीत होता है।

साधुओं ने अपने शरीर के अंगों को सफेद वस्त्रों से ढकना प्रारम्भ किया और कुछ लकड़ी के पात्र भी वे रखते थे। तीर्थंकर की मूर्तियों को सोना और हीरों के गहनों से सजाना तथा रेशमी वस्त्र पहनना प्रचलन में आ गया। एस.गोयालन का कहना है कि 83 ईस्वी में विभाजन स्थायी हो गया। हर्मन जेकोबी का मानना है कि अर्धफालक सम्प्रदाय 80 ईस्वी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विकसित हुआ। उनका मानना है कि यह सम्भव है कि जैन संघ में विभाजन ने धीरे-धीरे स्थान ग्रहण किया। एक व्यक्तिगत विकास दोनों ही ग्रुपों में हुआ। वे एक दूसरे से दूरी पर रहने लगे तथा आपस की दूरी के प्रति प्रथम शताब्दी ईस्वी में सजग हो गये किन्तु उनकी श्रद्धा में थोड़ा सा अन्तर है[7]। जे.एल.जैनी की भी यही दृष्टि है। जैन समुदाय का श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र युक्त) तथा दिगम्बर (आकाश ही जिनके वस्त्र हैं अर्थात् नग्न) में महावीर के 609 वर्ष बाद प्रतिद्वन्द्विता हुई। यह काल लगभग 80 ईस्वी में पड़ता है, किन्तु इसके जीवाणु पहली संगीति के समय ही पड़ गये थे[8]।

ए.एल.वाशम अपने विचारों में पूरी तरह विधेयात्मक है। इस निर्गमन के फल स्वरूप जैनधर्म में साधुओं के अनुशासन के बिन्दु पर बड़ा मतभेद हो गया। समाज में जो सबसे बड़े थे ऐसे भद्रबाहु जो कि प्रवासियों का नेतृत्व कर रहे थे, उनकी धारणा नग्नत्व के नियम पर दृढ़ रही, जिसे महावीर ने स्थापित किया था जो साधु उत्तर में रह गये थे उनके नेता स्थूलभद्र ने श्वेतवस्त्र धारण करने की अनुमति अकाल की कठिनाई और भ्रान्तियों के कारण दे दी। जिससे जैनों के दो सम्प्रदाय उदित हुए-दिगम्बर (दिशाएं ही जिनके वस्त्र हैं या नग्न) तथा श्वेताम्बर (सफेद वस्त्रधारी)। यह संघ भेद प्रथम शताब्दी ईस्वी तक अन्तिम नहीं हुआ[9]। श्रीमती स्टीवेन्सन भी कहती हैं कि संघ भेद 79 या 82 ईस्वी में अन्तिम रूप से हो गया[10]।

यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में कोई सैद्धान्तिक आधारभूत अन्तर नहीं हुआ फिर भी यह विभाजन आज तक चला आता है। इन दोनों सम्प्रदायों में थोड़े से अन्तर हैं- 1. श्वेताम्बर साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं तथा उनकी प्रतिमायें स्वर्ण तथा रत्नों के आभूषणों से जटित रहती हैं उनके नेत्र शीशे के होते हैं तथा जेकेट रेशमी रहती है। दिगम्बर साधु आदर्श रूप में उसी प्रकार नग्न रहते हैं जैसे तीर्थंकरों की प्रतिमायें। 2. दिगम्बरों का कहना है कि स्त्रियाँ अपनी शारीरिक दशा तथा सामाजिक अयोग्यता के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकतीं। श्वेताम्बरों का मत इसके विरुद्ध है। 3. यह पहले ही लिखा जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित थे जबकि श्वेताम्बर कहते

हैं कि वे विवाहित थे व उनके एक पुत्री थी। 4. श्वेताम्बरों का विश्वास है कि आज जो बारह अंगों तथा श्रुत का जो अस्तित्व है, उसकी वे प्रामाणिकता और पवित्रता पर वे विश्वास रखते हैं जबकि दिगम्बरों का कहना है कि मूल तथा यथार्थ ग्रन्थ बहुत पहले ही नष्ट हो, गये थे। 5. श्वेताम्बरों का कहना है कि सर्वज्ञ होने के बाद भी केवली भोजन ग्रहण करते हैं, जबकि दिगम्बर इसका समर्थन नहीं करते हैं। 6. श्वेताम्बरों का कहना है कि 17वें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे उनका नाम मल्लि था, जबकि दिगम्बरों का कहना है कि वे पुरुष थे। 7. श्वेताम्बर साधु भिन्न-भिन्न घरों से अपना भोजन इकट्ठा करते हैं जबकि दिगम्बर साधु एक ही घर में खड़े-खड़े आहार लेते हैं, जहाँ पर भी उनका संकल्प पूर्ण हो चुका है।

दिगम्बर - इस सम्प्रदाय के आदर्श साधु नग्न रहते हैं। वे मयूर पंखों की बनी हुई एक पीछी रखते हैं ताकि जो जीवजन्तु आस पास चल रहे हों, उन्हें एक ओर किया जा सके। जमीन पर या डोली वगैरह में बैठने से पहले वे ऐसा करते हैं। वे पानी के लिए कमण्डलु या एक प्रकार लकड़ी का पात्र रखते हैं, जिसे वे शौच वगैरह के समय ले जाते हैं। वे दिन में एक बार पाणिपात्र में आहार लेते हैं। यद्यपि यह विधान है कि वे उद्यान या सूने घर में ठहरें किन्तु वे अब ग्रामों या नगरों में रहने लगे हैं। गुणभद्र ने उनकी जीवनचर्या में इस प्रकार के परिवर्तन पर अप्रसन्नता व्यक्त की है। यह कमी तब तक चलती रही, जब तक कुछ साधुओं ने मन्दिरों में रहना आरम्भ कर दिया। यह उनका निरन्तर का अभ्यास नहीं है, जैसा कि श्वेताम्बरों में है।

दिगम्बरों में कुछ संघों ने मिलकर मूलसंघ विकसित किया। संघवाद में बड़ा लोकप्रिय हुआ, जैसा कि श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में कहा गया है। इन्द्रनन्दि के समय वीर, अपराजित, सेन, भद्र, सिंह, चन्द्र जैसे संघ समय के मध्य अस्तित्व में आए। अर्हद्बलि के समय संवत् 753 में उनकी मान्यता हुई। सेन मुनि ने काष्ठासंघ स्थापित किया। उन लोगों ने गोपुच्छ की बनी हुई पीछी मयूर पिच्छी के स्थान पर रखनी आरम्भ कर दी। उन्होंने स्त्रियों को दीक्षित किया तथा उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा दिलाई। दो सौ वर्षों बाद एक संघ की स्थापना हुई जो माथुर संघ कहलाया। इस संघ के साधुओं ने पिच्छी धारण करना बन्द कर दिया। वज्रसूरि ने द्रविड संघ का प्रारंभ किया। यद्यपि उनके चारित्र में कुछ कमी थी, किन्तु उन्होंने मन्दिरों की मरम्मत कराई तथा मन्दिरों के उपयोग के लिए भूमिदान को ग्रहण किया।

दिगम्बरों में उपसम्प्रदाय - दिगम्बरों में तीन उपसम्पद्राय हैं- 1. तेरापंथ 2. बीसपंथ 3. तारणपंथ। दक्षिण भारत में कुछ छोटे-छोटे उपसम्प्रदाय हैं। जैसे-चतुर्थ,

बोगार, सेतवाल इत्यादि किन्तु वे व्यवसाय के आधार पर उद्गमित हुई हैं। उनका उल्लेख किसी ग्रन्थ में या ऐतिहासिक महत्त्व के किसी मानक में नहीं हुआ है।

1. तेरापंथ - जैनमठ के प्रधान भट्टारक कहलाए। उनके पास धन सम्पत्ति तथा दूसरे कार्यालयीय सहायक होते हैं। सामाज का एक वर्ग उनकी जीवनशैली के प्रति आपत्ति करता है तथा वे उनका आदर नहीं करते हैं, न नमस्कार करते हैं। आगरा के निवासी बनारसीदास ने उनका आदर करना या उन्हें नमस्कार करना बन्द कर दिया था। वे अठारहवीं शताब्दी के किसी समय हुए थे। उनका ग्रुप तेरापन्थी कहलाया। इसके मानने वाले भट्टारकों का सम्मान नहीं करते हैं। वे मूर्तियों को अलंकृत करने का भी विरोध करते हैं। वे फूलों का उपयोग करने का निषेध करते हैं तथा पूजा के समय गेरुआ वस्त्र पहनने का निषेध करते हैं। यह समुदाय भारत के सभी भागों में फैला गया।

2. बीसपंथ - भट्टारकों का समर्थन करने वाले अपनों को बीसपंथी कहते हैं। वे नग्नमूर्ति की पूजा पारम्परिक व्यवहारों के साथ करते हैं। वे फूलों का प्रयोग करते हैं तथा सुगन्धित अगरबत्ती का प्रयोग करते हैं तथा फल आदि अर्पण करते हैं। ये वर्ग शान्ति से रहते हैं तथा सौभाग्य से उनमें कोई लड़ाई नहीं होती है। वे दिगम्बर आगमों (शास्त्रों) को स्वीकार करते हैं।

3. तारणपंथ - एक व्यक्ति जिसका नाम तारणतरण स्वामी था तथा जो ग्वालियर रियासत के मल्हारगढ़ में 1515 ई. में मृत्यु को प्राप्त हुए थे, वे इस सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। उनकी समाधि के स्थान को उनके अनुयायी तीर्थयात्रा का स्थान मानते हैं। वे मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं। वे मन्दिर बनवाते हैं, किन्तु पूजा के लिए पवित्र ग्रन्थ रखते हैं। वे पूजा के समय फल, फूल नहीं अर्पण करते हैं। दिगम्बर ग्रन्थों के अतिरिक्त वे अपने आचार्यों के ग्रन्थों की भी पूजा करते हैं। उनकी जनसंख्या अधिकांश रूप से मध्यप्रदेश में है।

श्वेताम्बरों में उपसम्प्रदाय - श्वेताम्बरों में उपसम्प्रदाय हैं-मूर्तिपूजक, स्थानकवासी तथा तेरापंथी। श्वेताम्बर साधुओं के लक्षणों का कथन किया जा चुका है। श्वेत वस्त्र धारण करने के अतिरिक्त वे आभूषणों से अलंकृत मूर्तियों की पूजा करते हैं। वे मूर्तियों को रेशमी वस्त्र तथा जवाहरात पहिनाते हैं। उनके साधु मन्दिरों में रहते हैं और उन्होंने धन आदि इकट्ठा करना भी प्रारम्भ कर दिया है। वे नारियों के द्वारा लाए हुए भोजन तथा खाद्य सामग्री को खाते हैं तथा इत्र, धूप आदि का प्रयोग पूजा के लिए करते हैं। वे गीत गाते हैं तथा ज्योतिषीय आधार पर अंकों के पूर्वानुमान करते हैं। उनमें अनेक गच्छ हैं जैसे-उपकेशगच्छ, खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि।

चैत्यवासी (मन्दिरों में रहने वाले) - यद्यपि इस उपसम्प्रदाय के उद्गम का संक्षिप्त आँकड़े के विषय में विचारों में मतभेद हैं, किन्तु इसका उद्गम 355 ई. में हुआ था। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विहारों या विश्रामगृहों में रहने का विचार छोड़ दिया; क्योंकि व्यवहार में कमी आ गई थी। उनकी संख्या में तथा समयावधि में वृद्धि हुई। उनका मानना है कि वर्तमान समय में साधुओं को मन्दिरों में रहना उचित है। हरिभद्र सूरि ने इस रीति की समालोचना की है तथा उनके द्वारा इत्र, फल, फूल, दो तीन बार भोजन लेना, स्नान करना, तेल लगाना, शिष्य बनाने के लिए बच्चे क्रय करना, मन्त्रों-तन्त्रों के अभ्यास के लिए आश्रय बनाना तथा उन साधुओं के पास जाने का निषेध करना जो आगमों के अनुसार व्यवहार करते हैं; की भी आलोचना की है। परवर्ती साधु जैसे जिनवल्लभ, जिनदत्त तथा दूसरे परवर्ती साधुओं ने भी उनकी आलोचना को विषय बनाया है। 745 ईस्वी के लगभग अनहिलपुर के राजा जिनका नाम चावड था, उन्होंने शीलगुण सूरि के उदाहरण पर चैत्यवासियों के अतिरिक्त अन्य साधुओं को नगर में प्रवेश पर एक आदेश के द्वारा रोक लगा दी। यह आदेश 1013 ई. के लगभग बदल दिया गया। इस समय जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि ने इस वर्ग के साधुओं को राजा दूनभदेव के दरबार में वाद-विवाद में विभिन्न वर्गों के लिए पवित्र ग्रन्थों की स्वीकृति के मामले में हरा दिया। इसके बाद चैत्यवासियों की शक्ति घटती गई तथा जो यति या श्रीपूज्य के रूप में श्वेताम्बरों में मान्य थे, वे इस वर्ग से सम्बन्धित माने गए। जो अपने आपको संवेगी शैली का कहते थे। वे वनवासी साधुओं के अनुयायी हैं।

स्थानकवासी - इस सम्प्रदाय की स्थापना लोंकाशाह ने की थी, जिसका जन्म 1415 ई. में पुराने सिरोही जिला के अर्हतवाडा में हुआ था; जो कि आजकल गुजरात में है। उनका जन्म एक ओसवाल परिवार में हुआ था। पच्चीस वर्ष की उम्र में वे अहमदाबाद गए थे, जहाँ पर कि मुहम्मद शाह राज्य कर रहा था। वह लोंकाशाह से परिचित हो गया। हीरों की बिक्री के कुछ लेने-देन के मध्य मोहम्मद शाह लोंकाशाह से बहुत प्रसन्न हो गया तथा उसने उसे लोके की तिजोड़ी का रखवाला बना दिया, जहाँ पर कि उसके सारे आभूषण रखे हुए थे। जब मुहम्मद शाह विष देने से मर गया तो वह बड़ा दुःखी हो गया तथा उसकी नौकरी छोड़ दी। उसे एक मुनि ने; जिसका नाम झानाश्री था नौकरी दे दी। आगमों की प्रतिलिपि करते हुए उसकी हस्तलिपि देखते हुए वह प्रसन्न हो गया। उसने बहुत से शास्त्रों की प्रतिलिपि की। वह उन शास्त्रों की एक एक प्रति अपने पास रखता गया। उसने उस समय पाया कि उस समय जो मूर्ति पूजा बहुत प्रचलित थी, उसकी स्वीकृति शास्त्रों में नहीं थी। अतः उसने जैनधर्म में सुधार करने को अपने हाथ में

लिया तथा जो उसके उपदेशों को सुनकर अत्यधिक प्रभावित थे, उन्होंने उससे अपना अनुयायी स्वीकार करने की प्रार्थना की। लोंकाशाह ने इस आधार पर मना कर दिया कि वह अब भी एक गृहस्थ है। झाना श्री ने उसे साधु दीक्षा दे दी और इस प्रकार लोंकागच्छ का उदय हुआ। एक दूसरा मत है कि लोंकाशाह ने यह देखकर कि एक मुस्लिम शिकार कर रहा है। शाह की सेवा छोड़ दी थी जबकि वह दर्द और दया से भर गया था। इस वर्ग के अनुयायी ढूढिया कहलाये इन्हें स्थानकवासी भी कहते हैं, क्योंकि वे अपने धार्मिक कर्त्तव्य स्थानकों में करते हैं जो कि प्रार्थना हॉल के समान होते हैं। इस सम्प्रदाय के मानने वाले अधिकांशतः गुजरात, मारवाड़, काठियावाड़ इत्यादि में पाये जाते हैं। वे अपने आप को श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भाग मानते हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्रियाओं के पालन करने में स्थानकवासी और श्वेताम्बरों में मतभेद हैं। स्थानकवासी मन्दिर नहीं बनवाते। मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते हैं तथा तीर्थयात्राओं में विश्वास नहीं करते हैं। लोंकाशाह के समान वे केवल 31 आगमों को मानते हैं। लगभग 18वीं शताब्दी में सत्यविजय मुनि ने श्वेताम्बरों को पीला वस्त्र पहनने की सलाह दी ताकि वे स्थानकवासियों से अलग दिखाई दें और यह प्रचलन अब भी फैशन में है।

मूर्ति पूजा को नहीं मानने वाले तेरापंथी - यह उपसम्प्रदाय मारवाड़ी में भिक्षु या भीकमश्री के द्वारा स्थापित हुआ था। वे 1860 ईस्वी में कंटालिया में जन्में थे, जो कि उस समय जोधपुर राज्य में था, अब राजस्थान में है। उन्होंने ईस्वी 1885 (संवत् 1803) में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने इस सम्प्रदाय की स्थापना इस दलील के साथ की थी कि अहिंसा यद्यपि धर्म की आधारशिला है, किन्तु हम अपने प्रतिदिन के कार्य में हिंसा कर रहे हैं। इस प्रकार हम धर्म के स्थान पर अधर्म का अभ्यास कर रहे हैं। मुनियों के प्रधान संघ के समस्त सदस्यों के द्वारा आदर के योग्य होते हैं जो कि अपने प्रतिदिन के जीवन में उनके निर्देशों का पालन करते हैं। सामान्य आचरण के अनुसार उन्हें मुनियों को नमस्कार करना होता है। यद्यपि इस सम्प्रदाय के मानने वाले कलकत्ता और दूसरे नगरों में हैं, किन्तु पश्चिमी भारत में वे बड़ी संख्या में पाये जाते हैं।

यापनीय संघ - प्राचीन श्वेताम्बर और दिगम्बरों के अतिरिक्त एक अन्य संघ था जिसका कि नाम यापनीय था इसे गोप्य संघ भी कहते थे। यह परम्परा एक श्वेताम्बर भिक्षु के द्वारा 148 ईस्वी में स्थापित की गयी जिसका नाम श्री कलश था। यह चूँकि उपर्युक्त संघभेद के 70 वर्ष बाद विभाजन हुआ अतः इस नये धर्म में दोनों परम्पराओं के प्रति सामंजस्य दिखाई देता है। इस संघ का जन्म उत्तरी कर्नाटक में दिखाई देता है।

यापनीय संघ के उल्लेख बड़ी मात्रा में कन्नड अभिलेखों में पाये जाते हैं। जबकि इसके विरुद्ध दूसरे क्षेत्रों में ये उल्लेख नहीं पाये जाते हैं। इससे यह जानकारी प्राप्त होती है कि यापनीय कर्नाटक जैनधर्म से पूर्ण रूप से उद्गमित थे तथा उन्होंने बहुत सारे संघ सम्बन्धी आदेश स्वयं विकसित किये, जिन्हें शासकों ने बढ़ावा दिया तथा कर्नाटक के अनेक भागों में पाँचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक समर्थन मिला। बेलगांव जिले के सोदत्ती तालुका में यापनीय साधुओं के दो मजबूत गढ़ थे। एक होसूर में था और दूसरा मनोली में था[15]। इस धर्म ने बहुत उदार दृष्टिकोण विकसित किया था। इसके संस्थापकों ने एक सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया था। यद्यपि उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण अपनाये थे जो दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में सामान्य थे। उनके साधु नग्न थे। वे मयूर पिच्छी लिये रहते थे तथा भोजन अपने हाथ में ग्रहण करते थे। वे नग्न मूर्तियों की पूजा करते थे तथा नमस्कार करने वाले भक्तों को आशीर्वाद देते थे-सद्धर्म वृद्धिरस्तु। वे श्वेताम्बर मत को इस रूप में मानते थे कि स्त्रियाँ मुक्ति को प्राप्त कर सकती हैं तथा केवली उनसे आहार ग्रहण कर सकते हैं। व्याकरणज्ञ शाकटायन जिनका कि नाम पाल्यकीर्ति भी था, इस परम्परा से सम्बन्धित थे। उनके द्वारा बनाई गयीं कृतियाँ अनुयायियों में पढ़ी जाती हैं। उनके कुछ ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा पर आधारित थे। यापनीय बहुत उदार मालूम पड़ते हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि दूसरे धर्म के मानने वाले, यहाँ तक कि गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इन उदारवादी प्रभावशाली आचरणों के कारण इन साधुओं का जहाँ कहीं भी बहुत सम्मान हुआ; वे गये। अवकाश देने के इसी अभिप्राय तथा अंगीकृत करने की क्षमता ने ही यक्षीय संस्कृति को लोकप्रचलित करने का दायित्व लिया तथा उत्सव सम्बन्धी एवं जैन पुजारियों द्वारा देवी-देवताओं की पूजा को दक्षिण भारत में प्रचलित किया[16]। यापनीय तथा उनके दृष्टिकोण समाज के रूढ़िवादी वर्ग के विरोधियों से मिल गए। उनकी लोकप्रियता धार्मिक निर्देशों में लचीलापन था। जनता के बीच उनका मुक्त आवागमन था। दूसरे धर्मों के लिए छोटी-छोटी रियायतें यक्ष और यक्षीय संस्कृति की भूमिका, शासकों तथा जनता की ओर से उदार अनुदान द्वारा धार्मिक संस्थाओं की स्थापना तथा भिक्षु धर्म में महिलाओं को प्रोत्साहन उनकी लोकप्रियता के कारण थे। सिद्धान्तों की लोकप्रियता, साधु-साध्वियों एवं सार्वजनिक जीवन पर इसका प्रभाव होते हुए भी विचारों का यह सम्प्रदाय कब लोप हो गया, यह कहना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सम्प्रदाय 15वीं शताब्दी ईस्वी तक जीवित रहा। जैसा कि विक्रम संवत् 1451 के शिलालेख में धर्मकीर्ति और नागचन्द्र नाम के दो साधुओं के उल्लेख बेलगाम जिले के कगबाड स्थान पर पाये जाते हैं।

कुछ पुस्तकों में इस परम्परा का नाम अर्धफालक भी मिलता है। श्री रतननंदि आचार्य ने 'बाहुबली का जीवन' ग्रन्थ में कहा है कि इस सम्प्रदाय के साधु एक कपड़े के टुकड़े को नग्नता को छिपाने के लिये प्रयोग में लाते थे अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता शेवताम्बर सम्प्रदाय के पूरी तरह विकसित होने के समय तक थी जबकि जैन सम्प्रदाय में विभाजन हो गया था।

मतभेद की चाहे कितनी संख्या रही हो; समस्त सम्प्रदाय तीर्थंकर तथा उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को मानते हैं। उनमें अन्तर बाहरी हैं, जिनके कारण से वे वेशभूषा पर अधिक ध्यान देते हैं- अपेक्षाकृत धर्म के तत्त्व, नीतिशास्त्र तथा धर्म की मीमांसा पर कम ध्यान देते हैं।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. मोहनलाल मेहता : 'जैन कल्चर, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर (भारत)
2. आर.नरसिंहाचार : इपीग्रफिका,कर्नाटका, जिल्द-2, पृ. 1, मैसूर गवर्नमेंट, बैंगलोर।
3. वही, भूमिका, पृ. 40
4. वही, पृष्ठ 42
5. एस.आर.शर्मा : जैनिज्म एण्ड कर्नाटका कल्चर, पृ. 5-6, कर्नाटक हिस्ट्रीकल रिसर्च सोसायटी, धारवाड़
6. एस.गोपालन : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 23, विली ईस्टर्न, न्यू देहली-49
7. हर्मन जैकोबी : स्टस्डीज इन जैनिज्म, पृ. 46, जैन साहित्य संशोधक कार्यालय, अहमदाबाद
8. जे.एल. जैनी : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 9 (फुटनोट)
9. ए.एल.बाशम : द वंडर दैट वाज इंडिया, पृ. 288-89
10. श्रीमती सिंकलेयर स्टीवेन्सन : 'हर्ट ऑफ जैनिज्म', पृ. 12
11. आचार्य गुणभद्र : आत्मानुशासन, श्लोक-29, सम्पादक-जे.एल. जैनी, सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
12. मिर्जी अन्नाराव : जैनिज्म (कर्नाटक), पृ. 80-81, शान्तिसेवा सदन, सेडवाल, जिला-बेलगाम
13. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनिज्म (कन्नड), पृ. 369-70
14. मिर्जी अन्नाराव : जैनिज्म (कन्नड), पृ. 85
15. पी.वी. देशाई : जैनिज्म इन साउथ इंडिया, पृ. 264, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
16. वही, पृ. 167-168

❑❑❑

अध्याय-4

ईश्वर तथा पूजा की संकल्पना

मनुष्यों के लिए यह आलोचना सुनना असामान्य नहीं है कि जैनधर्म एक अनीश्वरवादी धर्म है। ऐसे व्यक्ति आलोचना करते हैं, जैसे कि वे ईश्वरवादी हिन्दूदर्शन के अनुयायी हों। उनकी आधारशिला तीन धरातलों पर निर्भर हैं- जैन व्यक्तिगत ईश्वर पर विश्वास नहीं करते हैं। वे वेद के प्रमाणीकरण को नहीं मानते हैं तथा वे बाह्य में जीवन के अस्तित्व को भी नहीं मानते हैं। यह स्वीकार करना चाहिए कि जैन वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानते हैं; क्योंकि तीर्थंकरों की शिक्षाएं वैदिक प्रकार के क्रियाकाण्डों का विरोध करती हैं। यज्ञ तथा बहुत सारे देवताओं के अस्तित्व का वे गुणगान करते हैं। जैन पुनर्जन्म तथा मृत्यु के बाद के जीवन को स्वीकार करते हैं-नास्तिक, शब्द भिन्न रूप में व्याख्यायित किया गया है। पाणिनि सूत्र अस्ति, नास्ति, दिष्टम्मतिः की व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि जो मृत्यु के बाद परलोक या जीवन स्वीकार नहीं करते हैं वे नास्तिक हैं। न्याय कोश के अनुसार नास्तिक वह व्यक्ति है जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। मनु का कहना है कि जो वेद की निंदा करता है वह नास्तिक है (नास्तिको वेद निन्दकः)। वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करना अनीश्वरवाद के विचार में प्रविष्ट नहीं होता है। नास्तिक व्युत्पत्ति तथा रिवाज के अनुसार मूल रूप में निषेधात्मक विचार है तथा इसका अस्तित्व विधेयात्मक, आस्तिक, विश्वास का विरोध करना है। ईश्वरवाद (आस्तिवाद) वह विश्वास है कि जगत् में समस्त सत्ताएं जिनको हम अपनी इन्द्रियों से जानते हैं तथा अपनी कल्पना और तर्क से जिनका अनुमान लगाते हैं वे अपने उद्गम तथा अस्तित्व की निरन्तरता के लिए अनिश्चित रचनात्मक तथा कारणमूलक कार्यों पर निर्भर हैं जो कि अपरिमित हैं तथा नित्य स्वयं चेतन तथा इच्छा है तथा यह इसके उच्च स्तरों में यह प्रयुक्त होता है कि स्वयं अतित्वात्मक सत्ता उन्नतिशील रूप में अपने सार को प्रकट करती है तथा उसके विचारों और सिद्धान्तों

में बौद्धिक प्राणी आते हैं तथा इस प्रकार वह उनके साथ व्यैक्तिगत सम्बन्ध पर खड़ा होता है प्रारंभिक स्तरों में ईश्वरवाद साधारण रूप से समस्त सीमित तथा निर्भर हुए अस्तित्वों के कारण के लिए आता है, किन्तु जैसे ही यह विकसित होता है तब ईश्वर का विचार अनुभूत होता है जो कि अन्तर्यामी है तथा स्वयं प्रकाशी है। रचनात्मक है तथा इन्द्रियातीत[1] है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति,
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हितान् ॥

- भगवद्गीता, अध्याय-7

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि नास्तिकतावाद ने अपना अर्थ बदल दिया है, जिस प्रकार कि ईश्वर विषयक विचार भिन्न भिन्न धर्मों के स्थापकों द्वारा भिन्न भिन्न हो गया है।

व्यक्तिगत ईश्वर का अत्यधिक सामान्य विचार यह है कि ईश्वर स्वयं सत्ता है, जो जगत् की रचना करता है और इस पर शासन करता है। वह समस्त जीवधारियों पर अधिष्ठित है तथा पाप और पुण्य के अनुसार जो कि प्रत्येक व्यक्ति ने किया है। लोगों को दण्ड देता है या पुरस्कृत करता है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि यदि कोई भक्त ईश्वर की मूर्ति की पूजा भक्तिपूर्वक करता है तो मैं उसे अविचलित श्रद्धा प्रदान करता हूँ। जो उस श्रद्धा से युक्त है, उसकी इच्छा की पूर्ति उसी के अनुसार होती है। क्योंकि वह मैं हूँ, जिसने कि उसे दिया[1ए]है।

जहाँ तक उसके सृष्टि रचनात्मक गुणों की बात है, उसके विषय में स्वामी विवेकानन्द ने कहा है- इस सृष्टि से क्या बनता है? भगवान् के लिए जो अंग्रेजी शब्द गौड का प्रयोग किया जाता है। निश्चित रूप से ईश्वर इतना सामान्य नहीं है। ईश्वर और 'गॉड' में बहुत अन्तर है। अंग्रेजी में दूसरा कोई अनुरूप शब्द नहीं है। अतः मैं इसके लिए संस्कृत शब्द 'ब्रह्मन्' सुनिश्चित करता हूँ। वह इस आभास का सामान्य कारण है। ब्रह्म क्या है? वह नित्य है, नित्य शुद्ध है, नित्य जाग्रत है, वह सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सब पर दया करता है, वह सब जगह विद्यमान है, रूप रहित है, वह बिना किसी भाग के विश्व की रचना करता है[2]।

सभ्यता के आरम्भिक दिनों में, मनुष्य प्रकृति के अत्यधिक शक्तिशाली तत्त्व के रूप में माना गया है। जैसे कि अग्नि, वायु और वर्षा इत्यादि। वह बंजर प्रकृति का आश्चर्यजनक रूप से पोषण पशुयज्ञ के द्वारा करता है। पुराने यहूदीवाद का सन्दर्भ देते हुए (जो कि विश्व का रचयिता जीवोह को मानता है तथा आदम और ईव के रूप में दो मानव सत्ताओं का रचनाकार है)। पुराने कवि लॉरेट राबर्ट ब्रिज ने लिखा है- अकेले अपने विचार को स्वयं पाते हुए मुझे आश्चर्य हुआ। इस बात को मानते हुए कि ईश्वर की प्रतिमा में मनुष्य बनाया गया था और अभी तक नहीं जाना कि मनुष्य की प्रतिमा में ईश्वर बनाया गया था और इस सत्य को भी नहीं जाना कि ये दोनों सत्य एक हैं; क्योंकि यह सुनिश्चित है कि मनुष्य में मन की उत्पत्ति हुई, अतः उसकी मनुष्यता के विकास के साथ ईश्वर का विचार विकसित हुआ। इसके अतिरिक्त बहुत ही सद्भावपूर्वक यह विचार प्रश्न के अन्दर समझा जाय कि कषाय और प्रेम के विषय में अन्त में ईसा ऐसा वरदान दे कि संसार में शान्ति आए।

यदि हम विश्व में बहुत से धर्मों की मान्यताओं पर विचार करें तो हम निःसन्देह जानेंगे कि ईश्वर का जो रूप पुराणों और पुराकथाओं में विचार किया गया है, वह सैन्यदल है। वहाँ ईश्वर अपने भक्तों को बुराईयों से बचाने तथा उनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए माना गया है, यदि वे उनकी पूजा और चढ़ावे से प्रसन्न हो जाँय। हिन्दुओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रयी विचारों में प्रसिद्ध रही है। सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती; इन तीनों ईश्वरों की पत्नियाँ हैं। विष्णु, महेश या शिव के जो अनुयायी उन्हें अपनी पूजा के योग्य भगवान् मानते हैं तथा दूसरे को अपने सहायक मानते हैं। उन हिन्दुओं में विष्णु की कथायें दश अवतारों के साथ हैं। वे कमजोरों की रक्षा के लिए तैयार हैं तथा चालाक लोगों से अपने भक्तों के बचाने के लिए तत्पर हैं। शिव के विषय में भी बहुत सी कथायें कही गई हैं। इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर जैसे छोटे देव भी हैं जो जगत् पालन करने तथा रक्षा करने की योजना में अनावश्यक हैं।

जैनधर्म इस बात को नहीं मानता है कि लोक की रचना ईश्वर या देवताओं के द्वारा की गई है। लोक बाह्य और किसी के द्वारा रचा हुआ नहीं है। यह रूपों और पहलुओं में स्थिरता और विनाश का विषय है। इसकी रचना छह द्रव्यों से हुई है। ये हैं- जीव, पुद्गल, काल, आकाश, धर्मद्रव्य तथा अधर्म द्रव्य। लोक इन द्रव्यों का मेल है। जीव का लक्षण चेतना है, पुद्गल में चेतना नहीं है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्तों से भी उचित हैं। सत् की दृष्टि से जीव स्वतंत्र और अरूपी है। पुद्गल में रूप है। जीवों की संख्या अनन्त है।

जैनों का ईश्वर का विचार शुद्ध जीव है जिसमें कि अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य है। ये गुण आत्मा में स्वयं छिपे हुए हैं, किन्तु वे या तो नष्ट हो गए हैं या चार प्रकार कर्मों से ढके हुए हैं। चार प्रकार के कर्म हैं-दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय। पूर्ण दर्शन प्रथम प्रकार के कर्मों के विनाश से प्राप्त किया जा सकता है, जबकि पूर्ण ज्ञान दूसरों प्रकार के कर्मों के नाश से प्राप्त किया जा सकता है। अनन्त सुख और अनन्त वीर्य शेष दो प्रकार के कर्मों के नाश से प्राप्त किया जा सकता है। चार गुण किसी से दान में प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु वे आत्मा को प्रकृति से छिपे हुए हैं। जैन दार्शनिक इस प्रकार की आत्माओं को अर्हत् कहते हैं। ईश्वर भी प्रचलित शब्द है। सर्वज्ञ, वीतराग, परमात्मा, जिन इत्यादि भी कहते हैं। मूलतः वह समस्त कषायों और राग का विजेता है। वह आप्त और तीर्थंकर भी कहलाता है; क्योंकि उसने दुःखों तथा संसार भ्रमण से छूटने का मार्ग भी बतलाया। वह भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, भ्रम, उत्सुकता, मद, अप्रसन्नता, चकित होना, जन्म, नींद तथा दुःख से रहित है। निश्चय नय की दृष्टि से अर्हत् देहातीत है, जबकि व्यवहार नय की दृष्टि से उनका शरीर औदारिक है, जिसकी प्रभा हजारों सूर्यों जैसी है।

इस प्रकार का ईश्वर अनन्त ज्ञान, सुख के कारण तीव्र प्रकाश से भरा हुआ है। उसकी कोई इच्छायें या कर्तव्य नहीं है। वह मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है तथा वह रचनात्मक कार्यों में अपना समय किसी भी प्रकार से बर्बाद नहीं करता है। ईश्वर का उद्देश्य अपूर्ण नहीं होना चाहिए, उसकी इच्छायें अतृप्त नहीं होना चाहिए और इसकारण उसे जगत् की व्यवस्था और सृष्टि नहीं करना[5] चाहिए।

अर्हत् या ईश्वर का विचार इस दृष्टिकोण से बिल्कुल ठीक है कि उसे विश्व का कर्त्ता, शासक और संचालक नहीं होना चाहिए, जो कि किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है तथा नित्य है। सृष्टि का अर्थ यह होता है कि ईश्वर कुछ निर्माण करना चाहता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपूर्ण है। ए.बी.लट्ठे ने इस बिन्दु पर एक आचार्य का तर्क उपस्थित किया है-यदि ईश्वर ने लोक बनाया तो इसे बनाने से पूर्व वह कहाँ था? यदि वह आकाश में नहीं था तो उसने लोक को कहाँ रखा। एक अरूपी और अभौतिक द्रव्य जैसे-ईश्वर पुद्गल से विश्व को कैसे बना सकता है? यदि सामग्री पहले की सामग्री से ली गई तो विश्व की शुरुआत का निषेध ही क्यों नहीं मान लेते? यदि रचनाकार अरचित था तो लोक को स्वयं अस्तित्वमय क्यों नहीं मान लेते हैं? यदि ईश्वर स्वयं काफी है, उसे विश्व की रचना की आवश्यकता नहीं है। यदि वह सामान्य कुम्हार की

भाँति नहीं है तो वह कठिन परिश्रम के योग्य नहीं होगा; क्योंकि परिकल्पना के द्वारा केवल एक पूर्ण सत्ता ही इसकी उत्पत्ति कर सकती है। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा के खेल से ही विश्व की रचना की तो यह ईश्वर में बालकपना ही बनाना होगा। यदि ईश्वर उपकारी है और उसको विश्व कृपा के लिए बनाया है तो उसे दुःख और सुविधा का अस्तित्व नहीं लाना[6] था।

संक्षेप में, जैन नैयायिकों के इस विचार को स्वीकार नहीं करते कि विश्व को किसी मेधावी कर्त्ता ने बनाया, जो कि ईश्वर है, न वे यह स्वीकार करते हैं कि वह सर्वव्यापी है; क्योंकि यदि वह सब जगह अस्तित्व रखता है तो उसे अपने में सारी वस्तुयें समाहित करना चाहिए, वह अपने से बाहर कुछ नहीं होने देता। वे (जैन) ईश्वर को विश्व की व्याख्या के लिए भी आवश्यक नहीं समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा स्वभावतः दिव्य है तथा पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। जैनदर्शन में ईश्वर की अवधारणा मनुष्य में दिव्यता का होना है। मनुष्य इसकी अनुभूति अध्ययन, श्रद्धा, सम्यक् प्रत्यक्ष, पूर्णज्ञान तथा निर्दोष चारित्र से कर सकता है। मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है, उसके कार्यों और फल के बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। कमजोर मस्तिष्क वालों के लिए ऐसा दर्शन अपील नहीं करता है। मनुष्य तथा स्त्रियाँ कठिनाईयों में किसी दिव्य शक्ति की ओर देखते हैं, जो कि उनकी मुसीबतों में कुछ राहत दे सकें। वे अपना पक्ष लेने की या उपहार देने की प्रार्थना करते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि वे अपने भाग्यों के निर्माता हैं तथा उनके सुख और दुःख उनके स्वयं के निर्माण के लिए हैं। शायद इस प्रकार के मन वालों को सान्त्वना देने के लिए बाद के स्तर पर यक्ष और यक्षी संस्कृति का जन्म हुआ। डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार जैनों के अपने मन्दिरों में यक्ष, नाग तथा दूसरे देवताओं का प्रवेश तीर्थंकरों के रक्षक दिखलाने के लिए आया। इसके द्वारा उन्होंने अनार्यों की संवेदनाओं को आदर दिया, जिन्होंने उनके लिए मन्दिरों का निर्माण कराया। एक बार भारत में यक्ष तथा यक्षी संस्कृति भिन्न भिन्न रूपों में प्रचलित थी। वे कुलदेवता थे। जब मनुष्यों के समुदायों ने जीवन की जैनदृष्टि अंगीकार की तो वे अपने साथ अपने कुलदेवताओं को लाए और जैन आचार्यों ने उन्हें अपने धर्मायतनों में द्वितीय स्थान दिया तथा उनका प्रयोग कर्मकाण्ड के उद्देश्यों के लिए किया।

जैन पुराणों में यक्ष धरणेन्द्र तथा यक्षी पद्मावती का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ के साथ माना जाता है, जो कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बन्धित थे; जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की रक्षा की थी। वे जब ध्यानस्थ थे तब उनके

ध्यान में विघ्न करने वाले शत्रु के क्रूर आक्रमणों से रक्षा की थी। (भक्तों की) मनोकामना यदि पूर्ण होती है तो वे कुछ वस्तुयें भेंट में देने का वायदा कर उनकी पूजा करते हैं। तन्त्र और मन्त्र सम्बन्धी क्रियायें कर पूजा करने का रूप जैनधर्म में बाहरी लोगों (दूसरों) का है। फिर भी इन देवी, देवताओं की पूजा करने का विचार सामान्य मनुष्यों और महिलाओं को हिन्दूधर्म का प्रभाव रोकने के लिए आया होगा जो बहुत से देवी देवताओं को अपनी मनोकामना पूर्ति की इच्छा करते हैं। इस प्रकार की पूजा का दूसरा उदाहरण टी.जी. कलघटगी के अनुसार ज्वालामालिनी की तान्त्रिक वस्तुओं से पूजा करने का निर्दिष्ट किया जा सकता है। इस उपासना पद्धति के प्रवर्त्तक शायद पोन्नूर के हेलाचार्य थे। प्रचलित विश्वास के अनुसार उस समय मन्त्र विद्या पर अधिकार वरिष्ठता की योग्यता मानी जाती थी। जैन आचार्यों ने मन्त्रवादियों का स्वामी होने का दावा किया है। जैनधर्म को दूसरे हिन्दू सम्प्रदायों से मोर्चा लेना था। पूजा का यक्षीय रूप सामान्य व्यक्तियों को जैनधर्म के प्रति आकर्षित करना था। इसके लिए पूजा का प्रचलित रूप अपील कर सकता था। जैनधर्म के अनुसार चार गतियों में एक गति देवगति[7] है जिसमें आत्मा को अपने अच्छे कर्मों के कारण देवगति में स्वर्ग प्राप्त होता है तथा वे भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव होते हैं। ये देवता जन्म और पुनर्जन्म के विषय होते हैं तथा दूसरे जीवों का किसी भी प्रकार का पक्ष लेने में असमर्थ रहते हैं। यद्यपि उनका स्तर मनुष्यों से ऊँचा है किन्तु उन्हें मनुष्य के रूप में पुनर्जन्म करना होगा। यदि वे प्राप्त करना चाहते हैं तो जन्म और मरण से छुटकारा उनका निवास स्वर्ग क्षेत्र में निश्चित है, जहाँ वे पुण्य का फल भोगते हैं जब तक कि पुण्य समाप्त नहीं हो जाता। उनका जीवन की कालावधि और स्तर के अनुसार पद रहता है। जैन मनुष्य में देवत्व मानते हैं। अच्छाई का मतलब पवित्रता की प्राप्ति था। प्रत्येक आत्मा में छिपी हुई पूर्णता तीर्थंकर में है जिन्होंने सर्वज्ञता और पूर्णता प्राप्त कर ली है।

पूजा की अवधारणा-

जैन तीर्थंकरों की पूजा क्यों करते हैं? वे तीर्थंकरों की पूजा इसलिए करते हैं कि वे मुक्तात्मा हैं जिन्होंने पूर्णता व सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है। वे मरणशील थे। उन्होंने उच्च सत्ताओं की ओर नहीं देखा किन्तु वे अपने में ही देख रहे थे। वे प्रचारक होते हैं जो जैनधर्म और संस्कृति के प्रकाश को शिखर तक पहुँचाते हैं। वे जीवन के नित्य सत्य का प्रचार करते हैं। उसका पालन करते हैं तथा लाखों दूसरे लोगों को संसार की बाधाओं को पार करने में मदद करते हैं। वे अपनी आत्मा में देवत्व का अनुभव करते हैं। तीर्थंकरों

की पूजा करने में एक जैन उन आदर्शों की पूजा करता है जिनका तीर्थंकरों ने आत्म साक्षात्कार की यात्रा में पालन किया था, प्रचार किया था। वे किसी के प्रति पक्षपात नहीं करते हैं क्योंकि वे किसी को कुछ नहीं देते हैं। जब तक व्यक्ति की आत्मा आत्मोत्थान नहीं करती है तब तक देवीय कृपा से कुछ नहीं होता है। उमास्वामी ने जैनपूजा का उद्देश्य संक्षेप रूप में अपने ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में मंगलाचरण में बतलाया है जो कि तत्त्व के सिद्धान्तों की सूत्रात्मक व्याख्या है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

मैं उन भगवान् की वन्दना करता हूँ, जो मोक्षमार्ग के नेता हैं; जिन्होंने कर्मरूपी पर्वतों का भेदन किया है तथा जो समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं ताकि मैं उन गुणों को प्राप्त कर सकूं[8]। इस पूजा का उद्देश्य अपना लक्ष्य प्राप्त कराना नहीं है, किन्तु मन को सुधारना है जिससे कोई व्यक्ति अपने में समस्त उच्च गुणों को विकसित कर सके। भक्त शिष्य की स्थिति में रहता है तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु अपने स्वामी से निर्देशन एवं नया प्रकाश चाहता है। पूज्यपाद स्वामी ने उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए एक उदाहरण दिया है। कुछ बुद्धिमान् व्यक्ति जो अपने शुभ प्राप्त करने के इच्छुक हैं एवं थोड़े से ही समय में मोक्ष प्राप्ति के योग्य हैं वे एकान्त और प्रकाशमय निवास चाहते हैं जहाँ उनकी शक्तिशाली आत्मा को मन की शान्ति प्राप्त हो। वहाँ वह अपने गुरु देखता है जो कि साधुओं की धर्मसभा के बीच में मोक्षमार्ग के प्रतिरूप के रूप में बैठे हुए हैं तथा कुछ शब्द बोले बिना ही शरीर मात्र से मोक्षमार्ग का उपदेश दे रहे हैं। वह महान् वीतरागी सन्त के सामने आता है। उसमें तर्क तथा आगम की योग्यता है, जो अच्छे व्यक्तियों द्वारा नमस्कार के योग्य हैं तथा जिनका मुख्य कार्य उस बात का प्रचार करना है कि समस्त जीवित प्राणियों का हित क्या अच्छा है ? शिष्य उससे आदर के साथ कहता है- हे गुरुदेव! आत्मा का हित क्या है? गुरु उत्तर देते हैं, मोक्ष। वह साधु से पुनः कहता है कि मोक्ष का स्वरूप क्या है? तथा उसके प्राप्त करने का साधन क्या है? साधु उत्तर देते हैं-मोक्ष। कुल मिलाकर जीवन की भिन्न स्थिति की प्राप्ति मोक्ष है। वह कर्म की कालिमाओं तथा शरीर को छोड़ने पर होती है। यह आत्मा के छिपे हुए गुण जैसे-ज्ञान, सुख की प्राप्ति तथा दुःख एवं कष्टों से छुटकारा है[9]।

पूजा का उद्देश्य जो कुछ तीर्थंकरों ने कहा है तथा आगम में कहा गया है उसके लिए निर्देश देते हुए अपने आपको याद दिलाना है। यह मन तथा विचारों की शुद्धियों से

ही सम्भव है। अतः पूजा के क्षण यथार्थ में आत्मा के स्वरूप में ध्यान लगाने के क्षण हैं। सभी धर्मों में प्रतिदिन प्रार्थना का रूप निर्धारित किया गया है। प्रार्थना की विषय सूची भक्त के मनोवैज्ञानिक लगाव का निर्देश है। पूरी प्रार्थना इस प्रकार है-

णमो अरिहंताणं।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं।

णमो लोए सव्वसाहूणं॥

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो तथा लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार हो। यह मन्त्र पंच णमोकार मंत्र कहलाता है; क्योंकि इसमें पंच परमेष्ठियों की प्रार्थना है। ये पाँच परमेष्ठी हैं जो सादर नमस्कार के योग्य हैं। इसमें कुछ भी साम्प्रदायिक नहीं है। यह गुणों पर केन्द्रित है किसी विशेष देवता या गुरु पर केन्द्रित नहीं है। प्रत्येक परमेष्ठी के गुण और आदर्शों का वर्णन आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह की पचासवीं से चौवनवीं गाथा तक व्याख्यायित किया[10] है। जब मैं ईश्वर की अवधारणा के विषय में विचार कर रहा था,उस समय मैंने यह पहले से ही अर्हत् के गुणों के विषय में वर्णन किया है। वह पवित्र शरीर में पवित्र आत्मा है। उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्य है। उन्होंने चार घातिया कर्मों का विनाश कर दिया है। निश्चयनय की दृष्टि से अर्हत् अशरीरी हैं किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से हम उन्हें तेजस्वी शरीर वाला कहते हैं।

जब हम सिद्ध पर ध्यान लगाते हैं तब हम आत्मा पर ध्यान लगाते हैं जो कि शरीर रहित है तथा आठ कर्मों से रहित है, जो लोक और अलोक के केन्द्र दृष्टा हैं तथा वे लोक के शिखर पर विराजमान हैं। सिद्ध अशरीरी हैं अतः उनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान नहीं किया जा सकता। उनकी छायात्मक आकृति मनुष्याकृति से मिलती जुलती है। लोकाकाश का शिखर जहाँ वे विराजमान रहते हैं, सिद्ध शिला कहलाती है। जैनधर्म के अनुसार सिद्ध को लोकाकाश और अलोकाकाश की समस्त वस्तुओं की जानकारी है जो कि भूतकाल में उपस्थित थी, वर्तमान में जिनका अस्तित्व है तथा भविष्य में भी उपस्थित रहेंगी। ये सिद्ध सामान्य साधुओं; जो कि कुछ आश्चर्यजनक शक्ति रखते थे; से भिन्न हैं।

जो पाँच प्रकार के आचार का स्वयं पालन करते हैं तथा दूसरों से कराते हैं, वे आचार्य हैं। पाँच आचार हैं- दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार। दर्शनाचार आत्मा में विश्वास पर निर्भर है। आत्मा में सर्वोच्च चैतन्य है तथा केवल एक वस्तु पर ध्यान लगाना है कि यह शरीर से पृथक् है। ज्ञानाचार ज्ञान के विकास से सम्बन्धित है कि आत्मा शुद्ध तथा परिपूर्ण है तथा इसे राग, मोह और द्वेष से क्या करना? चारित्राचार का सम्बन्ध अपने व्यवहार को इस प्रकार मोड़ना है जो कि सब प्रकार के राग तथा दूसरे व्यवधान करने वाले तथ्यों से मुक्त हो, जिससे मन में आवश्यक शान्ति हो तथा आत्मा के स्वरूप पर ध्यान हो। तपाचार विभिन्न प्रकार के तपों का अभ्यास करना, जिससे आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने की शक्ति हो। वीर्याचार किसी आत्मा की शक्ति के विकास पर निर्भर है या समस्त मानसिक विभागों की छिपी हुई शक्ति के विकास पर निर्भर है, जिससे कि आत्मा आत्म साक्षात्कार के विषय में कोई रुकावट अनुभव न करे। आचार्य वह हैं जो इन गुणों का प्रचार तथा अनुभव करते हैं। वे गुण आदर और नम्रता के योग्य हैं।

उपाध्याय या शिक्षक वह है, जिनके पास त्रिरत्न हों तथा जो धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार करने में लगा रहे। उसको उच्च सम्मान का स्थान प्राप्त होता है; क्योंकि यह वह है जो अपने उपदेशों द्वारा मनुष्यों को धार्मिक प्रवृत्ति के अभ्यास हेतु प्रेरित करता है।

साधु वह है जो मुक्ति के पथ के प्रति पूर्ण श्रद्धा, ज्ञान, विचारों की शुद्धि तथा चारित्र की शुद्धि रखता है। वह तपों का अभ्यास करता है तथा उन क्रियाओं में लगा रहता है, जो मुक्ति प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं।

ये पाँच परमेष्ठी हैं, जिनकी प्रशंसा और पूजा प्रतिदिन करना चाहिए। इनमें वे गुण हैं जिनका ध्यान करने पर निश्चित रूप से मानसिक शक्ति मिलती है, चारित्र में सुधार होता है तथा शुद्ध प्रत्यक्ष की ओर जाया जाता है एवं आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। ध्यान का प्रथम स्तर चारित्र में स्थिरता की प्राप्ति है, जब कि द्वितीय स्तर पर तब पहुँचते हैं, जबकि आत्मा पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है। सांसारिक परिग्रह की प्राप्ति के लिए मन आसक्ति या सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति से मुक्त होना चाहिए। मानसिक कमजोरियाँ जैसे- मोह, द्वेष, क्रोध, घृणा, मान, लोभ इत्यादि समाप्त होना चाहिए, ताकि मन की शान्ति प्राप्त हो। ध्यान की तैयारी का यह प्रथम स्तर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति को अन्तर्मुखी करना चाहिए। बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में मन, विचार और क्रिया तथा आत्मा के स्वरूप पर ध्यान लगाना चाहिए। यह ध्यान

कहलाता है। यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति जो ध्यान का अभ्यास करने की इच्छा करता है, उसे आगम का ज्ञान करने की प्रारम्भिक भूमिका आना चाहिए। भिन्न-भिन्न व्रत और तप का अभ्यास होना चाहिए।

यह जैन प्रार्थना तथा पूजा की यथार्थ अवधारणा है। आगम का सतत अभ्यास किए बिना पाँच परमेष्ठियों के गुणों को नहीं जाना जा सकता है। आगम के ज्ञान से धार्मिक शक्ति को बल मिलता है तथा आत्मा की छिपी हुई शक्ति के प्रति जागरूकता का निर्माण होता है।

जैन पूजा के विशिष्ट लक्षण जे.एल. जैनी ने संक्षिप्त रूप से उल्लिखित किए हैं। पाँच बिन्दुओं पर गौर करना चाहिए-

1. जैनधर्म में विश्वबन्धुत्व की भावना-इसमें पूजा और विनय समस्त मानवीय आत्माओं के प्रति किया जाता है चाहे वे किसी भी प्रदेश या देश के हों। पूजा निर्वैयक्तिक है।

2. जिनमें गुणों का समुदाय पाया जाता है, उनकी पूजा की जाती है। किसी व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं की जाती है।

3. अर्हत् जैनधर्म के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने वाले जीवित प्रतिरूप हैं, जो जीवनमुक्त है। जिन्होंने संसार छोड़ दिया है तथा मनुष्यों के द्वारा जिनकी निकटता नहीं की जा सकती। जो इनके सामने सत्य को जानना चाहता है वह उसे ढूँढ़ सकता है[4]। जैनों का मन्त्र ॐ पाँच स्वरों से मिलकर बना है- अ,अ,आ,उ,म् जो क्रमशः अर्हत्- अशरीर, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि या साधु के लिये आता है। प्रार्थना या पूजा वह माध्यम है जिसके माध्यम से न केवल हम अपने आदर्श को प्रदर्शित करते हैं किन्तु भक्ति को भी विकसित करते हैं जो कि हमें परमानन्द की स्थिति तक पहुँचाती है तथा परमानन्द को लाती है जबकि हम आत्म साक्षात्कार करते हैं। एक चीज जिसे हम निष्कर्ष के रूप में जोड़ सकते हैं वह है कि ईश्वर की आदर्शात्मक अवधारणा के होते हुए भी जैन साधुओं तथा कवियों ने दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता की शिक्षा दी। उनका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त उनके विश्वजनीन दृष्टि को बतलाने के लिए उत्तरदायी है क्योंकि इससे उन्हें दूसरों के दृष्टिकोण को मान देने की शक्ति प्राप्त होती है। यहाँ एक श्लोक है जो कि किसी जैन साधु के द्वारा लिखा गया है, जिसमें कहा गया है कि ईश्वर को

आप क्या नाम रखते हैं यह अधिक मायने नहीं रखता, क्योंकि समस्त देवों में पवित्रता, दया तथा देवत्व है।

विष्णुर्वा त्रिपुरान्तको भवतु वा ब्रह्मा सुरेन्द्रोऽथवा
भानुर्वा शशिलांछनोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा॥
रागद्वेषाविषार्तिदोषरहितः सत्वानुकम्पोध्यतो याः
सर्वैः सह संस्कृतो गुणगणैस्तस्मै नमः सर्वदाः॥

हमें सदैव उसे नमस्कार करना चाहिए जो कि द्वेष रूपी विष की पीड़ा के दोष से रहित हो। जो दया से भरा हुआ है तथा जो समस्त गुणों से पूर्ण है चाहे उसे विष्णु कहो, चाहे शिव कहो, चाहे ब्रह्मा कहो, चाहे देवेन्द्र कहो, चाहे सूर्य कहो, चाहे चन्द्रमा कहो, चाहे भगवान् कहो या बुद्ध कहो।

अब हमें जे.एल. जैनी के उस गद्यांश को उद्धृत करना है जो जैनधर्म में ईश्वर के विचार को साधारण किन्तु शक्तिपूर्ण शब्दों में संक्षिप्त करता है। जैनधर्म दूसरे धर्मों से अधिक मनुष्यों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता देता है। हमारे कर्मों, जिन्हें हम करते हैं और उनका जो फल मिलता है उसमें हम दखलन्दाजी नहीं कर सकते हैं जो कुछ एक बार किया गया है वे कर्म हमारे हो जाते हैं तथा उन्हीं के अनुसार हमें फल भोगना पड़ता है। जिस प्रकार से मेरी स्वतंत्रता बढ़ी है उसी प्रकार मेरी जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है। मैं जैसा चाहता हूँ उसी प्रकार मैं रह सकता हूँ किन्तु मेरी आवाज अटल है तथा मैं इसके परिणामों से अपने को बचा नहीं सकता। यह सिद्धांत जैनधर्म को अन्य धर्मों से अलग करता है जैसे ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म तथा हिन्दू धर्म। कोई भी ईश्वर या उसका प्रतिनिधि या उसका सहायक या उसका प्रेमी मानवीय जीवन में दखल नहीं दे सकता। आत्मा जो कुछ भी करती है वह उसके लिए स्वयं जिम्मेदार[12] है। निष्कर्ष रूप से जैनधर्म व्यक्तिगत ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता जो कि एक बार सृष्टि का निर्माता भी और पालक भी है। वास्तविक ईश्वरआत्मा है जो कि पूर्णतः को प्राप्त कर चुकी है। अनन्तदर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख से युक्त है। वे गुण प्रत्येक आत्मा में छिपे हुए हैं। भौतिक जगत् में ये गुण कर्मों के आवरण में छिपे हुए हैं। तीर्थंकर जो परिपूर्णतः के आदर्श हैं, उन्होंने मोक्ष का मार्ग दिखलाया है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रयोग करता है; वह परिपूर्ण शक्ति के साक्षात्कार द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है; जो कि उसके अन्दर विश्रान्ति ले रहा है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. जेम्स हेस्टिंग्स, सम्पादक-एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द-2, पृ. 173, एडिनवर्ग, टी. एण्ड टी क्लार्क 38 जार्ज स्ट्रीट, न्यूयार्क।
2. भगवद्गीता, अध्याय-7, श्लोक- 21-22
3. स्वामी विवेकानन्द लेक्चरर्स फ्राम कोलम्बो टू अल्मोड़ा, पेज-21, अद्वैत आश्रम 5 देहली, इन्टैली रोड, कलकत्ता-14
4. रोवर्ट ब्रिज्स : टेस्टामेण्ट ऑफ ब्यूटीबुक-1, लाइन 402-403
5. एस.सी. घोसाल : द्रव्य संग्रह (अंग्रेजी टीका सहित), सेक्रेट बुक्स ऑफ दि जैन्स, जिल्द-1, पृ. 144, सेंट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, आरा, इंडिया।
6. सी.आर. जैन : जैनिज्म एण्ड वर्ल्ड प्रोब्लम्स, पृ. 125, द जैन पब्लिसिंग हाउस, बिजनौर (यू.पी.) भारत, 1934
7. टी.जी. कलघटगी, जैन व्यू ऑफ लाईफ, पेज-177, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
8. एस.ए.जैन : रीयलिटी (सर्वार्थसिद्धि) सूत्र-1, वीरशासन संघ,29 इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता 47
9. वही, पृ. 1-2
10. ए.सी.घोसाल : द्रव्यसंग्रह (अंग्रेजी टीका सहित) गाथा 50-54 तथा पृ. 113-119
11. जे.एल.जैनी आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, पेज-3
12. वही, पृ. 3-4

❑❑❑

अध्याय-5

लोक

लोक के जन्म और सृष्टि के विषय में बहुत सारी कल्पनाएँ हैं। लोक कैसे उत्पन्न हुआ? वह कौन सा आधार है जिस पर वह खड़ा हुआ है। कुछ साधु ऐसा कहते हैं कि वह शेषनाग के फण पर खड़ा है। हिन्दूधर्म सृष्टि के कार्य के विषय में दो सिद्धान्तों का प्रचार करता हुआ दिखाई देता है। सांख्य दर्शन कहता है कि लोक की उत्पत्ति प्रकृति की अन्योन्य क्रिया (मूल प्रकृति) तथा पुरुष के संयोग से होती है। पुरुष को व्यक्तिगत चैतन्य या प्रज्ञा भी कहते हैं। वेदान्त दर्शन कहता है कि लोक में प्रत्येक वस्तु जीव तथा जड़द्रव्य ईश्वर के निजी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है। वेदान्त दर्शन के द्वारा सृष्टि का उद्देश्य लीला या ब्रह्म की क्रीड़ा कही गयी है। यथार्थ में सृष्टि के विषय में हिन्दू धर्म ने ब्रह्मा-सृष्टिकर्त्ता, विष्णु-पालनकर्त्ता, शिव-प्रलयकर्ता; इनका त्रय स्वीकार किया है। डॉ.एस.राधाकृष्णन् ने उपनिषद् की सृष्टि का उद्देश्य यह कहा है। ऐसी वस्तु को उत्पन्न करना जिसमें मन तथा विज्ञान को आनन्द की ओर ले जा सकें[1]। बुद्ध ने लोक की उत्पत्ति तथा उसके प्रलय के विषय में की गयी कल्पनाओं को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने लोक को क्षणिक और निरन्तर धारा के रूप में वर्णित किया है। कोई भी वस्तु नित्य नहीं है तथा नित्यता का विचार प्रारंभिक अज्ञान का एक भाग है। उन्होंने तात्त्विक कल्पनाओं को व्यर्थ का परिश्रम कहकर हतोत्साहित किया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि तर्क पर विश्वास करो ताकि सत्य को प्राप्त कर सकें। किसी बड़े व्यक्ति के शब्द पर विश्वास मत करो।

ईसाई कहते हैं कि लोक ईश्वर की सृष्टि है। यह उनकी सरल प्रार्थना में कहा गया है। हे ईश्वर! आप जिसने कि स्वर्ग और पृथ्वी को बनाया तथा समुद्र एवं सब वस्तुओं को बनाया, वे सब उसी ईश्वर में हैं। जीसस के लिए ईश्वर स्वर्ग तथा पृथ्वी का स्वामी है। ईश्वर वह है जिसने कि अपने पुत्र का उदय बुराई और भलाई के लिए किया है तथा

जो ठीक है और जो ठीक नहीं है, उसके ऊपर वर्षा की है। यह उसका स्वर्गीय पिता है जो कि पक्षियों को खिलाता है तथा भूमि पर घास के कपड़े बिछाता है। उसके विषय में सेंटपाल का कहना है-हम रहते हैं और क्रियाशील बनते हैं तथा अपना अस्तित्व रखते हैं। इस प्रकार ईसाई धर्म की दृष्टि में ईश्वर सृष्टि का रचयिता है तथा उसमें प्रत्येक वस्तु पाई जाती है लोक की रचना के विषय में जो कि पुराण, कुरान पाया जाता है उसके विषय में एक कहानी जैसनेसिस में पाई जाती है। ईश्वर या अल्ला ने पृथ्वी की रचना दो दिनों में की तथा उसका पोषण सभी के लिए चार दिन में किया। उसने स्वर्गो की सृष्टि दो दिन में की।

जैन सृष्टि विज्ञानलोक को छह द्रव्यों से बना हुआ मानता है जिन्हें पारिभाषित रूप में द्रव्य कहते हैं। ये यथार्थ हैं तथा जीव और अजीव इन दो भागों में विभक्त हैं। विश्व गतिशील है, स्थिर नहीं है। यह सदैव परिवर्तनशील है तथा इसका ह्रास होता रहता है। यह सिद्धान्त यथार्थ और वैज्ञानिक है। न्यूटन के काल से लेकर भौतिकशास्त्र के सिद्धान्त बदलते हुए अनुभव में आ रहे हैं। उस क्षेत्र में इस प्रकार के उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं कि प्रायः करके विचारशील लोग सापेक्षवाद के सिद्धान्त से दुर्बोधों के द्वारा चक्कर में डाल देते हैं। उस सिद्धान्त ने पिण्ड की मौलिक अवधारणा तथा काल और आकाश के विषय में क्रान्ति कर दी है। इसने प्रत्यक्ष अनुभव तथा विश्व के रहस्यों के विषय में एक नई कुंजी दी है। जबकि जैनाचार्यों ने द्रव्य को जीव और अजीव दो भागों में विभाजित किया तब उन्होंने अजीव के पाँच भेद किये-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आत्मा भी एक द्रव्य है। इसका प्रमुख लक्षण चेतना है। इसमें उपयोग का गुण है जो कि ज्ञान और दर्शन से बना है। जीव समस्त कर्मों का कर्ता है। वह शरीर परिमाण होता है जो कि कर्मों का फल है। उसे छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा आकार मिलता है। एक शरीर माँ के गर्भ में माइक्रोस्कोपिक शक्ल में आता है किन्तु जब वह बाहर आता है तो अन्त में फिर सिकुड़ता है ताकि वह नये बीज में पुनर्जन्म ले। इससे द्योतित होता है कि आत्मा का परिणाम निश्चित नहीं रहता है। आधुनिक विज्ञान जीवन को प्रोटोप्लाज्म या जीवित शैल के रूप में पहचान करता है। यह अच्छी तरह जाना जाता है कि प्रोटोप्लाज्म एक उल्लेखनीय सिकुड़न के गुणधर्मों को रखता है; जबकि वह बाहर रूप में उद्दीपक होता है। आत्मा कर्म परमाणुओं के माध्यम से सुख-दुःख, जीवन और मरण का अनुभव करता है[3]। पुद्गल जैनदर्शन का एक विशिष्ट शब्द है इसका अर्थ होता है भौतिकद्रव्य और शक्ति। पुद्गल में रूप रहता है तथा जिसमें, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, रूप, गुण रहते हैं। पुद्गल द्रव्य के रूप हैं-ध्वनि, मेल,

सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत तथा उष्णता[4]। पुद्गल शब्द विस्तृत है जिसमें समस्त प्रकार के भौतिक द्रव्य समाहित होते हैं; चाहे वे ठोस रूप में हों, तरल हो, गैस के रूप में हों शक्ति के रूप में हों, या कर्म पुद्गल के रूप में हों। आइन्सटीन ने यह सिद्ध किया कि शक्ति एक पिण्ड है लेकिन उसका रूप नहीं है। जैन विचारक शक्ति को पुद्गल के रूप में मानते हैं तथा पुद्गल को स्कन्ध,अणु और परमाणु के रूप में विभाजित करते हैं। जो स्कंध,अणु तथा इलेक्ट्रोन से क्रमशः अनुरूप है। इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन ये पुद्गल के भिन्न-भिन्न रूप हैं, तथा इनमें अन्तर स्निग्ध और रुक्ष गुणके कारण से है।

लोक, अनन्त आत्माओं से भरा हुआ है। ये आत्मायें या तो संसारी हैं या मुक्त हैं। संसारी आत्मायें समस्त सत्ताओं के साथ संसार में रहती हैं। वे सूक्ष्म कर्म पुद्गलों के साथ मिली हुई हैं। जीवात्मायें जितनी इन्द्रियों वाली हैं, उतने प्रकार की हैं। पाँच इन्द्रियाँ हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और स्रोत्र। जिन जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय है वे हैं-पेड़, पौधे। दो, तीन आदि इन्द्रियों के उदाहरण हैं-क्रमि, पिपीलिका, मक्खियाँ। रीढ़दार सभी प्राणियों के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। पुनः वे दो भागों में विभक्त होते हैं। समनस्क मन सहित तथा अमनस्क मन रहित हैं। समनस्क बौद्धिक होते हैं जबकि नीची श्रेणी के तिर्यंच जो कि मन रहित होते हैं वे अमनस्क होते हैं। बौद्धिक में मनुष्य, देव आते हैं। इसके अतिरिक्त पाँच भूत पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश में जीव होते हैं। उनके शरीर पृथ्वी, जल,वायु तथा अग्नि से उनकी प्रकृति के अनुसार बनते हैं। ये प्रारंभिक जीव होते हैं जो या तो सूक्ष्म होते हैं या स्थूल। सूक्ष्म अदृश्य होते हैं। वृक्षों में भी सूक्ष्म जीव होते हैं। सूक्ष्म या दिखाई न पड़ने वाले जीव निगोद कहलाते हैं, वे अनन्तजीवों से मिलकर बनते हैं और बहुत छोटा उनका समूह होता है। उनका साँस लेना तथा पोषण सामान्य होता है। वे अत्यधिक तीव्र दुःखों का अनुभव करते हैं। अनन्त निगोदिया जीवों से मिलकर गोलिकाकार (गोली) बनती है। उनसे सारा संसार सघन रूप में भरा हुआ है जैसे कि बॉक्स में पाउडर भरा होता है। जो व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, उनकी जगह निगोद जीव भरते हैं। एक सूक्ष्म निगोद जीव के शरीर में इतने अनन्तानन्त जीव रहते हैं, जितने कि भूतकाल से लेकर आज तक निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं।

इस बात का प्रमाण है कि संसार किसी भी जीवधारियों से खाली नहीं होगा[5]। यदि अनन्त जीव भी मोक्ष चले जाए तो भी संसार जीवों से खाली नहीं होगा। यह निर्देश किया जा सकता है कि लोक के अन्त में पूर्ण शुद्धता के साथ मुक्त जीव रहते हैं।

धर्म वह द्रव्य है जो चलते हुए पुद्गल और जीव का सहायक होता है। यह गति में सहायक है। अधर्म पुद्गल और जीव को ठहरने में सहायक होता है। जिस प्रकार छाया यात्रियों को ठहराने में सहायक होती है; यह ठहरने का माध्यम है। ये दोनों अभौतिक अणुरहित, अनवरत माध्यम हैं जो कि लोकाकाश को व्याप्त कर रहे हैं। पूरे लोक के प्रदेश व्यावहारिक रूप से प्रदेशों से भरे हुए हैं। वे तत्त्व की विशेषता को रखते हैं। उनके परिवर्तन होता है, पुराना रूप धीरे-धीरे अदृश्य होता है, नया रूप प्रकट होता है तथा चक्र के अन्त में मूल ढाँचा पुनः रहता है। धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश में ही व्याप्त हैं। वे पूर्ण रूप से स्वरूप की दृष्टि से अभौतिक हैं एवं परमाणु रहित हैं तथा अखंडित हैं। उनमें पुद्गल के गुण (रूप) नहीं पाये जाते हैं। उनका ढाँचा आकाश का भी नहीं है जो कि आकाश प्रदेशों से रचित है। ये दो भौतिक द्रव्य सिद्धान्त पूर्णतया साधारण हैं, वे आकाशीय होते हुए भी अनाकाशीय हैं। वे अमूर्त और अरूप है। वे न हल्के हैं और न भारी। वे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं है। उनके अस्तित्व का अनुमान उनके कार्यों से लगता है। इन दो द्रव्यों के ये लक्षण हैं जो कि जैन भौतिक विज्ञान के विशिष्ट सिद्धान्त हैं[6]। जी. आर. जैन का कहना है कि धर्म द्रव्य के समान आधुनिक ईथर है किन्तु ईथर की परिकल्पना भी आजकल उलझन में डालती है। उनके अनुसार अधर्म द्रव्य आधुनिक वैज्ञानिक पर्यायवाची वह क्षेत्र है, जिसके माध्यम से वैश्विक एकता का संचार होता है। इस माध्यम से बिना आत्मा और अणु की कोई भी समनुगत पद्धति नहीं होती है। उसके न होने पर केवल अराजकता होगी, कोई भी विश्व संभव नहीं होगा। क्षेत्र ईथर के समान इतना अधिक है कि यह भी अभौतिक हो, अदृश्य हो, अनणु हो तथा अनवरत एवं निष्क्रिय माध्यम हो किन्तु इसकी क्रिया पूरी तरह विपरीत है। ये दोनों माध्यम लोक के छोटे से छोटे भाग में पिरोये हुए हैं तथा एक दूसरे के कार्य में विघ्न नहीं करते हैं। उन्होंने निष्कर्ष रूप में कहा है यह सूचना के योग्य है कि यद्यपि समस्त भारतीय दार्शनिकों ने संसार की सृष्टि को जानने में बहुत कष्ट उठाये हैं, किन्तु कोई भी उनमें से जैनों को छोड़कर धर्म और अधर्म के विषय में जो गति और स्थिति में सहायक रहें, नहीं सोच सका। इन दोनों के बिना एक स्थायी विश्व का ढाँचा असंभव और[7] अपूर्ण है। चूंकि जैन ईश्वर को एक बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता के रूप में कभी स्वीकार नहीं करते थे किन्तु वे विश्व की अवधारणा के विषय में स्थिर ढंग से कार्य कर चुके थे। जैन विचारकों के अनुसार आकाश का कार्य अवगाहन करना है तथा यह प्रत्येक दूसरे द्रव्य को अवकाश दे सकता है। इसका कोई रूप नहीं है तथा लोक के समस्त पदार्थ इसमें रहते हैं। यह नित्य और व्याप्त करने वाला है। यह सूक्ष्म द्रव्य है तथा दूसरे द्रव्यों को बाधा

नहीं पहुँचाता है। आकाश दो प्रकार का होता है लोकाकाश तथा अलोकाकाश। जैन तत्त्व विद्या के अनुसार विश्व के तीन भाग हैं- ऊर्ध्व लोक या ऊपरी विश्व, मध्यलोक या मध्यम विश्व तथा अधोलोक ये सबसे नीचे का लोक है। पहले में देव रहते हैं दूसरे में मनुष्य और दूसरे प्राणी रहते हैं, तीसरा नरक है; जिसमें कि नारकी रहते हैं। इस विश्व को घेरे हुए तीन प्रकार की वायु हैं, जो कि एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। सबसे नीचे की वायु आर्द्र है। मध्य की वायु घनी है तथा उसके ऊपर की वायु विरल है। इनके मध्य में लोकाकाश एक अदृश्य द्रव्य है जो कि दूसरे द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है तथा लोक के बराबर है। यह लोकाकाश है जिसमें कि दूसरे द्रव्य-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल ठहरते हैं[8]। अलोकाकाश शुद्ध आकाश है जो लोक के बाहर अनन्त है। इसके अन्दर कोई भी सजीव या अजीव पदार्थ नहीं है। धर्म और अधर्म के गति और स्थिरता का सिद्धान्त उसमें नहीं है। यह नित्य, अनन्त, अरूपी तथा सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञेय है। लोक में छठा द्रव्यकाल है। व्यवहारनय की दृष्टि से काल द्रव्यों के परिवर्तन में निमित्त है तथा यह परिवर्तनों से जाना जाता है जो कि द्रव्यों में पाये जाते हैं। काल स्वयं परिवर्तनों के कारण नहीं होता है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन में ये सहायक होता है। व्यवहारनय की दृष्टि से काल वर्ष, माह, दिन, घण्टे तथा मिनिट रूप में होता है जिसके द्वारा हम वस्तु को नया या पुराना कहते हैं तथा उनमें परिवर्तनों के लक्षण देखते हैं। काल नित्य है तथा अनन्त है। यह रूप रहित है। निश्चय काल की सत्ता का अनुमान परिवर्तनों से किया जा सकता है कि एक द्रव्य को भोगना होता है। उदाहरण के लिए जो कच्चे चावल में परिवर्तन होता है। समय आने पर बर्तन में तब तक के लिए वह डाला जाता है तब तक कि वह उबल नहीं जाता है। लोक अणुओं से भरा हुआ है वे दिखाई नहीं देते हैं, असंख्य हैं, निष्क्रिय हैं तथा रूप रहित हैं। इसक बिन्दु या टुकड़े (कालाणु) अलग से ठहरते हैं। अस्तित्व रखते हैं।

छह द्रव्यों में काल को छोड़कर अन्य द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। अस्ति का मतलब होता है कि अस्तित्व होना और काय का अर्थ है शरीर अर्थात् वह द्रव्य जिसके अनेक प्रदेश हैं। प्रदेश का लक्षण आकाश का हिस्सा है, जिसे पुद्गल का अविभागीय भाग कह सकते हैं। यह संभव है कि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर असंख्य अणु या स्कन्ध ठहर सकते हो; क्योंकि आकाश का लक्षण उन सभी को अवकाश देना है। काल स्वयं पर स्थित है तथा वस्तुओं के निरन्तर चलने में सहायक है। फ्रांस के बहुत बड़े दार्शनिक वर्गसाँ ने घोषणा की थी कि विश्व के विकास में काल एक एकाधिकारी तथ्य है। वे इस मत के हैं कि काल के बिना परिवर्तन और रूपान्तरण पूरी तरह से असंभव है।

यही मत जैन लेखकों का भी है[9]। लोक के अस्तित्व की दृष्टि से समय दो चक्रों में विभाजित है। उत्सर्पिणी काल या वृद्धि को प्राप्त करता हुआ चक्र, जिसका लक्षण है उन्नति तथा ज्ञान, उम्र और सुख का विकास। अवसर्पिणी काल या समय का ह्रास होता हुआ चक्र। जिसमें कि ज्ञान, उम्र इत्यादि में ह्रास होता रहता है इन तीनों चक्रों के छह भेद होते हैं। उत्सर्पिणी चक्र दुःखमा दुःखमा (अत्यधिक दुःख वाला), दुःखमा (दुःखवाला), दुःखमा सुखमा (दुःख मिला हुआ सुख), सुखमादुखमा (सुख में दुःख मिला हुआ), सुखमा (सुख), सुखमा सुखमा । अवसर्पिणी काल इसमें भिन्न क्रम में शुद्ध होता है जो कि अत्यधिक सुखमा काल से प्रारंभ होता है इससे ज्ञात होता है कि द्रव्य जो कि नित्य होते हैं तथा अविनाशी होते हैं उनकी अवस्था समय के दो चक्रों में बदलती रहती है। काल का विभाजन पूरे लोक पर लागू नहीं होता है किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रों के लिए लागू होता[10] है।

लोक का स्वरूप कमर पर हाथ रखे हुए तथा दोनों पैर फैलाए हुए पुरुष जैसा है। बगल की ओर से लोक का स्वरूप डेढ़ मृदङ्गों को साथ में रखने जैसा है। आधे मृदङ्ग को नीचे रखकर उसकी आवाज करने वाली साइड को ऊपर की ओर अर्थात् नीचे पूरे मृदङ्ग को आवाज करने वाली साइड के आगे रखो। यह पोला न होकर कठोर है जैसे वह पत्थरों से भरा हो, जैसी कि त्रिलोकसार में जिज्ञासु की भाषा में कहा गया[11] है।

लोक की नाप रज्जुओं से होती है, जिसका वर्णन करना कठिन है। लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। इसकी चौड़ाई पूर्व से पश्चिम तक नीचे सात राजू है। मध्य में चौड़ाई एक राजू है। मध्य के ऊपरी भाग में पाँच राजू है तथा पुनः ऊपर एक राजू है। इसकी मोटाई उत्तर से दक्षिण की ओर सात रज्जु सब मिलाकर है। लोक के अन्तिम शिखर पर सिद्धक्षेत्र है इसे सिद्ध शिला भी कहते हैं जो कि सिद्धात्माओं का निवास है। इसका रूप छाते के टोप के समान है या ओंधे रूप में (प्याले) के समान। मध्य में यह आठ योजन है। इसमें स्वतः चमक है। इसमें समस्त शुद्धात्माएँ नित्य सुख से रहती हैं। वे कर्मों से स्वतंत्र हैं। आत्माएं लोक के अन्त तक जाती हैं। धर्म द्रव्य लोक के अन्त तक है अतः मुक्तात्माएँ सदैव के लिए वहाँ निवास करती हैं। वे यहाँ पर अपनी शुद्धात्मा में निवास करती हैं तथा अपने यथार्थ, नित्य, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली भगवत्ता में निवास करती हैं। सिद्धशिला लोक और अलोक के बीच का मध्यवर्ती अन्तरिक्ष है। अलोक में छः द्रव्य नहीं है जो कि लोक में हैं। एक शब्द में अलोक लोक का निषेधात्मक है; रचना में तथा चरित्र में भी[12]।

जैन खगोलविद्या यह कहती है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य इसके चारों ओर चक्कर काटता है। यह टालमी का भी दृष्टिकोण था। कोपरनिकस ने इसके विपरीत विचार रखा, जिसके अनुसार पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर रहता है। प्रो. आइन्सटीन के सापेक्षवाद सिद्धान्त के आने के पहले टालमी का दृष्टिकोण बेतुका तथा मूर्खतापूर्ण माना गया। अब यह घोषित हो गया है कि पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने की अवधारणा सुविधा का विषय है। गणितीय सहूलियत का विषय नहीं[13] है। जी.आर.जैन ने होम्वर्ग विश्वविद्यालय के भाषण का जो कि उन्होंने देहली में 30 जनवरी, 1928 को दिया था उसे उद्धृत करते हुए कहा है जिसे विश्व के ढाँचे का पूरा ज्ञान है, वह जैन विचारों के आन्तरिक तर्क और सामंजस्य की प्रशंसा किये वगैर नहीं रह सकता। हाथ के हाथ सूक्ष्म अन्तरिक्ष विद्या सम्बन्धी विचार खगोल विद्या और गणित के उच्च स्तर पर जाता है। भारतीय खगोल विद्या का इतिहास सुप्रसिद्ध सूर्यप्रज्ञप्ति के बिना विचार करने योग्य नहीं हो सकता[14]। इसाक एसीमोव जब पृथ्वी की सामान्य शक्ल के विषय में वर्णन कर रहे थे तो उन्होंने यूनानियों के समय के पूर्व यह कल्पना की थी कि पृथ्वी समतल है, जैसी कि यह होती हुई दिखाई पड़ती है। इसमें पर्वत और घाटियों की रोक है। यह यूनानी भिन्न रूप सोचें तो उसका नाम हमें पता नहीं तथा उसके विचार का अभिलेख शेष नहीं रहा। वह यह विचार करता हुआ प्रतीत होता है कि एक समतल होने की कल्पना कितनी ही अधिक सामान्य अभिप्राय वाली हो, किन्तु किसी को भी बहुत गम्भीर दार्शनिक कठिनाईयों में डाल देती है[15]।

वैज्ञानिक खोजें हमारे ज्ञान में परिवर्तन कर रही हैं तथा मनुष्य कभी भी प्रकृति की वास्तविकता को जानने में समर्थ नहीं हो सकता है। अब और तब नए-नए सिद्धान्त प्रचारित किए जा रहे हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति इस बात को नहीं जानता है कि तत्त्वविद्या विषयक यह बड़ा प्रश्न अन्तिम रूप में हल होगा।

संक्षेप में यह पाया जाएगा कि जैनधर्म का लोक के प्रति विधेयात्मक दृष्टिकोण है। यह जीव को मानता है और पाँच अन्य द्रव्यों को अजीव के अन्तर्गत मानता है, ये सब यथार्थ और अस्तित्वमय हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी वास्तविकता बनाए हुए है। यद्यपि यह परिमार्जन और ह्रास के योग्य है। परिवर्तन के होते हुए भी द्रव्य की सत्ता है। उमास्वामी ने सही शब्दों में कहा कि छहों द्रव्य सत् सामान्य के अन्तर्गत आते हैं। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत्[16] है। ध्रौव्य का अर्थ है-द्रव्य का नष्ट नहीं होना। यद्यपि जैकोवी ने जैन मान्यताओं की यह कहकर आलोचना की है कि इसका कोई केन्द्रीय विचार नहीं है, किन्तु बाद में उन्होंने अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार किया। अब मैंने

जैनदर्शन को एक भिन्न आलोक में सीखा। इसकी तत्त्वविद्या अपनी निजी है, जो ब्राह्मण और बौद्धधर्म जैसे प्रतिद्वन्द्वी धर्म के रहते हुए भी अपनी एक विशिष्ट स्थिति को सुरक्षित रखे हुए है[17]। यह तथ्य कि जैकोबी जैसे विद्वान् जो प्रारंभ में जैन तत्त्वविद्या के समालोचक थे; किन्तु बाद में उन्होंने जैन विचारों को मान्यता दी। सम्पूर्ण रूप में इससे सुनिश्चय होता है कि खुले हृदय से की गई पहुँच हमें यह निश्चय कराती है कि जैन पद्धति के प्रति की गई खुले दिलवाली पहुँच जैन तत्त्वविद्या की सही समझ के परिणाम के प्रति प्रतिबद्ध[18] है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. एस.राधाकृष्णन् : रिकवरी ऑफ फेथ, पृ. 78 (पेपर बैक) हिन्द पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, देहली-32
2. ए.एल. बाशम : द वण्डर देट वाज इण्डिया, पृ. 270 मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क
3. जी.आर.जैन : कॉसमोलोजी : ओल्ड एण्ड न्यू, पृ. 236 द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ (सी-1)
4. एस.सी. घोषाल : द्रव्य संग्रह (अंग्रेजी टीका सहित), सेक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनाज, जिल्द-1, गाथा-15-16, सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा (इण्डिया)
5. हर्मन जैकोबी : स्टडीज इन जैनिज्म, पृ. 23-24, जैन साहित्य संशोधक कार्यालय, अहमदाबाद।
6. ए.चक्रवर्ती : पंचास्तिकाय बिद इण्ट्रोडक्शन पृ. 26, सेक्रिड बुक्स ऑफ दि जैनाज, जिल्द-3 सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग, आरा (इण्डिया)
7. जी.आर.जैन : कोस्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ.156 द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
8. एस.सी. घोषाल : द्रव्यसंग्रह टीका, पृ. 58-59
9. जी.आर.जैन : कोसमोलाजी, ओल्ड एण्ड न्यू, पृ. 156
10. जे. एल. जैन : आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, एपेण्डिक्स- II, पृ. 119, लखनऊ
11. जे.एल.जैन - द जैन यूनिवर्स, पृ.-2, द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
12. वही, पृ. 8-10
13. जी.आर.जैन : कोसमोलोजी, ओल्ड एण्ड न्यू, पृ. 7-9
14. वही, पृ. 9-10
15. इसाक असिमोव : द यूनिवर्स, पृ. 2, 4
16. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (Reality : English Translation by S.R.Jaina) अध्याय -5, सूत्र 20-31
17. हर्मन जैकोबी : स्टडीज इन जैनिज्म, पृ. 48
18. एस.गोपालन्न : आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 48, पृ. 124 विले ईस्टर्न प्राइवेट, लिमिटेड, नई दिल्ली-47

❑❑❑

अध्याय-6

जीव या आत्मा का सिद्धान्त

तत्त्वविद्या में मनुष्य विभिन्न युगों और दर्शन के स्तरों में आत्मा और अनात्मा का निरीक्षण करता रहा है तथा उसने सदैव देवता या किसी अन्य का गुणगान किया है या दोनों के बीच कुछ समझौता किया है। उसने या तो एक द्रव्य को व्यवस्थित किया है, जैसे वेदान्ती का ब्रह्म या भौतिकवादी का जड़ द्रव्य या अनेक द्रव्य व्यवस्थित किए हैं जैसे सांख्य ने दो द्रव्य माने हैं। जैनधर्म ने सामान्य अभिप्राय के आधार पर अपनी नींव रखी है, जिसे अपने लिए प्रत्येक प्रमाणित कर सकता है[1]।

जैसा हि हम पहले ही देख चुके हैं, जैन विचारक विश्व का विभाजन दो स्वतन्त्र श्रेणी के रूप में करते हैं- जीव और अजीव। ये दोनों द्रव्य चिरस्थायी अरचित तथा सह-अस्तित्व वाले हैं। यह विभाजन तार्किक, पूर्ण और सामना करने योग्य है[2]।

प्रत्येक धर्म का गान 'अपने आपको जानो' रहा है। अतः प्रत्येक दर्शन का केन्द्रीय विषय, जीवन का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार का प्रचार करना है, जिसे कि किसी ने आत्मा या जीव कहा है। सभी हिन्दू दार्शनिक आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। किन्तु इस पर विचार भिन्न-भिन्न रूपों में करते हैं। कुछ सोचते हैं कि यह एक द्रव्य है, जो कि स्वयं नहीं चैतन्य है, इसका अनुभव ज्ञान और क्रिया द्वारा हो सकता है (नैयायिक तथा प्रभाकर मीमांसक)। दूसरों का कहना है कि यह स्वयं आत्म चैतन्य है (सांख्य, भट्ट, मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती)। कुछ इसे प्रारम्भिक स्वरूप समझते हैं; जो कि सारी मुसीबतों और पापों से रहित है, जब कि दूसरे सोचते हैं कि यह सुख तथा पवित्रता का स्वरूप है। इनमें से सभी निम्नलिखित बिन्दुओं पर सहमत हैं। आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न इन्द्रियाँ हैं। ये सभी भौतिक हैं, आत्मा नित्य है। यह दुःखों और पापों से रहित है, किन्तु शरीर में रहने के कारण तन-मन और इन्द्रियों से जुड़ाव के कारण यह सोचता है, क्रियाशील होता है और अनुभव करता है। आत्मा जो कि जन्म और मृत्यु के क्रम में

संलग्न है, आदि रहित है, किन्तु जब यह मोक्ष प्राप्त करता है तो यह जन्म और मृत्यु का अन्त कर देता[3] है। मौलिक रूप में समस्त आत्माएं प्रकृति में एक जैसी हैं किन्तु कर्म की प्रक्रिया में अन्तर है। अत्यधिक उन्नत क्रम आत्मा के द्वारा ब्रह्मात्मा की प्राप्ति है। प्रायः कर उद्धृत किया हुआ कथन है। एक अद्वितीय दैवीय तथा मानवीय एकता का सिद्धान्त वेदान्त दर्शन का मूल है जो प्रारंभिक उपनिषदों में अविभक्त हुआ है।

शंकराचार्य ने इस बात का प्रचार किया कि ब्रह्म ही सत्य है। विश्व विवर्त या यथार्थ के आभास के सिद्धान्त पर बना है; जो वास्तव में है[4] नहीं। ब्रह्म विश्व में पूर्ण सत्य है। यह विचारों का अद्वैत मत है। जबकि सांख्य दर्शन सत् को दो सिद्धान्तों पर आधारित मानता है- 1. प्रकृति (जड़) 2. पुरुष (चैतन्य)। ये दोनों सत्य के स्वतंत्र पहलू हैं। पुरुष केवल चैतन्य है और अधिक नहीं। यह अनन्त आत्माओं को स्वीकार करता है। यह प्रकृति है कि जिसमें विश्व के समस्त दृश्य पदार्थ निर्गमित होते हैं जिस प्रकार कि सूक्ष्म द्रव्य जैसे बुद्धि, अहंकार तथा मन। प्रकृति के मूलगुण सत्व, रजस् और तमस् हैं तथा परिवर्तन जोकि स्थान ग्रहण करता है, वह विभिन्न प्रकार के मिश्रणों का आरोपण है। विशिष्टाद्वैत अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार ब्रह्म या सत्ता दो नहीं हैं बल्कि एक पूर्ण का मिश्रण है जो कि अपने आप में एक या अनेक रूप में जुड़ता है। शंकर के पूर्णाद्वैत के विपरीत जिसमें कि भेद मिट जाता है (रामानुजदर्शन)। भेद केवल मन की रचना के रूप में एक तरफ नहीं रहता अतः यह माया के समान मालूम पड़ता है किन्तु चिरस्थायी सत्ता के साथ में इसका एकीकरण होता है। पूरी संसृति वास्तविकत्रय से बनी हुई है- अचित्, चित् तथा ईश्वर। ये क्रमशः भौतिक वस्तुओं के सिद्धान्तों पर व्यक्तिगत आत्मा तथा ईश्वर के सिद्धान्त पर खड़े हुए हैं। एक ओर ईश्वर तथा चित् के बीच तथा दूसरी ओर ईश्वर तथा अचित् के बीच। द्रव्य तथा इसके गुण तुल्य रूप हैं। इस प्रकार पूर्ण एक संसृति है जो एक विश्व तथा उसके सहायकों पर आधारित है। वैशेषिक दर्शन आत्मा के बहुत्व तथा लोक की वास्तविकता को भी मानता है। अनुभव करना, इच्छा करना और सोचना आत्मा की क्रिया के रूप में माने गये हैं[6]।

ये भेद बहुत अधिक व्यावहारिक नहीं हैं क्योंकि ये मोक्ष होने के बाद में आत्मा की स्थिति की अवधारणा के विषय में रूपान्तरण करते हैं। जैनदार्शनिकों ने जीव के लक्षण दो दृष्टियों से किये हैं- 1. व्यवहारनय 2. निश्चयनय । व्यवहार सामान्य प्रचलित दृष्टि है। यह सामान्य अभिप्राय है जिसमें कि मनुष्य उस वस्तु के विषय में जैसा देखा है या जैसा जाना है, वैसा बोलता है। यह वह दृष्टि है जिसे मनुष्य सामान्य रूप में

लेता है (व्यवहारो जिनोदितम्) । निश्चय नय का अर्थ है वास्तविक दृष्टि। यह वास्तविकता के प्रकाशन के रूप में चिह्नित होती है तथा वर्णन में संक्षिप्त होती है। यह तत्त्व का वह वर्णन है जिसे प्रचलित बातचीत या वर्णन में नजरन्दाज किया जाता है। उदाहरणार्थ जब हम एक स्याही की दवात कहते हैं तो हमें कहना चाहिए कि दवात धातु की, काँच की या चीनी मिट्टी की बनी हुई है और हम अवश्य रूप में कह सकते हैं कि स्याही लाल है, नीली है, या काली है।

यह संसार जैसा है, वैसा नहीं मिलता है। जीवित द्रव्य अजीव द्रव्य से मिश्रित पाया जाता है। सामान्य रूप में जीव का अनुवाद आत्मा या जीवित वस्तु के रूप में किया जाता है। एक औसतन व्यक्ति अज्ञान के कारण से अपने शरीर को आत्म मानता है तथा समस्त विचार और सावधानी अपने शरीर को आराम देने में रखता है हमारे दुःखों का मूल कारण हमारी अज्ञानता के मूल वैशिष्ट्य में निहित है।

जैनदर्शन के अनुसार जीव किसी के द्वारा रचा हुआ नहीं है तथा इसका विनाश नहीं होता है जैसे कि पहले सूचना दी जा चुकी है। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं जिनसे लोक बना है। जीव का मूल लक्षण चैतन्य है, जो कि जीवन का प्रमाण चिह्न और केन्द्र है। उपयोग इसका छिपा हुआ लक्षण है क्योंकि इसके बिना इसमें ज्ञान नहीं होता है या किसी भी ज्ञान की पूर्व शर्त है। व्यवहारनय की दृष्टि से जीव में चार प्राण हैं-बल इन्द्रिय, आयु और आन-पान (श्वासोच्छ्वास) इनको वह भविष्य में भी रखेगा। इन्द्रिय पाँच हैं जैसे देखना, सुनना, छूना, स्वाद लेना तथा सूँघना। बल तीन प्रकार का होता है शरीर, वचन और मन की क्रिया। व्यवहारनय की दृष्टि से ये प्राण जीवों के लक्षण हैं यदि हम निश्चय नय से कहें तो ये सब चैतन्य के प्रकाशन हैं। चैतन्य जिसे लाक्षणिक रूप में उपयोग भी कहते हैं, दो रूपों में अभिव्यक्त होता है- दर्शन तथा ज्ञान। दर्शन और ज्ञान में यह अन्तर है कि दर्शन में वस्तु के समस्त गुणों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता जबकि ज्ञान में सभी प्रकार के विस्तार की जानकारी होती है। इन दो शब्दों के विषय जो कि जैनदर्शन में मुक्त रूप से घटित होते हैं, स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। दर्शन ज्ञा की प्राप्ति के मध्य का स्तर है। इन्द्रियों का सम्बन्ध जिससे कि ज्ञान की पहल होती सबसे पहले चैतन्य को अनुप्राणित करता है तथा इस स्तर में वस्तु की उपस्थिति विषय में केवल जागरूकता रहती है वहाँ पर केवल एक अनिश्चित विचार वस्तु विषय में प्रश्न करने पर रहता है। वस्तु के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं रहती है औ स्वाभाविक रूप में वस्तु को पहचानने का कोई प्रश्न नहीं रहता है कि वह किस विशे वर्ग या समुदाय से सम्बन्धित है। विश्लेषण की प्रक्रिया जो कि मनुष्य के मन में छिपी हुई

वह इन्द्रिय की जागरूकता के रूपान्तर को शक्ति प्रदान करती है जिससे इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। वस्तु का अस्पष्ट चैतन्य जो कि इन्द्रियों के सामने उपस्थित किया गया है उसका स्थान एक सुनिश्चित वर्ग वैशिष्ट्य के रूप में ज्ञात होता है। वस्तु का भेद शिथिल हो जाता है। तथा यह ज्ञान के प्रभाव क्षेत्र के पुनः विस्तार के रास्ते को पाटता है[8]।

इस बिन्दु पर मतभेद हैं। हेमचन्द्र के अनुसार दर्शन वस्तु की वह पहचान है, जो कि इन्द्रिय तथा वस्तु के सम्पर्क के तत्काल बाद स्थान ग्रहण नहीं करता। उनके अनुसार दर्शन वह पदार्थ है जो कि ज्ञान के रूप में रूपान्तरित होता है। यह एक स्थापित सत्य है कि जिसका कोई अस्तित्व नहीं है, ऐसी किसी वस्तु का उत्पादन नहीं होता। इस प्रकार जिसका अस्तित्व नहीं है वह पूरी तरह नष्ट होती है। दर्शन स्वयं क्रमिक अवस्था में रूपान्तरित होता है। इसी का नाम ज्ञान है[9]। दर्शन अधिक या कम ज्ञान का पहला स्तर है। यह बिना विस्तार का भी हो सकता है तथा एक अनिश्चित ज्ञान को भी रख सकता है। ज्ञान विस्तार की जानकारी में निहित होता है।

दर्शन के चार भेद हैं- चक्ष दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन तथा केवलदर्शन। चक्षु के द्वारा देखना चक्षुदर्शन है। मन से कान, नाक, जीभ तथा स्पर्श के द्वारा देखना अचक्षुदर्शन है। ये सारे दर्शन चक्षु के बिना होते हैं, अतः इन्हें अचक्षु दर्शन कहते हैं। अवधिदर्शन वह दर्शन है जो आत्मा से सीधे-सीधे आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों से ज्ञात होता है[10] है कि इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान हो सकता है, इन्द्रियों तथा मन के बिना भी ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार का प्रतिभास जैसे अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान अतीन्द्रिय श्रवण तथा इसी प्रकार के ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न की प्रामाणिकता के लिए रिकार्ड किये गये हैं। इस प्रकार की शक्ति जिनमें विद्यमान हैं वे दूसरे व्यक्ति के गुप्त विचार भी अपनी इन्द्रियों की सहायता के बिना ग्रहण करने की ताकत रखते हैं। वे दूर अन्तरिक्ष और काल की घटनाओं का प्रत्यक्ष भी कर लेते हैं। अत्याधुनिक बहुत से मनोवैज्ञानिक जैसे मेक्डोगल, एच.एच. प्राईस तथा इसरो ने इस बात की पहचान की है कि पुराने विश्वास की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। मनःपर्यय तथा अवधिज्ञान मनुष्यों में ज्ञान के बड़े विकल्प हैं। जिनके माध्यम से इन्द्रियों के द्वारा सूचना की प्राप्ति संभव नहीं होती है उनको इनके माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। केवलदर्शन में वर्तमान, भूत और भविष्यत् कालीन अस्तित्व को जानने की शक्ति है। ज्ञान आठ प्रकार का होता है-

1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधि ज्ञान 4. मनःपर्यय ज्ञान 5. केवलज्ञान 6. कुमति 7. कुश्रुत 8. विभंगावधिज्ञान। अंतिम तीन विपरीत ज्ञान हैं उल्लेखनीय है कि

जब आचार्य नेमिचन्द्र अंपने 'द्रव्य संग्रह' में ज्ञान का दर्शन के बाद उल्लेख करते हैं तब उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान का पहले उल्लेख किया और दर्शन का बाद में किया। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' की टीका में क्रहा है कि दर्शन की अपेक्षा ज्ञान पूज्य है। मतिज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियों के सहारे से उद्गमित होता है। इसमें वह ज्ञान भी सम्मिलित होता है जो कि मन की क्रिया के रूप में उदय होता है। श्रुतज्ञान वह ज्ञान है जो कि श्रुत से निकलता है या उनको पढ़ने से या जहाँ वे पढ़े जाते हैं, वहाँ सुनने से इसे शब्द ज्ञान भी कहते हैं। यह मतिज्ञान से भिन्न है जो कि शब्द ज्ञान नहीं है। भद्रबाहु ने बुद्धि के आठ गुणों की व्याख्या की है जो कि श्रुतज्ञान के लिए आवश्यक हैं। वे हैं-सुनने की शक्ति, इच्छा, बारबार प्रश्न करना, ध्यान लगाकर सुनना, ग्रहण करना, पूछताछ करना, दोषसिद्धि, धारणा तथा सही कार्यवाही करना। जो कुछ लिखा गया है उसे समझने की योग्यता पर सीखना[11] निर्भर है। दोनों में भेद यह है कि मतिज्ञान में किसी भाषा की बाह्य सहायक नहीं है या संकेत की सहायता नहीं है जबकि श्रुतज्ञान में ज्ञान आगम से निर्गमित होता है। यह जो कुछ पढ़ा गया है या सुना गया है उसमें रुकावट नहीं डालता है किन्तु यह विचारों में विकसित होता है तथा व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार कार्य करता है।

तीसरे प्रकार का ज्ञान अवधि ज्ञान है। यह सीधे रूप में आत्मा से प्राप्त किया जा सकता है। इसमें इन्द्रियों तथा मन की सहायता नहीं ली जाती है। सम्मोहन की अवस्था का ज्ञान अवधि ज्ञान के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध रूप में एक छिपी हुई शक्ति रखता है जिससे सभी वस्तुओं की जानकारी होती है इसमें समय की रुकावट नहीं है। यह उन वस्तुओं का ज्ञान है जो शक्ल ग्रहण करती है तथा जिनका उद्गम अन्तः प्रज्ञा से होता है। अन्तः प्रज्ञा भिन्न-भिन्न मनुष्यों के क्षेत्र तथा टिकाऊपने के अनुसार गुणवत्ता में भिन्न-भिन्न होती है। वह व्यक्ति जो अवधिज्ञान के सर्वोच्च प्रकार में अन्तः प्रज्ञा के द्वारा समस्त वस्तुओं को[12] जान लेता है। जिनका रूप होता है स्थान के बिन्दु में उसकी अन्तः प्रज्ञा अन्तरिक्ष में विस्तीर्ण होती है ताकि वह अगणित आकाश क्षेत्र को ग्रहण कर सके। जहाँ तक काल का सवाल है यह चक्र की अगणित संख्या में भूत तथा भविष्यत् को प्रतिबिम्ब करता है। जहाँ तक रूपों की बात है यह अगणित संख्या में वस्तुओं को जान सकता है। मनः पर्ययज्ञान दूसरे के ज्ञान की जानकारी करता है उसे टेलीपैथी भी कहते हैं। यह मनुष्यों में ही होती है। योग्यता के अनुसार उन व्यक्तियों में होती है जो चारित्रयुक्त (अनगार) होते[13] हैं।

पूज्यपाद देवनन्दि ने इसका लक्षण इस प्रकार से किया है। आत्मा में जो दूसरे मन के सम्बन्ध से उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। **शंका-** यह ज्ञान मन के सम्बन्ध से होता है अतः इसे मतिज्ञान होने का प्रसंग आता है। **समाधान-** नहीं, यहाँ मन की अपेक्षा मात्र है, दूसरे के मन में अवस्थित अर्थ को यह जानता है इतनी मात्र मन की अपेक्षा है। इनमें से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा से जघन्य से जीवों के दो-तीन भवों को ग्रहण करता है और उत्कृष्ट रूप से सात-आठ भवों को ग्रहण करता है। यह वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम और अंगोपांगनाम कर्म के आलम्बन से होता है। मन की अपेक्षा का उदाहरण यह है कि आकाश में चन्द्रमा को देखो। इसमें आकाश की अपेक्षा मात्र है। यथार्थ में तो चन्द्रमा को देखना ही बतलाया है[14]। मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का होता है- ऋजुमति और विपुलमति[15]। इनमें से ऋजुमति दूसरे के मन का सहारा लेता है। यह दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मन के द्वारा किये हुए अर्थ के विज्ञान से निर्वृत्त होता है। विपुल का अर्थ है अनिवर्तित और कुटिल। दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मन कृत अर्थ के विज्ञान से अनिवर्तित। जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। यहाँ एक ही मति शब्द पर्याप्त होने से दूसरे मति का प्रयोग नहीं किया। विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में अन्तर है। मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा में निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। गिरने का नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात है। उपशांत कषाय जीव का चारित्र मोहनीय के उदय से संयम के शिखर से छूट जाता है, जिससे प्रतिपात होता है और क्षीण कषाय जीव का पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता। इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद है, विशुद्धि की अपेक्षा ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। **शंका-** कैसे ? **समाधान-** यहाँ जो कार्माण द्रव्य का अनन्तवाँ अंतिम भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है, उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमति का विषय है और इस ऋजुमति से विषय के अनन्त भाग करने पर जो अंतिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमति का विषय है। अनन्त के अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा विशुद्धि कही। भाव की अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करने वाला होने से ही जान लेनी चाहिए; क्योंकि इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि पायी जाती है, इसलिए ऋजुमति से विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपात की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट

है; क्योंकि इसके स्वामियों के प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

मनः पर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान में अन्तर विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा है। मनःपर्यय ज्ञान समस्त मामलों में अवधि ज्ञान से अधिक विशुद्ध है। मनः पर्ययज्ञान उन साधुओं के उत्पन्न होता है जिनका उच्च चारित्र होता है और जो सातवें गुण स्थान से लेकर के बारहवें गुणस्थान तक मोह का क्षय करते हैं। साधुओं में भी यह उनके होता है जो आत्मिक रूप से उच्च से उच्च होते हैं। अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तिर्यंचों के हो सकता है। दोनों में अन्तर इनके स्वामियों के ऊपर निर्भर[12] है। यह निर्देश करना बहुत दिलचस्प है कि पश्चिमी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के प्रतिमान में भी अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान मेगडोगल तथा प्रो. एच.एच.प्राईस जैसे मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिए हैं। एच.एच.प्राईस का कहना है कि अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान प्रमाण प्रचुर और अच्छी मात्रा में है। डॉ. रॉयन ने अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय में अच्छा कार्य किया है। उनका कहना है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जो कि अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के रूप में है, वह वास्तविक तथा प्रदर्शन करने योग्य घटना है। यह इन्द्रियजन्य प्रतिभास नहीं है[13]।

केवलज्ञान सर्वज्ञता है। आत्मा अपने शुद्ध और मुक्त अवस्था में समस्त द्रव्य तथा उनके गुण और पर्यायों को जान सकता है। उमास्वामी ने कहा है कि केवलज्ञान समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को जानता है[19]। सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्येक चीज आती है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान, जिनकी यहाँ गणना की गयी है तथा जिनके विषय में विचार किया गया है, वे इस तथ्य का निर्देश करते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान, ज्ञान का उन्नतिशील विकास है। सर्वज्ञता वह अन्तिम बिन्दु है जो ज्ञान के सहारे प्राप्त होता है, जबकि वह जीवात्मा समस्त प्रकार के कर्मों के आवरण से मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न नहीं होता है। इस कारण यह उन वस्तुओं को जान लेता है जो अतीन्द्रिय हैं। यह क्रमशः उत्पन्न नहीं होता है किन्तु एक साथ उत्पन्न होता है अतः यह लोक के समस्त पदार्थों को एक और उसी समय जानता है; क्योंकि यह देश और काल की सीमा से परे है। सर्वज्ञ आत्मा शुद्ध तथा पूर्ण है अतः भ्रम का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। सर्वज्ञ जो भूतकाल में है, उसे भूतकाल रूप में जानते हैं और जो भविष्य काल में होने वाला है, उसे भविष्य के रूप में जानते हैं। कर्मों के आवरण के पूरी तरह से नष्ट होने के कारण सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से आत्मा से स्वतंत्र रूप से

उपस्थित होता है। यह बाह्य इन्द्रिय और मन का सहारा नहीं लेता है[20]। मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है- मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान और अवधिअज्ञान। मिथ्याज्ञान मिथ्या जुड़ाव है, रवैया और भेद का प्रतिफल हैं। भेदज्ञान सम्यग्ज्ञान के लिए आवश्यक है। विचारों में स्पष्टता की चाह के लिए सम्यग्ज्ञान उत्तरदायी है। मिथ्याज्ञान के कारण वस्तुओं में मिथ्यागुण का आरोप किया जाता है। विचारों का प्रकाशन वास्तविक की अपेक्षा काल्पनिक अधिक होता है। एक या अधिक ये तथ्य मिथ्याश्रुत तथा विभंगावधि इन्द्रिय ज्ञान के लिए उत्तरदायी हैं।

दूसरी दृष्टि से ज्ञान दो भागों में विभक्त है-प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो ज्ञानों में अन्तर माध्यम के कारण है, जिसके द्वारा यह निर्गमित हुआ। वह ज्ञान जो इन्द्रियों और मन से उद्गमित हुआ, वह अप्रत्यक्ष ज्ञान है। जैन विचारकों के अनुसार मन अनिन्द्रिय या इन्द्रिय रहित है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में इन्द्रियों के अंगों का स्थान है, जबकि मन का शरीर से कोई जुड़ाव नहीं है। यह ज्ञान का आभ्यन्तर अंग है तथा आत्मा के सुख दुःख में सहायक होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत आते हैं; क्योंकि इनका उद्गम इन्द्रिय और मन के माध्यम से होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

जैन मनोविज्ञान मतिज्ञान के चार स्तर मानता है- 1. अवग्रह 2. ईहा 3. अवाय 4. धारणा। **अवग्रह** - किसी वस्तु का प्रत्यक्ष या उसके प्रति जागरूकता उत्पन्न करता है। जागरूकता चैतन्य को झकझोरती है। यह अनिश्चायक है तथा एक वस्तु के सामान्य लक्षणों को पहचानती है। **ईहा** - विशेष जानने की इच्छा। यह वस्तु के प्रति सामान्य जागरूकता का अनुसरण करती है। विशेष आकांक्षा या पुनः पूछताछ विशिष्ट प्रकार की जागरूकता की ओर बढ़ाती है जिससे कि विशेष लक्षण का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिए संवेदन में हम एक आवाज सुनते हैं, किन्तु उसके स्वरूप को नहीं समझते हैं। वहाँ पर हम केवल आवाज को पहचानते हैं। ईहा में हम आवाज के स्वरूप को बड़ी हद तक पहचानते हैं। संवेदन वस्तु के केवल एक भाग को पहचानता है जबकि ईहा शेष बचे हुए को पहचानता है तथा सुनिश्चितता के लिए विशिष्ट लक्षणों को पहचानता है। ईहा किसी वस्तु के प्रति विशिष्ट इरादे को पहचानता है, जिसका संवेदना के द्वारा विशेष ज्ञान हुआ है। वह मानसिक अवस्था जो कि सत्य की, सुनिश्चित की पहचान तर्क के आधार पर करता है, जिसका झुकाव सत्य को स्वीकार करने और असत्य को रद्द करने के प्रति होता है उसे ईहा कहते[21] हैं। **अवाय** - निरन्तर निर्णय को कहते हैं जो कि सही

का निश्चय करता है और गलत को निकालता है। यह सत्तात्मक गुणों का निश्चय करता है तथा असत्तात्मक गुणों को बाहर करता है। **धारणा** - निरन्तर निर्णय का अनुसरण करती है जो एक निश्चित समय तक इकट्ठे किये गये हैं। यह सुस्पष्ट है कि जैन मनोविज्ञान स्मृति को ज्ञान का दृश्य रूप मानती है। स्मृति धारणा की शक्ति है तथा यह मानसिक प्रभावों का पुनरुत्पादन करती है। उसका प्रतिरूप वह है जिसकी भूतकाल में अनुभूति की थी। यह मतिज्ञान का भाग है।

निश्चयनय की दृष्टि से जीव शुद्ध दर्शन और ज्ञान है, जबकि व्यवहारनय की दृष्टि से दर्शन चार प्रकार का है, जबकि ज्ञान आठ प्रकार का है, जैसा कि वर्णन किया जा चुका है। जैनधर्म प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से निरीक्षण करता है। हठधर्मितापूर्ण निश्चय या निर्णय नहीं करता है। न्याय दर्शन गुण की एकता और उसको रखने वाले को मान्य नहीं करता है, जबकि जैनधर्म दोनों के मध्य की एकता को पहचानता है। यह स्पष्ट रूप से पंचास्तिकाय में कहा गया है कि दर्शन और ज्ञान जीव के साथ एक रूप हैं और उससे भिन्न[22] नहीं हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि इस संसार में जीव को हम किसी रूप में देखते हैं। यद्यपि निश्चयनय की दृष्टि से जीव का कोई रूप नहीं है। इसका न तो रंग है, न स्वाद है, न गंध है, न स्पर्श है। अपने स्वाभाविक रूप से जीव अदृश्य है। पुद्गल के साथ जुड़ाव और मिलने से या कर्म पुद्गलों के कारण यह दृश्य होता है, जबकि कर्म पुद्गलों से बँधा हो। इसी कारण उसमें रूप, स्पर्श, रस, गंध तथा रंग की उसमें विशेषता होती है। जीव बन्धन में रहने तथा परावर्तन करने के कारण संसारी कहलाते हैं। जीव कर्मों के फल को भोगता है।

जीव अरूपी है, किन्तु जब यह शरीरधारी होता है तो यह शरीर के बराबर आकार ग्रहण करता है। इसमें ऊर्ध्वगति करने का स्वभाव है। जीव या तो छोटा या बड़ा आकार धारण करता है। इस मत की आलोचना वेदान्तियों ने की है, जो कहते हैं कि यह असम्भव है कि वही जीव मक्खी के शरीर में भी प्रविष्ट हो और वही हाथी के शरीर में प्रविष्ट हो। अपने समर्थन में जैन युक्ति देते हैं कि जैसे दीपक एक बर्तन में रखा हुआ हो या कमरे में रखा हुआ, वह समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार एक जीव अपने शरीर के अनुसार विस्तार को प्राप्त होता है। यह केवल व्यवहारनय की दृष्टि से है, निश्चयनय की दृष्टि से जीव लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों को व्याप्त करता है। जहाँ तक उसके ऊर्ध्वगति स्वभाव की बात है; 'पंचास्तिकाय' में इसके विषय में कहा गया

है कि जीव जब कर्मों की मलिनता से मुक्त होता है तो यह लोक के अन्त तक ऊपर जाता है। सिद्धशिला के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है।

संसारी जीव के दो भेद हैं- समनस्क (मनसहित) तथा अमनस्क[23] (मनरहित) मन या तो द्रव्य रूप है या भाव रूप। जैन विचारकों के अनुसार मन अनिन्द्रिय है (इन्द्रियरहित है)। दूसरी इन्द्रियाँ बाह्य हैं, जबकि मन आन्तरिक है। मन किसी वस्तु के सम्पर्क में सीधे नहीं आता[23]। यह उन वस्तुओं के विषय में जानता है जिनका इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष पहले से ही हो चुका है। द्रव्य मन कुछ भी नहीं है केवल भौतिक परमाणु मन के रूप में परणमित हुए हैं।[24] भाव मन आत्मा की शुद्धता का परिणाम है। जिनका मन है वे अच्छे और बुरे का भेद करने की ताकत रखते हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं। त्रस और स्थावर यह भेद कर्म के फल पर निर्भर है। इनके चल-अचल स्वरूप पर निर्भर नहीं है[25]। स्थावर जीव केवल एक इन्द्रिय से युक्त होते हैं। स्पर्श का भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है जबकि त्रस जीव इन्द्रियों की संख्या के आधार पर विभाजित हैं। दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं। प्राण युक्त जीव के दो भेद हैं 1. मन सहित 2. मन रहित। जिन जीवों के एक इन्द्रिय होती है वे दो प्रकार के होते हैं। वे पुनः दो प्रकार के होते हैं। 1. पर्याप्त (विकास योग्य) 2. अपर्याप्त[26] (जो विकास के योग्य नहीं है) यद्यपि 'द्रव्य संग्रह' की 12वीं गाथा में जीव के 14 भेद कहे गये हैं, इन्हें जैनदर्शन में जीव समास कहते हैं। अधिक भेद 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' जैसे ग्रन्थों में कहे गये हैं[27]।

जननकोशिका के प्रोटोप्लाज्म से लेकर पूरे मनुष्य के विकास तक अनन्त जीव लोक में है। प्रोटोप्लाज्म के सुनने के लिए कान नहीं होते हैं, देखने के लिये आँख नहीं होती है, सूँघने के लिये नाक नहीं होती है, रस लेने के लिए जीभ नहीं होती है। इसके केवल एक इन्द्रिय होती है। मनुष्य के पाँच इन्द्रिय होती है जो पूरी तरह से विकसित और भिन्न भिन्न होती हैं। मन भी; जो कि अतिरिक्त और उच्चश्रेणी की इन्द्रिय (नो इन्द्रिय) है, वह हमारी इन्द्रिय के द्वारा देखने योग्य नहीं है। जैनधर्म के अनुसार यह वह अंग है जो कि सूक्ष्म पुद्गलों से बना है, जिसे मनोवर्गणा या पौद्गलिक मन कहते हैं। इसका रूप एक कमल के समान है जो कि आठ पंखुड़ियों वाला है तथा हृदय के समीप में है, ट्रोड (एक युद्ध के सर्जन) मस्तिष्क की मानसिक क्रिया के विषय में विवाद करते हैं। युद्ध के समय जो ऑपरेशन किये गये उनमें मनःशक्ति को क्षति पहुँचाये बिना मस्तिष्क को अलग कर दिया गया[28]। स्थावर जीव जो कि चलन शक्ति से रहित होते हैं, जिनकी एक इन्द्रिय स्पर्शन होती हैं वे या तो स्थूल होते हैं या सूक्ष्म। वे या तो पर्याप्त होते हैं या

अपर्याप्त। ये जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक तथा वायुकायिक होते हैं जिस प्रकार पेड़-पौधे होते हैं। ये जीव नामकर्म के फल के आधार पर नाम प्राप्त करते हैं उनके चार प्राण होते हैं - स्पर्शन प्राण, शरीर प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण तथा आयु प्राण। पृथ्वी कायिकजीव वह है जिसका शरीर पृथ्वी ही है। दूसरे शब्दों में ये वे जीव हैं जो कि पृथ्वी रूपी शरीर में निवास करते हैं। इसी प्रकार जलकायिक जीवों का शरीर जल ही होता है। पृथ्वीकायिक जीवों के उदाहरण हैं- खान में विद्यमान हीरा या कोयला, पत्थर, धातुएं, सिन्दूर या पीली धातुएं इत्यादि। दूसरे प्रकार के जल, ओस, बर्फ तथा कोहरा हैं। तीसरे प्रकार के हैं-लपटें, रोशनी, उल्का आदि। चौथी श्रेणी में वे छोटे-छोटे जीवाणु हैं जिनके साथ हम साँस लेते हैं[29]। पाँचवा वर्ग वनस्पतियों का है ये प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति के रूप में दो प्रकार की हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हमारी इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने जा सकते। ये सम्पूर्ण पुद्गलों में पाये जाते हैं तथा लोक में वे किसी को छेड़ते नहीं है और न किसी से छिड़ते हैं।

वनस्पति निगोद या वनस्पति काय में बहुत सारे वर्ग के जीव आते हैं जैसे पौधे, पेड़, झाड़ी, घास, शाकाहारी विविध वनस्पति; जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। लहसुन, प्याज, फल, फूल आदि। श्री जगदीशचन्द्र बोस ने प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि पौधों में भी जीव है तथा अनुभव करने की शक्ति है। आधुनिक प्रयोगों से यह बात प्रकट हुई है कि पौधों और फसलों पर संगीत का बहुत बड़ा असर पड़ता है। निगोद के समस्त विभिन्न जीव जो कि हमें दिखाई देते हैं वे या तो स्थूल होते हैं या उस प्रकार की वनस्पति होती है जो निगोद के अन्तर्गत आती है। सूक्ष्म जीव लोक में सब जगह हैं और दिखाई नहीं देते हैं। वे जलकायिक, अग्निकायिक और पृथ्वीकायिक जीवों से भिन्न हैं। कुछ वनस्पतियाँ है जिनके एक शरीर और एक आत्मा है। ऐसी भी वनस्पतियाँ हैं जिनका शरीर एक है लेकिन आत्मायें बहुत हैं इन्हें नित्य निगोद कहते हैं वनस्पतियों के वर्ग में बहुत सारे पर्याप्त हैं क्योंकि वे भोजन और जल की उपलब्धता में बढ़ते रहते हैं। उन्हें अचल इसलिए कहते हैं क्योंकि उनमें गमन करने की शक्ति नहीं है।

दो इन्द्रिय जीवों में स्पर्शन और रसना इन्द्रियाँ हैं- जैसे जुगनू, सीप, शंख तथा घोंघा। तीन इन्द्रियं जीवों में स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन पाये जाते हैं। इनके उदाहरण हैं- खटमल, जुयें, चींटी और पतिंगा। जिनके स्पर्शन, रसना, रस, गंध और वर्ण पाये जाते वे चतुःइन्द्रियाँ हैं, जैसे-तितलियाँ तथा मच्छर। जिनके पाँच इन्द्रियाँ ऐसे जीवों के भिन्न-भिन्न भेद हैं, वे तीन भागों में विभक्त हैं 1.जो जल में रहते हैं जैसे मछली, मगर,

घड़ियाल, व्हेल इत्यादि 2. जो पृथ्वी पर रहते हैं जैसे गाय, हाथी, भैंस 3.जो वायु में रहते हैं जैसे पक्षी। मनुष्य दो भागों में विभाजित हैं- 1 जो पूरी तरह से बढ़े हुए हैं 2. तथा जो पूरी तरह से विकसित नहीं हैं। ये वही हैं जो मानसिक रूप से, शारीरिक रूप से विकसित है जो आत्मा की समस्त छिपी हुई शक्ति को विकसित कर सकते हैं तथा जन्म के चक्कर से मुक्त होने की आशा करते हैं, जिनके इन्द्रियाँ हैं तथा मानसिक अंग हैं। वे स्वस्थ होने के लिये विकसित हो सकते हैं तथा विचार और क्रियाओं में संतुलित रहते हैं। मनुष्य मन सहित होते हैं जिनका कार्य होता है वैसे साधनों का पता लगाना जो अच्छे हैं तथा गुणों से युक्त हो सकें । जिनके मन होता है वे संज्ञी जीव के नाम से जाने जाते हैं[30]।

देव और नारकी जीव वे हैं जो विशिष्ट उत्पाद शय्या पर उदित होते हैं[31]। यह तत्त्वार्थ सूत्र में पहले ही कहा गया है कि पृथ्वी पर तीन प्रकार के जन्म होते हैं 1. जरायुज जीव-जैसे बच्चे 2. अंडज-जैसे अण्डा इत्यादि 3. पोतज- जिन पर किसी प्रकार लेप नहीं होता है जैसे मेमने, सिंह, हिरण इत्यादि; ये तीनों मिलाकर के[32] गर्भ जन्म वाले कहलाते हैं। देवता लोग बॉक्स रूप सैयाओं पर जन्म लेते हैं जबकि हवा भरे हुए पोले थैलों से नारकी जीव उत्पन्न होते हैं, जो कि छत से लटकते रहते हैं।

देव पुण्यकर्मों के उदय के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। वे हमेशा प्रसन्न रहते हैं और उनका शरीर द्युतिमान् होता है। उनके शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। इस शरीर में विक्रिया होती है तथा वे उस प्रकार का रूप बना सकते हैं, जैसा वे चाहते हैं। उनके शरीर में मांस, हड्डी तथा रक्त नहीं होता है अतः उनसे गंदा मल बाहर नहीं आता है। वे चमकीले होते हैं। देवों के आठ प्रकार की ऋद्धियाँ होती हैं- 1. अणिमा इस ऋद्धि के फलस्वरूप वे अपने शरीर को सिकोड़ सकते हैं या छोटा बना सकते हैं 2. महिमा - इस ऋद्धि के सामर्थ्य से वे अपने शरीर को किसी भी रूप में बड़ा बना सकते हैं 3. लघिमा- इस ऋद्धि के फलस्वरूप वे अपने शरीर को बहुत हल्का बना सकते हैं 4. गरिमा - इस ऋद्धि के फलस्वरूप बहुत भारी बना सकते हैं 5. सकाम रूपित्व- यह वह ऋद्धि है जिसके फलस्वरूप जिस भी प्रकार का या जितनी भी संख्या का शरीर एक ही बार में बनाया जा सकता है 6. वशित्व - वह सामर्थ्य है जिससे दूसरों को वश में किया जा सकता है 7. ईशित्व- वह सामर्थ्य है जिससे दूसरों पर शासन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है 8. प्राकाम्य- उस प्रकार की शक्ति की प्राप्त होना जैसे कि वे देव[34] चाहते हैं।

देवगति नाम कर्म के उदय से वे देव मुक्त रूप से घूमते हैं तथा भिन्न-भिन्न स्थान जैसे पहाड़, सागर तथा द्वीप आदि में घूमते हैं; वे जैसा कि पहले कहा जा चुका है। वे

महत्त्व सौन्दर्य तथा असाधारण शक्तियाँ रखते हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। स्थिति तथा जीवन की कालावधि इन दोनों के अनुसार भेद होते हैं।

उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र के चौथे अध्याय में देवों के विषय में पूरा वर्णन है। चार प्रकार के देव होते हैं 1. भवनवासी या भवनों में रहने वाले 2. व्यंतर 3. ज्योतिषी 4. वैमानिक। भवनवासी देवों के दश भेद होते हैं। व्यंतरों के आठ भेद होते हैं, ज्योतिषियों के पाँच भेद होते हैं तथा कल्पवासी देवों के 12 भेद होते हैं। देवों में उच्च और निम्न प्रकार के देव होते हैं। भवनवासी देव तथा कुछ दूसरे देव कामसेवन का अपने कर्म से प्रेरित होकर आनन्द लेते हैं जो पीड़ा भरा और कठिनाई का कारण होता है। दूसरे देव अच्छे गानों के सुनने में ही आनन्दित होते हैं। सज्जनता की हँसी, अच्छे शब्द, अच्छे आभूषण जो उनकी देवियों के पहने हुए हैं; से वे आनन्दित होते हैं। भवनवासी देव भवनों में निवास करते हैं जबकि व्यंतर देव असंख्यात द्वीप समुद्री के ऊपरी भागों में रहते हैं, ज्योतिषी देवों में सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे आदि आते हैं। चूंकि वे प्रकाश से युक्त होते हैं इस कारण से उनको द्युतिमान् कहते हैं। ये अन्तरिक्ष में चमकते हुए फैले हुए हैं तथा मोटाई में 110 योजन हैं। अन्तरिक्ष संख्यात द्वीपों और सागरों से युक्त होने से[35] वहाँ का वातावरण धुँधला होता है।

स्वर्ग के देव जिन्होंने पुण्य किया है वे तीन प्रकार के विभागों में रहते हैं-1. इन्द्रक 2. श्रेणी 3. पुष्पप्रकीर्णक। एक के ऊपर दूसरे। 6 स्वर्ग हैं। वैमानिक जो कि नीचे के भागों में रहने वाले देवों के कर्मों की अपेक्षा आयु, शक्ति, सुख, मेधा, विचारों की शुद्धि, इन्द्रियों की सामर्थ्य तथा अवधिज्ञान की सीमा में श्रेष्ठ रहते हैं। ऊपर के देवों में नीचे के देवों की अपेक्षा अभिमान और दूसरी कषाएं कम होती हैं। सभी देवों के भिन्न-भिन्न प्रकार की लेश्या होती है। अब जो जीव विचार के लिए रह गये हैं वे नारकी हैं जो कि नरकों में रहते हैं। एक के नीचे एक इस प्रकार यह प्रदेश सात हैं। वे बुरे वातावरण से घिरे रहते हैं। उनको एक घनी वायु का सहारा रहता है जो स्वयं वायु की एक मोटी पर्त पर विश्राम करती है। इन सब नरकों की प्रभा रत्न, शर्करा, बालु, पंक, धूम, तम और महातमः प्रभा के समान होती है इसलिए इन नरकों का नाम रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा है। ये प्रदेश तीन प्रकार की वायु और क्षेत्र से घिरे हुए हैं। इन प्रदेशों के बुरे स्वभाव के कारण नारकियों के लिए प्रत्येक वस्तु असहमति के योग्य है। इससे दुःख और पीड़ा होती है। इन जीवों के विचार *अशुद्ध और दोषपूर्ण होते हैं। उनके वातावरण* और शरीर कष्ट से युक्त होते हैं। और

जिसके ये सब वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे नीचे क्षेत्र में भी फेंक दिए जाते हैं। उनका शरीर विद्रूप, डरावना और भयावना होता है। उनकी दृष्टि भयावनी होती है। उनकी शारीरिक शक्ल घृणास्पद होती है। पहले चार के नारकी अत्यधिक गर्मी की पीड़ा का अनुभव करते हैं जबकि नीचे के नरकों में रहने वाले नारकी सघन ठंड का दुःख सहते हैं। नारकियों के कार्यकलाप जो कि उन्नति और सुखप्रद होने चाहिए उसके स्थान पर वे दुःख और मुसीबतों का सामना करते हैं, जो कि सहन करने योग्य नहीं होती और नीचे नीचे के नरकों में इन सबकी वृद्धि होती जाती है। अपने कर्मों के कारण नारकी जीव समस्त मुसीबतों और मानसिक पीड़ा के साथ जन्म लेते हैं। जब वे निकट सम्पर्क में आते हैं तो उनकी शत्रुता बढ़ती जाती हैं। तथा उनकी भूतकालीन स्मृतियाँ दूसरे के प्रति घृणा और शत्रुता में बदलती रहती हैं वे एक दूसरे पर शस्त्रों के साथ आक्रमण करने में तत्पर रहते है तथा एक दूसरे के दुःखों को बढ़ाने के कारण होते हैं। उनमें आसुरी कर्म के उदय से वे दूसरे के बुरे और न सहन करने योग्य दुःख के कारण होते हैं, वे एक-दूसरे को पिघला हुआ शीशा तथा लोहा पिलाते हैं, लाल गरम-गरम लोहे के खंभों से चिपकाते हैं तथा तीक्ष्ण कांटों से युक्त, पेड़ पर चढ़ते और उतरते हैं। वे एक दूसरे पर भाला क्षेपण करते है तथा उन्हें छुरी और चाकू से काटते हैं, उनके ऊपर गरम-गरम तेल छिड़कते हैं तथा उन्हें तेल के गड्ढों में फेंकते हैं। उनकी आयु कम नहीं हो सकती है क्योंकि उनकी मृत्यु विभिन्न प्रकार घायल होने पर भी नहीं होती है। इस प्रकार वे कष्ट सहन करते हैं[36]।

उपर्युक्त वादविवाद हमें स्पष्ट रूप से जीव की सत्ता के विषय में स्पष्ट विचार देता है। जिनगतियों में जीव घूमता रहता है। गतियाँ चार होती हैं- मनुष्य, देव, तिर्यंच तथा नरकगति। हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि जीवन के शरीर के अन्तहीन प्रकार में तथा अवस्थाओं में लगा रहता है। शरीर इन्द्रिय तथा मन जीवों के अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार शरीर का अन्तर स्पष्ट है। यद्यपि यह वर्गीकरण पूरी तरह से शरीर के प्रकार पर निर्भर है। प्रश्न जो कि अन्तिम रूप से आता है वह यह है कि आत्मा की लोक यात्रा में इस प्रकार के परिवर्तनों का कारण क्या है ? क्या यह आकस्मिक स्थान ग्रहण करता है या कोई नियम है ? जिसकी तार्किक और विश्वास दिलाने वाली व्याख्या है। क्या आत्माओं के लिए यह संभव है जो कि अपने आपको कर्मों के बन्धन काटने के लिए शुद्ध और पूर्ण रूप से मुक्त हैं वे अपनी बेड़ियों को तोड़कर पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। जैनधर्म उन प्राथमिक प्रश्नों का उत्तर देता है जो कि जीवन में उदय होती हैं और अब हमें देखना है कि किस प्रकार से आत्मा का यह बन्धन होता है उससे पहले ही हम बन्धन से मुक्ति की पद्धति का अन्वेषण कर सकते हैं।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. जे.एल.जैनी : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 12
2. वही, पृ. 13
3. सच्चिदानन्द के.मूर्ति : द इण्डियन स्प्रिट, पेज-207-208, द आन्ध्रा यूनिवर्सिटी वाल्टेयर।
4. एस.गोपालन : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 127, विली ईस्टर्न प्रा.लि. न्यू देहली 47
5. वही, पृ. 126
6. वही, पृ. 129
7. एस.सी. घोसाल : द्रव्य संग्रह टीका, पृ. 7, सेक्रिट बुक्स ऑफ दी जैनाज, वॉल्यूम प्रथम, सेंट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, आरा, इंडिया
8. एस. गोपालन : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म,पेज- 53
9. मोहनलाल मेहता : जैन साइकोलोजी,पृ. 49
10. वही, पृ. 99
11. वही, पृ. 92
12. नथमुल टाटिया: स्टडीज इन जैन फिलोसॉफी, पृ. 63, जैन कल्चरल सोसायटी, बनारस-5, इंडिया
13. वही, पृ. 65
14. वही, पृ. 66-67
15. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (रीयलिटी : एस.ए.जैन) अध्याय-1, सूत्र 23, वीर शासन संघ-29, इन्दिरा विश्वास रोड, कलकत्ता-37
16. वही, सूत्र-25
17. वही, पृ. 36
18. टी.जी. कलघट गी जी : जैन व्यू ऑफ लाईफ, पृ. 67 जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, इंडिया।
19. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-1, सूत्र-92
20. मोहनलाल मेहता : जैन साइकोलॉजी,पृ. 111-112
21. वही, पृ. 79-80
22. पंचास्तिकाय, गाथा-52 श्री दि.जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
23. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-2, सूत्र-11
24. मोहनलाल मेहता : जैन साइकोलॉजी, पृ. 70
25. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-2, सूत्र-12
26. एस.सी. घोसाल : द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा-11-12
27. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 72-73, 78 से 80
28. जे.एल.जैनी : गोम्मटसार अंग्रेजी टीका सहित,पृ. 43
29. एस. गोपालन : आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 136

30. उमा स्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (रियलिटी)अध्याय-2 सूत्र 24
31. वही, सूत्र 34
32. वही, सूत्र 33
33. एस.ए.जैन, रियलिटी, पृ. 75, वीर शासन संघ, 29 इन्दिरा विश्वास रोड, कलकत्ता 37
34. जे.एल.जैनी : गोम्मटसार अंग्रेजी टीका सहित, पृ. 110
35. एस.ए.जैन : तत्त्वार्थसूत्र की अंग्रेजी टीका, पृ. 113
36. वही, पृ. 84 से 88

❑❑❑

अध्याय-7

कर्म सिद्धान्त

'हमारे कार्य अब भी बहुत दूर से हमारे साथ यात्रा करते हैं तथा जो कुछ हम कर रहे हैं, वही हमें वह बनाता है; जो कि हम हैं।' -जार्ज ईलियट

कर्म का सिद्धान्त जैनदर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थिति रखता है। यह अन्य भारतीय दर्शनों की अपेक्षा अधिक जानकारी देता है। यह सामान्य अनुभव का विषय है कि सुख और दुःख बिना किसी कारण के अनुभव किए जाते हैं। अच्छे आदमी कष्ट झेलते हैं और शरारती व्यक्ति जीवन में बिना किसी कठिनाई के आनन्द मनाते हैं। वे व्यक्ति जो गुणी हैं तथा जिनकी उच्च शैक्षणिक योग्यता है वे नीचे लौटते हुए दिखाई देते हैं, जबकि मनुष्य थोड़ी सी योग्यताओं के साथ पवित्र चारित्र से युक्त हुए कष्ट सहन करते हुए पाए जाते हैं। वे अनेक प्रकार की कठिनाईयों का सामना करते हैं। ये अयोग्यतायें प्रचलित रूप से भाग्य के सन्दर्भ द्वारा व्याख्यायित की जाती हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि एक देवत्व है, जो कि हमारे अन्त को शक्ल देता है। क्या मनुष्य तथा स्त्रियाँ असहाय प्राणी हैं? किसी ताकत की कृपा पर निर्भर हैं, चाहे वह ताकत जानी हुई हो या न जानी हुई हो।

कर्म के सिद्धान्त का सर्वोच्च महत्त्व बौद्धिक तथा सन्तोषजक व्याख्या करने पर निर्भर है। वह जन्म और मृत्यु का आभास या सुख और दुःख का आभास प्रत्यक्ष रूप से मानसिक और शारीरिक प्राप्तियों तथा विभिन्न प्रकार के जीवधारियों के अस्तित्व पर निर्भर है।

जैनधर्म का यह मौलिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव में चेतना है तथा उपयोग दर्शन और ज्ञानमय है। इसका कोई रूप नहीं है, किन्तु यह समस्त कार्यों को करने वाला है। इसमें पूरे शरीर को व्याप्त करने की शक्ति है। यह अपने कार्यों के फल का भोक्ता है तथा बदलने वाले लोक में स्थापित है। इसमें ऊपर गमन करने की शक्ति छिपी हुई है पूर्णता की स्थिति में यह सिद्ध है। व्यवहार नय की दृष्टि से इसमें चार प्राण हैं-इन्द्रियाँ,

बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा चैतन्य के साथ एक रूप है।

यदि ये जीव की विशेषतायें हैं, जिनके विषय में पहले के अध्याय में व्याख्या की गई है तो यह कैसे है कि जीव जीवन और मृत्यु का कष्ट झेलता हुआ स्वयं संसार में फँसा हुआ है? संसार में कुछ ही आत्मायें तुलनात्मक विकास की अवस्था में हैं। उनमें से शेष जिनका रूप और शरीर है वे अपने वास्तविक स्वभाव के विषय में अन्धे हैं।

इस गूढ़ प्रश्न का उत्तर कर्म पुद्गलों के कार्य में है, जो कि जीव के स्वाभाविक गुणों के ऊपर परदा डाले हुए हैं। विविध अंशों में यह आत्मा की शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है। जैनधर्म का प्रारंभ इस परिवेश से होता है कि आत्मा नित्य रूप से कर्मों से जकड़ी हुई पायी जाती है। धर्म का यह प्रारंभिक कार्य है कि कर्म को आत्मा में आस्रवित होने से रोके तथा मोक्ष का मार्ग दिखलाए तथा वह पद्धतियाँ बतलाए; जिनके माध्यम से वह पूर्णता को प्राप्त कर सके।

तब कर्म का स्वभाव क्या है ? सामान्य रूप से कर्म का अर्थ कार्य है। कभी कभी इसका अर्थ होता है कर्मकाण्डी स्वभाव के कार्य, जो कि शास्त्रों से जुड़े हुए हैं। जैनदर्शन में कर्म का अर्थ है- पुद्गल का रूप। यह जड़ और जीवन रहित है। यह बहुत सूक्ष्म होता है। यह हमारी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसके सूक्ष्म दर्शक यंत्र (जिसकी अतिशय बढ़ाकर देखने की शक्ति है)के द्वारा भी नहीं हो सकता है। कोई रसायनशास्त्री या भौतिक शास्त्री न तो इसे जान सकते हैं और न इसका विश्लेषण कर सकते हैं। यह लाखों बार सूक्ष्म है, ध्वनि की तरंगों से भी सूक्ष्म है, रोशनी तथा बिजली से भी सूक्ष्म है तथा आधुनिक विज्ञान में जिनके विषय में विचार किया है, ऐसे इलेक्ट्रान तथा प्रोटोन से भी सूक्ष्म है, फिर भी पुद्गल हमें सब ओर से घेरे हुए हैं तथा पूरे क्षेत्र और वातावरण में व्याप्त हैं। यह प्रारंभिक कारण है, जो विश्व को गतिशील रखता है। लोक में प्रत्येक प्रतिभास कर्म के कार्य का प्रकाशन[1] है।

किस प्रकार कर्म आत्मा के साथ आस्रव स्थान ग्रहण करता है? आत्मा में कम्पन होना योग या क्रिया कहलाती है। क्रिया, काय, वचन या मन के द्वारा होती है। आत्मा में कम्पन या तो शरीर की क्रिया से होती है या उन स्कन्धों से होती है, जिनसे कि वाणी का अंग बनता है या उन स्कन्धों की क्रिया से होती है, जिनसे मन का निर्माण होता है। जैसे कि झील में पानी झरनों के माध्यम से भरता है। इसी प्रकार कर्म पुद्गल भी आत्मा में प्रणाली से या क्रिया के माध्यम से प्रवाहित होते हैं; क्योंकि क्रिया, जो कि कर्मों के

आगमन का कारण होती है, उसे आस्रव[2] कहते हैं। विचारों की क्रिया को भावकर्म कहते हैं, जब कि वास्तविक पुद्गल जो कि आत्मा में प्रवाहित और बद्ध हो रहा है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं। यद्यपि आत्मा शुद्ध और पूर्ण है, किन्तु यह कर्म खंण्ड हैं जो कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को ढकते हैं। वे इसप्रकार ढकते हैं, जिस प्रकार सूर्य की रोशनी सघन मेघों के द्वारा या धूलि के उड़ने से आच्छादित होती है। कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि कैसे अपौद्गलिक वस्तु जैसे आत्मा भौतिक वस्तुओं से आच्छादित होती है। सामान्य अनुभव हमसे कहता है कि मनुष्यों के बहुत से आन्तरिक गुण जैसे- अच्छाई, आत्म संयम, अच्छी वाणी उत्तेजक मादक द्रव्यों या शराब से ढक जाती है।

कर्म का फल शुभ और अशुभ क्रियाओं के अनुसार पुण्य और पाप होता है। इरादा, क्रिया रेखांकित करता है तथा इसके परिणाम हिंसा, चोरी इत्यादि के कारण होते हैं। ये सब शरीर की क्रियायें हैं, जो कि बुराईयाँ हैं। इसी प्रकार कठोर वाणी, झूठ बोलना आदि वाणी की क्रियायें हैं। ईर्ष्या, घृणा, द्वेष ये मन की क्रियायें हैं। जो आत्मा को शुद्ध करता है तथा प्रसन्नता लाता है, उसे पुण्य कहते हैं। पाप से दुःख कष्ट और उद्विग्नता होती है।

कर्म दूसरी दृष्टि से भी भिन्न हैं। वे प्रकृति तथा परिणाम में भी भिन्न हैं। वे स्थिति में भी भिन्न हो सकते हैं। अनुभाग में भी भिन्नता हो सकती है तथा प्रदेशों में भी भिन्नता हो सकती है। ये क्रिया की प्रकृति पर निर्भर हैं। क्रिया परिस्थितियों पर निर्भर हैं। कमजोर या घनी क्रिया के अनुसार आस्रव की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। यह क्रिया के इरादतन या गैर इरादतन प्रकृति पर भी निर्भर है। बाह्य तथा आन्तरिक दोनों परिस्थितियाँ अनुभव या क्रिया को बहुत सघन या कमजोर बनाती हैं। कभी कभी किए गए कार्य इरादे या लापरवाही से किए जाते हैं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति बदले की क्रिया के रूप में दूसरे व्यक्ति को मारता है। यह कार्य जान बूझकर किया गया है तथा उत्पन्न हुई कषाय की गम्भीरता मजबूत है। यदि दूसरी ओर एक व्यक्ति किसी चींटी को बिना जाने मारता है, उसका उसको मारने का इरादा नहीं होता है तो कर्म का आस्रव इस बात पर भिन्न होता है कि व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ जैसी कषायों में प्रवृत्त हो रहा था या प्रवृत्त नहीं हो रहा था। पाँच इन्द्रियों और चार कषायों के अतिरिक्त पाँच प्रकार की अविरतियाँ हैं। मारना, झूठ बोलना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह। ये मन, वचन, काय की क्रियाओं के कारण होती हैं तथा इनसे कर्म की प्रणाली जन्म-मरण के चक्र की ओर ले जाती है।

आठ प्रकार के कर्म - इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा कर्म पुद्गलों से नित्य बँधे होने के साथ प्रतिक्षण नए कर्मों का आस्रव भी करता है। इस संसार में अनन्त

आत्माओं का अस्तित्व है। अपने कार्य कलापों तथा आत्मिक उन्नति के अनुसार यह इसके निजी कर्मों का विषय है।

अतः हमारे विगत कर्म पर्याय के बदलने में सहायक होते हैं। वे उसको अच्छा और बुरा फल देते हैं और कषाय को पैदा करते हैं। यद्यपि आत्मा शुद्ध है, किन्तु यह विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से पौद्गलिक कर्म परमाणुओं से प्रभावित रहती है, जैसी कि ऊपर सूचना दी जा चुकी है। यह मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा काषायिक चारित्र का निमित्त बनती है। जिस प्रकार यह अपने पौद्गलिक कर्मों के कारण अपने विचारात्मक क्रियाओं का उत्पादन करती है, उसी प्रकार यह कर्म पुद्गलों के कारण उन कर्मों के फलों का भी अनुभव करती है[3]। आत्मा के वास्तविक स्वभाव को किस प्रकार विभिन्न प्रकार के आवरण कर्म पुद्गल आवृत करते हैं, तथा आत्मिक गुणों को अनुभूति में बाधा डालते हैं, इसका जानना कठिन है।

अतः अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य तथा अनन्तसुख का आवरण कर्म करते हैं तथा उनके द्वारा इनके कारण इन गुणों का साक्षात्कार नहीं हो पाता है, इन्हें दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, अन्तराय और मोहनीय कहते हैं। जबकि पहला दर्शनगुण को ढाँकता है, दूसरा ज्ञान को आवृत्त करता है, तीसरा आत्मशक्ति को छिपाता है तथा इसकी सफलता के मार्ग में बाधा डालता है। चौथा मोह उत्पन्न करता है जो कि आत्मा के वास्तविक सुख तथा मूर्च्छा का अनुभव करने में अक्षम बना देता है। आत्मा के सर्वोच्च गुणों को जो ढकते हैं, वे घाति कर्म कहलाते हैं।

बचे हुए चार प्रकार के कर्म आत्मिक गुणों का घात नहीं करते हैं, अपितु इसके सांसारिक अस्तित्व को प्रभावित करते हैं। ये हैं-आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय। प्रथम कर्म जीवन की अवधि को तथा अस्तित्व की दशाओं को निश्चित करता है। दूसरा कर्म किसी के व्यक्तित्व के चारित्र का निश्चय करता है जैसे-शरीर, ऊँचाई, रंग, आकार, तीसरा- किसी के वंश, राष्ट्रीयता इत्यादि को निश्चित करता है। चौथा- सुख और दुःख के स्वभाव को निश्चित करता है जिसके कारण से यह संसार में कष्ट का अनुभव करता है। चूंकि यह आत्मा के आरंभिक गुणों को प्रभावित नहीं करते हैं अतः इन्हें अघातिया कर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म आठ प्रकार[4] के होते हैं-

घाति कर्म - इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि प्रत्येक कर्म का कारण क्या है ? ताकि कोई व्यक्ति इस प्रकार के कर्म के इकट्ठे होने को रोक सके तथा उनसे कोई मुक्त हो सके। चूँकि उमास्वामी ने ज्ञानावरणीय कर्म को पहले वर्णित किया है

अतः सर्वप्रथम मैं ज्ञानावरणीय कर्म पर विचार करता हूँ। ज्ञान के प्रति घृणा, दूसरों से ज्ञान को छिपाना, ईर्ष्या के कारण ज्ञान के आगमन का निषेध करना, ज्ञान की प्राप्ति में दूसरों को रुकावट पैदा करना, सही ज्ञान को नहीं मानना और सही ज्ञान का अपमान करना या अप्रतिष्ठा करना इससे भी नए कर्मों के आस्रव की ओर बढ़ता है जो कर्म ज्ञान और दर्शन को घातते हैं[5]। चूंकि दर्शन ज्ञान की ओर ले जाता है इसलिए आचार्य ने ज्ञान और दर्शन दोनों का एक साथ ही सूत्र में वर्णन किया। ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान वह ज्ञान है जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। श्रुतज्ञान वह ज्ञान है, जो कि शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह ज्ञान चाहे पढ़ने से, चाहे सुनने से, चाहे दूसरों को सुनाने से प्राप्त होता है। अवधिज्ञान गुरु द्वारा दिये हुए ज्ञान से भिन्न होता है-अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान-अवधि ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न ज्ञान होता है। जिसके पास यह ज्ञान होता है उसको कुछ दूर स्थान पर होने वाली घटनाओं का भी ज्ञान कराता है यह भूत, वर्तमान और भविष्य को निर्देशित कर सकता है। इसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहते हैं। मनः पर्ययज्ञान परचित्त ज्ञान है। केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसे मुक्त पुरुष ही रखते हैं।

बहुत सारे कार्य जो कि सूत्र में कहे गये हैं वे कर्म के आस्रव के लिये उत्तरदायी हैं। ये ज्ञान के आगमन को रोकते हैं। वे हैं- चारित्र के सामान्य नियमों में अतिचार लगाना तथा मन का दृष्टिकोण। मनुष्य में या स्त्री में वास्तविकज्ञान उन्हें नम्र बनाता है। ज्ञान अनन्त है तथा इस ज्ञान की चेतना अभिमान को कम करती है। किन्तु कुछ मनुष्य हैं जो यह सोचते हैं कि वे वह सब जानते हैं जो कुछ जाना जा सके और वे दूसरों से ईर्ष्या करते हैं जो कि ज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। यहाँ पर ज्ञान से आत्मज्ञान का निर्देश है जिससे कि मुक्ति का मार्ग दिखाया जाता है। एक को दूसरे से ईर्ष्या नहीं करना चाहिए तथा मिथ्याभिमान से अपने ज्ञान को दूर रखना चाहिए। ईर्ष्या के प्रदर्शन के अतिरिक्त अपने ज्ञान को छिपाने के भी उदाहरण हैं तथा तात्पर्य के कारण दूसरे को नहीं पढ़ाना भी सम्मिलित है। कुछ मामले ऐसे हो सकते हैं कि जो कुछ दूसरों ने पढ़ाया है उसके प्रति अनादर का प्रदर्शन करे, तथा दूसरे ने जो पढ़ाया है अपलाप करे। पहले में विनय की कमी है, दूसरे में सही ज्ञान को गलत कहना या निंदा करना सम्मिलित है। इस प्रकार के मामले विपरीत मस्तिष्क के हैं। मानसिक क्रियाएं कर्म की मूल हैं जो दर्शन और ज्ञान को आवृत करती हैं। वे कर्म जो कि पहले दो तरह के ज्ञानों को करते हैं उनके विषय में हम चर्चा कर चुके हैं। शेष बचे हुए तीन प्रकार के ज्ञान आत्मा की आत्मिक शक्तियों

के प्रकाशन पर निर्भर हैं। प्रकाशन इस बात पर निर्भर है कि कोई व्यक्ति भव्य है या अभव्य? कोई व्यक्ति विशेष भव्य है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रखता है या विकास करता है। जब तक आत्मा के ये गुण अपने आपको प्रकाशित नहीं करते तब तक कोई व्यक्ति अभव्य रह सकता है। तीन प्रकार के ज्ञान प्रसुप्त रहते हैं तथा उनमें से किसी के भी प्रकाशन की आशा नहीं की जा सकती ऐसे अभव्य के भाग्य में मुक्ति नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म- कर्म इस प्रकार के कर्म के कारण हैं-सर्वज्ञ तथा श्रुतज्ञान में दोष लगाना, गुरु की संगति में दोष लगाना तथा सही धर्म तथा देव इनका अवर्णवाद करना। इस प्रकार मन, वचन और काय की क्रियाओं से दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता[6] है। केवली का ज्ञान पूर्ण होता है तथा ज्ञान के आधार पर जो गणधरों ने ग्रथित किये हैं या उनके साक्षात् शिष्यों ने ग्रथित किये हैं उनके आधार पर शास्त्र सम्पादित किये गये हैं। साधु अपना एक संघ बनाते हैं, उसमें नायक के रूप में एक आचार्य होते हैं। सही धर्म वह है जो किसी व्यक्ति के कर्म को नष्ट करता है तथा संसार से छुड़ाकर मुक्त करता है। इस सन्दर्भ में दर्शन उस विश्वास पर निर्भर है जो कि श्रुत में कहा गया है। यह किसी व्यक्ति के भ्रान्तिरहितत्व पर भी निर्भर है। यह किसी व्यक्ति की महानता, ज्ञान में वरिष्ठता एवं मन तथा चारित्र की शुचिता में पूर्ण विश्वास है। महात्माओं की निन्दा करना तथा उन दोषों को लगाना जो विद्यमान नहीं हैं, यह अवर्णवाद है। दर्शनावरण के नौ भेद हैं-

1. चक्षुदर्शनावरणीय 2. अचक्षुदर्शनावरणीय 3. अवधिदर्शनावरणीय 4. केवलदर्शनावरणीय 5. निद्रा 6. निद्रा-निद्रा 7. प्रचला 8. प्रचला-प्रचला 8. स्त्यानगृद्धि[7]। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म वह है जो कि चक्षु के द्वारा दिखाई देने को रोकता है। यह कुछ दोषों से जो कि मानसिक तथा शारीरिक होते हैं, उनसे होता है । इससे चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामान्य दशा में विघ्न पड़ता है। अचक्षुदर्शनावरणीय उस प्रकार का कर्म है जो चक्षु के अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्षों को आवृत करता है। यह स्पष्ट रूप से दूसरे अंगों द्वारा प्रत्यक्ष होने का भी निर्देश करता है जैसे- स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्ण । यह उन अंगों के द्वारा भी होता है जिनसे कोई व्यक्ति स्पर्श, रसन, गंध और शब्द ग्रहण करता है। इनके माध्यम से कोई व्यक्ति स्पर्श, रस, गंध और शब्द के प्रति जागरूकता पैदा करता है। कोई या सभी इन्द्रियों के उपकरण ठीक तरह से कार्य कर रहे हों तो संवादी इन्द्रियों के द्वारा जागरूकता सामान्य होती है। यह सामान्य अनुभव है कि कुछ व्यक्तियों

के एक या अधिक अंगों को क्षति पहुँचती है तो इस प्रकार के अंगों के प्रति जागरूकता नहीं होती। चक्षु और अचक्षु दर्शन इन्द्रियों का बाह्य संसार में अनुभव करने का स्पष्ट सन्दर्भ रखते हैं। अवधिज्ञानावरणीय कर्म, उस कर्म का सन्दर्भ ग्रहण करता है जो आत्मा को बिना अधिक काल और क्षेत्र के प्रत्यक्ष करने से रोकता है। दर्शनावरणीय कर्म के दूसरे रूप जो कि प्रत्यक्ष ज्ञान को रोकते हैं वे हैं-निद्रा (नींद आना), निद्रा-निद्रा (नींद के बाद नींद आना), प्रचला (बैठे हुए सोना), जिसे प्रचलित रूप में तन्द्रा कहते हैं। प्रचला-प्रचला (सघन तन्द्रा) चलते हुए सोना तथा कुछ शारीरिक क्रियायें करना यह स्त्यानगृद्धि है। इसे दूसरे रूप में निद्रा भ्रमण कहा जाता है। इसमें जब व्यक्ति सोता है तो वह बुरे कार्यों में फँसा रहता है। ये सब मनोशरीरात्मक अवस्थाएं होती हैं जो स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्ष की सामर्थ्य को रोकती हैं। **अन्तराय कर्म-** तीसरा विनाशात्मक कर्म अंतराय है जो कि मानसिक संघर्षों की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है; क्योंकि यह विघ्न उत्पन्न करता है तथा किसी व्यक्ति की आत्मा की लाभदायक नैतिक तथा आत्मिक उन्नति में अनिर्णय की स्थिति में पहुँचाता है।

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का होता है-1. जो कि दान में विघ्न करता है 2. जो कि लाभ में विघ्न करता है 3. जो भोग की वस्तुओं का सुख लेने में विघ्न करता है 4. जो उपभोग का सुख लेने में विघ्न करता है 5. जो शक्ति प्रकट नहीं होने देता। ये पाँच प्रकार के अंतराय कर्म किसी व्यक्ति की क्रिया को रोकते हैं जो कि गुण के लिए, मुक्ति के लिये प्रेरक होती हैं। उदाहरण के लिए हम बहुत सारे व्यक्तियों के सामान्य अनुभवों का सन्दर्भ दे सकते हैं, जो कि कुछ दान देने का निश्चय रखते हैं किन्तु किसी प्रकार कुछ इस प्रकार का अनुभव होता है या विचार आता है जो कि उनको दान देने योग्य निर्णयों को प्रभावित कर इन्हें रोकता है। मन इस प्रकार अनिर्णयात्मक या हिचक से युक्त रहता है जिसका फल यह होता है कि वह दान देने के निर्णय को रद्द कर देता है। दूसरा उन्हें लाभ प्राप्त करने से रोकता है तीसरा और चौथा कर्म भोगात्मक या भोगों से रहित वस्तुओं का सुख लेने से रोकता है चाहे वे वस्तुएं चल हों या अचल हों। यद्यपि वे उनके पास होती हैं और उनका सुख प्राप्त करने की इच्छा उनकी होती है। जीवन में बहुत सारे अनुभव होते हैं जबकि मनुष्य किन्हीं वस्तुओं को इकट्ठा तो करता है किन्तु उनका उपयोग करने से या उनका आनन्द लेने से वह किसी अदृश्य कारण से वंचित रह जाता है। यह इन कर्मों का परिणाम है। पाँचवाँ उन्हें आत्मा के लिए अच्छे या लाभदायक प्राप्तियों के प्रति किये गये प्रयत्न से रोकता है। यह रुकावट आत्मिक क्रियाओं की या वैश्विक सफलताओं के विषय में हो सकती हैं।

दूसरे के कार्य में बाधा पहुँचाना अंतराय कर्म का कारण होता है[8]। दूसरे के दान देने में विघ्न करना। उदारता में विघ्न करना, सार्वजनिक लाभ को निश्चय करने से रोकना कठिनाईयों में मदद करने से रोकना। सार्वजनिक लाभ के लिए किये जाने वाले कार्यों को रोकना इन सब से अंतराय कर्म का आस्रव होता है। इस प्रकार कर्म के फल की दृष्टि से किसी अच्छे या कार्य में विघ्न उत्पन्न करना या वाणी में विघ्न उपस्थित करना (अंतराय कर्म का)। इन सबसे अंतराय कर्म होता है। **मोहनीय कर्म-** चौथा विनाशात्मक कर्म मोहनीय कर्म है। यह भेद समझने की शक्ति को रोकता है तथा जीवन में विभिन्न प्रकार के मामलों के विषय में किसी व्यक्ति विशेष को मोहित करता है। ये कर्म 28 प्रकार के होते हैं[9]- ये हैं तीन प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म, दो प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म जो कि कषाय और नो कषाय के कारण होते हैं। कषायों के उपभेद तथा नो कषाय ये क्रमशः छह और नौ होते हैं[10]। इस प्रकार के कर्म का कार्य किसी व्यक्ति को आत्मा के ही सही प्रकृति के विषय में अंधा बनाता है, उसका ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र चाहे झूठा ही या विपरीत हो। मोहनीय कर्म में 2 उपभेद हैं-1 दर्शन मोहनीय 2. चारित्र मोहनीय। इस प्रकार मोहनीय कर्म 28 प्रकार का होता है। जहाँ तक दर्शन मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है ; ये तीन प्रकार के होते हैं- 1. मिथ्यात्व। आत्मा के स्वभाव के विषय में, तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में तथा महात्माओं के द्वारा रचे गये शास्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में विपरीत श्रद्धा रखना, यह दर्शन मोहनीय है। दूसरे का सम्बन्ध मानसिक झुकाव की दृष्टि से सम्बन्ध रखता है जहाँ पर कि सही और गलत श्रद्धान मिश्रित हो जाता है तथा उन दोनों में भेद करने की योग्यता नहीं होती है। इसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं। अंतिम सम्यक्त्व प्रकृति है- यह वह अवस्था है जहाँ पर कि सम्यकृत्व श्रद्धान कुछ मिथ्या श्रद्धान से आवृत रहता है इसमें कुछ चंचलता होती है सम्यक् श्रद्धान की निश्चितता कुछ कुछ भयाभिभूत करती है। चारित्र मोहनीय कर्म 28 प्रकार के होते हैं।

पहले प्रकार के कर्म का उदय होने पर कोई जीव जो मार्ग सर्वज्ञ ने प्रकाशित किया है, उससे दूर हटता है। तत्त्व के प्रति श्रद्धान से विमुख हो जाता है और उसके लिए क्या लाभदायक है तथा क्या लाभदायक नहीं है, इसका भेद करने के योग्य नहीं होता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण विपरीत दृष्टिकोण होता है। यदि सही तथा गुणात्मक विचारों से इस पर रोक लगती है तो सम्यक् श्रद्धान में कोई रुकावट नहीं होती है। यदि यह विपरीत श्रद्धान शुर्द्ध स्थिति से मिश्रित होता है तब हम दूसरा प्रकार रखते हैं। इन तीन प्रकार के

मोहनीय कर्म का परिणाम उगते हुए कोद्रव जैसा होता है। यदि यह धान्य बिना किसी तैयारी के खाया गया तो इससे सघन भ्रम तथा यह इसको खाने वाले को व्याकुल करता है। मोहनीय कर्म का प्रभाव इस प्रकार का होता है। यदि अनाज की भूसी को अलग कर दिया जाय तो उसको स्वच्छ करने में कम कष्ट होगा। इसी प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कठिनाई होगी।

चारित्र मोहनीय के 25 भेद हैं। इसके पच्चीस भेद होते हैं। इस पुस्तक में उनका विस्तृत वर्णन कठिन है। कषाय मुख्यतः चार प्रकार की होती है- क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं तथा चारित्र जो कि इनसे प्रभावित होता है, वह संसार के अंतहीन चक्र की ओर ले जाता है। चार उपभेद हैं-अनन्तानुबन्धी या वह कर्म जो कि पूरे जीवन के मध्य तक रहता है। अप्रत्याख्यानावरण या किसी कषाय को नहीं रोकने वाला भाव। प्रत्याख्यानावरण रोकने वाली कषाय, संज्वलनकषाय-कुछ कुछ प्रज्वलित हुई कषाय जो कि आत्म संयम के द्वारा वश में करने योग्य है। दूसरी, तीसरी और चौथी कषाय क्रमशः एक वर्ष, चार माह और पन्द्रह दिन की होती है। क्रोध के चार भेद क्रमशः पत्थर, पृथ्वी, धूलि और जल की रेखा के समान हैं। पहले को बहुत बड़े प्रयत्न से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार जीवन भर रहने वाली कषाय अपने प्रभाव में संघर्षरत है चाहे कितनी ही बढ़ती हुई ताकत लगे या कठिनाईयाँ आएं जबकि बाद के अवशिष्ट तीन भेद शक्ति में कम होते हैं इसीलिए आसानी से नष्ट की जा सकती हैं। मानकषाय के भेद शिलास्तम्भ, हड्डी, लकड़ी का टुकड़ा तथा बेंत के समान है। इनकी तीव्रता क्रमशः घटती जाती है। माया के भेद बांस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र, लकड़ी के टुकड़े के समान हैं। पहले पहले की अपेक्षा आगे आगे की माया अधिक आसानी से नष्ट की जा सकती है। गाय के मूत्र की टेढ़ी मेढ़ी लाइन वायु तथा मौसम के प्रभाव से विलीन हो जाती है। लोभ के भेद क्रमशः क्रमिराग, चक्रमल, शरीर मल और हल्दी के रंग के समान होते हैं। क्रमिराग बड़ी मुश्किल से छूटता है। यह थोड़ी या बहुत कष्ट कारक होती है। हल्दी का रंग बड़ी आसानी से दूर किया जा सकता है[12]। नोकषाय- छह नो कषाय हैं- 1. हास्य 2. रति-अनुचित तथा सुनिश्चित पूर्वाग्रही पसन्द 3. अरति-अनुचित तथा सुनिश्चित पूर्वाग्रही-पूर्वाग्रह के साथ किसी को नहीं चाहना 4. शोक 5. भय 6. जुगुप्सा (घृणा) ये छः चारित्र मोहनीय हैं क्योंकि आत्मा जो कि उनका विषय है वह सम्यक् चारित्र के अभ्यास में छिपा हुआ है। ये केवल दुःख के सम्वेदन तथा सुख के सम्वेदन में स्थायी प्रभाव नहीं

रखता है, अतः वेदनीय तथा नो कषाय के मध्य उनका अन्तर करना चाहिए[13]। कर्मभेद-मिथ्यात्व की ओर से जाते हैं तथा श्रावक या साधुओं के आत्मिक विकास को अवरुद्ध कर देते हैं नौ नोकषाय होती हैं 1. हास्य (हँसी) 2. रति (लगाव) 3. अरति (असंतोष) 4. शोक 5. भय 6. जुगुप्सा (घृणा या द्वेष), 7. स्त्रीवेद (स्त्री में अनुराग रखना)8. पुंवेद (पुरुष में अनुराग रखना) 9. नपुंसकवेद (नपुंसकों की चाह करना या स्त्री-पुरुष दोनों की चाह करना)। इन सबसे विभिन्न कर्मों का उदय होता है। आत्म संयम से उनपर नियंत्रण किया जा सकता है। ये सब भाव, अनुभव, विचार, क्रिया, कषाय की सघनता के औसत को बिगाड़ देते हैं तथा कर्मों की अवधि को निश्चित कर देते हैं। जब कोई कषाय के द्वारा ग्रसित होता है, उस समय वहाँ चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। कुछ मनुष्य दूसरों के सम्यग्दर्शन की हँसी उड़ाते हैं तथा उनके कष्ट में या दुःख में उपहास करते हैं। कभी-कभी हँसी उद्देश्य रहित खेल का विषय होता है। मनुष्य या स्त्री के साथ जुड़ाव दोनों को कष्ट या दुःख के चारित्र की ओर ले जाता है।

दूसरों के प्रति घृणा का भाव या घृणा के साथ व्यवहार या विरोधी लिंगवाले के साथ सघन जुड़ाव; ये सब कारण हैं जो आत्मा को भूमि प्रदान करने के कारण होते हैं और नवीन कर्मों को आकर्षित करते हैं।

अघातिया कर्म - ये चार प्रकार के होते हैं- 1. आयु 2. नाम 3. गोत्र, और 4. वेदनीय। इनमें से प्रत्येक का सन्दर्भ चार गतियों में जन्म कराता है-मनुष्य, देव, नरक तथा तिर्यंच।

आयुकर्म - आयुकर्म नारकी जीव, वृक्ष, पशु, मनुष्य तथा देवों की आयु के अस्तित्व की स्थिति निर्धारित करता है। वह कर्म जो कि किसी जीव की आयु की अवधि एक विशेष स्थिति में निर्धारित करता है। वह नरक आयुकर्म, तिर्यंच आयु कर्म, मनुष्य आयु कर्म तथा देवायु कर्म कहलाता है। यह प्रत्येक जीव के अस्तित्व की स्थिति में जीवन की अवधि निश्चित करता है। जब आयुकर्म की अवधि समाप्त हो जाती है तो जीव की मृत्यु हो जाती है। अतः यह कर्म किसी व्यक्ति विशेष के जीवन और मरण के लिए उत्तरदायी है।

उमास्वामी ने कर्मों के आस्रव के कारणों की व्याख्या की है। जो कि विभिन्न अस्तित्वों की स्थिति में हैं। दुःखों का अत्यधिक कष्ट तथा आसक्ति से कर्म का आस्रव होता है जो कि नरक क्षेत्र की ओर ले जाता[14] है। सूत्र में आरम्भ और परिग्रह शब्दों का प्रयोग किया गया है, जब कि पहले शब्द का अर्थ है जीवित प्राणियों को

कष्ट या दुःख देना। दूसरे का अर्थ है विश्व की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति। अत्यधिक दुःख और कष्ट के कारण जो कि मारने या अत्यधिक गम्भीर चोट पहुँची हो, जिसके कारण ऐसे कर्म का उदय होता है जो कि नरक में जन्म का कारण होता है। लगातार क्रूर कार्यकलाप तथा दूसरे की सम्पत्ति का अनुचित उपयोग, जो कि भौतिक वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण होता है; यह सब इस कर्म के निमित्त होते हैं। मायाचार के कारण कर्म का आस्रव होता है जिससे तिर्यंच गति होती है[15]। मायाचारी में प्रवृत्त होने से जीव के चारित्र मोहनीय कर्म होता है, जिससे तिर्यंचगति में जन्म होता है। मिथ्या श्रद्धान से धर्म का प्रचार, अच्छा व्यवहार करने से अच्छे आचरण की कमी तथा स्वामित्व की कमी, दूसरे के साथ धोखा करने की इच्छा, नील तथा कापोत लेश्या होना तथा मरते समय शोकाकुल परिणाम होना; ये सब मायाचारी व्यवहार के विविध रूप हैं। इस प्रकार के कार्य से तिर्यंच आयु होती है[16]। अल्प हिंसा करना, अल्पराग रखना तथा स्वाभाविक नम्रता होना; ये सब मनुष्य आयु प्राप्ति के कारण होते[17] हैं। नम्रता, सज्जनतापूर्ण प्रवृत्ति, उत्तम व्यवहार, अल्पकषाय, मरते समय कष्टकर प्रवृत्तियों से मुक्त होना, प्रकृतितः सज्जन होना ये कुछ कारण हैं जो कि मनुष्यगति में जन्म लेने के लिए उत्तरदायी हैं। दूसरे शब्दों में दया, करुणा, प्रेम, स्नेह, ईमानदारी तथा सत्य वचन बोलना; इन सबका निर्देश आयुकर्म की ओर बढ़ने का विशिष्ट लक्षण हो सकता है।

सम्यग्दर्शन, राग पर नियंत्रण (शिथिलता से मिश्रित), अनैच्छिक ढंग से कर्मों से मुक्ति, मिथ्याज्ञान के साथ किये गये तप; इन सबसे आप देवायुकर्म आस्रव की ओर बढ़ते हैं। आत्म संयम चारित्र की शुद्धि की कुंजी है तथा विचार भी चारित्र को शुद्ध करती है। कुछ व्यक्तियों के साथ ऐसा होता है कि वे जब पूरी तरह से अपने मन, वचन पर नियंत्रण रखते हैं तो अनिर्णय से उन्हें व्यवधान उत्पन्न होता है। बहुत से व्यक्ति मिथ्याश्रद्धान के अन्तर्गत तप करते हैं। इसी के साथ सम्यग्दर्शन भी जोड़ा जा सकता है। सम्यक्त्व का अलग से निर्देश किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं आयुकर्म के कारण के लिए यह काफी है जिससे देवगति में जन्म लेने की ओर बढ़ते हैं। दोनों सूत्रों को मिलाने का उद्देश्य यह रेखांकित करना है कि वे जीव जो सम्यग्दृष्टि हैं वे किसी ऐसी प्रवृत्ति में सम्मिलित नहीं होते हैं जो दूसरे जीव को प्रभावित करें; जो कि इस प्रकार की श्रद्धा नहीं रखता। यथार्थ में सम्यग्दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि आत्मा के सही स्वरूप के विषय में जागरूकता नहीं है तथा इसका सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं है।

नामकर्म - यह इस प्रकार का कर्म है जो कि शरीर के प्रकार का निश्चय करता है जिनमें जीव अवतरण करता है। हम पहले ही यह सूचना दे चुके हैं कि आत्मा पाँच अवस्थाओं में जन्म लेती है-देव, मनुष्य की प्रकृति में अन्तर होगा, इसी प्रकार इसके आकार, रंग और ऊँचाई में भी अन्तर होगा। नामकर्म भी प्रारंभिक रूप से दो प्रकार का होता है - 1. पिण्ड प्रकृति या भौतिक गुण 2. अपिण्ड प्रकृति अथवा अभौतिक गुण।

नामकर्म अत्यधिक दिलचस्प नियम है प्रायः इसमें आधुनिक शारीरिक सिद्धान्त के बहुत से तत्त्वों की पहले सही जानकारी होती है। यह पुनः 93 भागों में विभक्त है। आधुनिक जीव विज्ञान जीव की संघटना, उसकी उत्पत्ति तथा वृद्धि की व्याख्या करता है। वह उत्सेच, जीन्स तथा सूक्ष्मदर्शक तथ्यों पर आधारित अवयवों की व्याख्या करता है। इसी प्रकार जैन विचारकों के द्वारा हजारों वर्षों पहले प्ररूपित नाम कर्म का सिद्धान्त जीवन्त तत्त्व का एक प्रकार तथा दूसरा प्रकार, शरीर की हड्डियों की सन्धियों की जुदी जुदी रीति, पृष्ठवंशीय और अपृष्ठवंशीय देह की रचना का भेद, शरीर की संवेदनशील इद्रियों की रचना तथा इस विषयक जीव वैज्ञानिक समस्याओं की व्याख्या करने की कोशिस करता है। शरीर में हड्डियों के जोड़, शरीर में ऐन्द्रियिक अंगों का अनुपात, शरीर में इन्द्रिय संबंधी ये अंग भले ही अपूर्ण विकसित हों या कार्य करने में सक्षम न हों विषय में विविध प्रकार के नामकर्म पर आधार पर नामकर्म प्रत्येक व्यक्ति की देह रचना का नियामक होता है[18]।

उमास्वामी ने नामकर्म की विशेषतायें; जिसके उदय होने पर एक जीव अस्तित्व की एक दूसरी अवस्था में जन्म लेता है। नामकर्म से तात्पर्य है- अस्तित्व की अवस्था, कक्षा, शरीर, मुख्य और दूसरे अंगों की रचना, बन्ध, पौद्गलिक सम्मिश्रण, ढाँचा, जोड़, स्पर्शन, रसना, गन्ध, वर्ण, मृत्यु के बाद की जाति, अगुरुलघु, स्वघात, परघात, आतप, उद्योत, श्वासोच्छ्वास, गति, व्यक्तिगत शरीर, गतिशीलजीव, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति इनके विपरीत (व्यक्तिगत शरीर से प्रारंभ कर) तथा तीर्थंकत्व[19]।

गणना आश्चर्य जनक रूप से विस्तृत है, जो कि सभी अस्तित्त्व को आवृत करती है तथा सभी मनुष्य 1. केवल स्पर्श का अभिप्राय। 2. स्पर्श तथा रसना, गंध, 3. स्पर्शन के अनुभव, रस, गन्ध तथा देखना 5. स्पर्शन का अनुभव, रस, गन्ध, देखना तथा सुनना। यह नाम कर्मो की प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय आदि सभी इन्द्रियों के जीवों के उदय में आती हैं।

शरीर कर्म के पाँच भेद हैं- 1. औदारिक शरीर, जो मनुष्यों, तिर्यंचों के लिए विशिष्ट हैं। 2. वैक्रियिक शरीर, जो सूक्ष्म पुद्गल से बना है, जो देवों के लिए रूप तथा आकृति में देवों के शरीर जैसा है तथा नरक में नारकियों जैसा है। 3. आहार या सूक्ष्म या आध्यात्मिक मनुष्यों के समान शरीर जो पूर्ण जैन साधु के मस्तक से निकलता है, जिसने कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है तथा परिणाम में उसकी आत्मा अत्यधिक विकसित आत्म गुणों वाली होती है। जिसकी चमक आकाश में फैलकर उन स्वामी के चरणों में पहुँचती है, जहाँ कि उसकी शंकाओं का समाधान होता है। 4. तैजस शरीर- आभामंडल से युक्त शरीर या चुम्बकीय शरीर 5. कार्माण शरीर- वह शरीर जो कर्म वर्गणा से बना है। नामकर्म जो कि विभिन्न प्रकार के शरीरों के लिए उत्तरदायी है । उमा स्वामी ने उसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार कपटपूर्ण कार्य तथा धोखा देना इससे अशुभ शरीर नाम कर्म का निर्माण होता है[20]। वक्रता का अर्थ है सरल मार्ग से दूर हटना, वे क्रियाएं, जो विपरीत हैं तथा औचित्य की चाह करती हैं। दूसरों को धोखा देना दूसरे प्रकार की वक्रता है। दोनों से प्रश्न करने योग्य चरित्र का मानसिक कम्पन उत्पन्न होता है तथा क्रियाएं यदि सफल होती हैं तो वे दूसरों के लिए दुःख का कारण होती हैं। दोनों अस्वास्थ्यप्रद क्रियाएं हैं तथा अशुभ शरीर नामकर्म की कारण हैं वक्रता या धोखा ये कर्म की प्रकृति में अधिक घनी होती हैं। इनके विपरीत सरल क्रियाएं, ईमानदारी तथा निष्कपटता शुभनाम कर्म के आस्रव की कारण होती हैं। जो अपने विचारों में सरल होते हैं तथा जिनकी वाणी सरल होती है वे शुभ कर्म का आस्रव करते हैं[26]। ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा के संरक्षक गुण व्यक्तियों के प्रति आदर रखते हैं, वे पवित्र सन्तों का आदर करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति सांसारिक जीवन के कष्टों के लिये जागरूक रहते हैं अतः इस कारण वे विचारों में जागरूक रहते हैं। शुभ शरीर नामकर्म के वर्णन के अतिरिक्त तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के लिए विचार और कार्यों की गणना विस्तृत रूप से की गयी है, जिससे कि तीनों लोकों पर विजय प्राप्त होती है। पुनः उमास्वामी के अनुसार तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हेतु सोलह प्रकार की भावनाओं को मानना चाहिए जैसे 1.सम्यग्दर्शन की शुद्धता (दर्शन विशुद्धि) 2. विनय सम्पन्नता 3. शील तथा व्रतों में अतिचार का न होना 4. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग 5. संसार चक्र से निरन्तर भयभीत रहना 6. दान देना 7. शक्ति अनुसार तप 8. साधु की समता वृत्ति में आई हुई बाधाओं को दूर करना 9. मुसीबतों को दूर कर गुणीजनों की सेवा करना 10. सर्वज्ञ की भक्ति 11. आचार्य की भक्ति 12. उपाध्याय की भक्ति 13. जिनवाणी-शास्त्र की भक्ति 14. छः आवश्यकों का पालन 15. सर्वज्ञ की शिक्षाओं का प्रचार, तथा 16. उनके प्रति

भक्तिभाव में लगे रहना[22]। ये सब गुणात्मक रूप से नीति के समस्त क्षेत्र को आवृत्त करती हैं और आत्मिक अभ्यासों को भी आवृत करती हैं जो कि आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाते हैं इनका वर्णन बाद में करेंगे।

अनेक प्रकार का अंग नामकर्म विभिन्न प्रकार के शरीर के अंगों से संबंधित है; जैसे वक्षस्थल, पीठ, हाथ, पेट तथा पैर। **उपांग नामकर्म-** पाँच इन्द्रियों का निर्देश करता है तथा मुख्य अंगों के भागों का भी वर्णन करता है जैसे -ललाट (मस्तिष्क), खोपड़ी, तालु, गाल, दाढ़ी, ठोढ़ी, दाँत, ओंठ इत्यादि। नामकर्म के रूप स्नायुओं के बनने में सहायक हैं। अंगों का आकार, उनका अनुपात, शरीर का रंग या वर्ण, स्पर्श के गुण तथा अस्तित्व की दशा। **प्रकृति नामकर्म-** 21 प्रकार का होता है जिसका सम्बन्ध गुण तथा शरीर की विशेषताओं से होता है।

गोत्रकर्म - गोत्रकर्म तीसरे प्रकार का अघाति कर्म है जिससे वंश का स्तर, राष्ट्रीयता इत्यादि का निर्धारण होता है। आधुनिक शरीर शास्त्री वंशानुगत के सिद्धान्त को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इससे मनुष्य तथा पशु क्रियाशील होते हैं। एक से उच्चस्तर तथा दूसरे से निम्नस्तर का निर्णय होता है। पहले से कोई जीव एक अच्छे वंश में और प्रतिष्ठित वंश में उत्पन्न होता है। दूसरा नीचकुल में जन्म के लिए उत्तरदायी है[23], जहाँ प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा अज्ञात होती है।

उमास्वामी ने कहा है कि दूसरे की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के गुणों को भूल जाना तथा वे गुण जो अपने में नहीं हैं उनका वर्णन करने से कर्मों का आस्रव होता है जिससे कि नीचकुल में जन्म होता है[24]। बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो दूसरों के अच्छे गुणों के प्रति अंधे हैं वे अपने आप गप्प लगाते हैं जैसे -गुण उनकी उपजीविका हो तथा अपने आपकी अनुचित प्रशंसा में लगे रहते हैं। दूसरे की निंदा करना बुरा है। व्यर्थ का गौरव भी इसीप्रकार का है। दूसरी ओर विपरीत गुण जैसे नम्रता, दीनता, निरभिमानता, विनम्रता तथा दूसरे में जो अच्छाईयाँ हैं उनका मूल्यांकन करना; इनसे कर्मों का आस्रव होता है। जिन से उच्च स्तर के वंश में जन्म होता है[25]। गुणी जनों को नमस्कार करना, निरभिमानता है। शिक्षा के अतिरिक्त धन तथा शक्ति होते हुए भी अभिमान नहीं करना और घमण्ड का अभाव यह सब नम्रता (Modesty) में आता है।

वेदनीय कर्म - अघाति कर्म का चौथा प्रकार वेदनीय कर्म है जिससे किसी व्यक्ति का दुःख पूर्ण तथा सुखमय अनुभव का निर्धारण होता है। दोनों कर्मों से सुखमय अनुभव और दुःखमय अनुभव होता है[26]। वह क्रमशः दो प्रकार का वेदनीय कर्म है। ये दो भेद हैं-सातावेदनीय तथा असाता वेदनीय।

सातावेदनीय कर्म - यह उस कर्म के आस्रव का परिणाम होता है जो देवों, मनुष्यों और पशुओं के मन में अच्छा और खुशी भरा अनुभव करता है। वे कार्य जो इस कर्म के आस्रव के लिए आगे आते हैं, वे उमास्वामी ने इस प्रकार कहे हैं- सामान्य रूप से समस्त जीवधारियों के प्रति दया भाव रखना तथा, विशेष रूप से उनके प्रति श्रद्धाभाव रखना है। दान तथा संन्यास के प्रति अनुराग इत्यादि। संयमासंयम बिना प्रयत्न के तथा बिना इच्छा के उन कर्मों से अलग होना,जो कि सम्यक्ज्ञान पर आधारित नहीं हैं, ध्यान लगाना, समता तथा निर्लोभता[27]। सभी जीवित प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न हुए हैं। कुछ हैं जो आत्मा के स्वभाव के प्रति जागरूक होते हैं तथा दया के दूसरे कार्य करते रहते हैं। वे अपने सांसारिक रागों को कम करते हैं तथा दूसरों की मदद करने में उदार रहते हैं। वे दूसरों के कष्टों में अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हैं। वे अपनी सांसारिक आसक्तियों को कम करते हैं तथा दूसरों की मुसीबतों में सहानुभूति व्यक्त करते हैं और वे वह कार्य करते हैं जिससे उनको राहत पहुँचा सकें। वे स्वयं को अवांछनीय कार्यों से रोकते हैं। मन और चारित्र की ये सब क्रियाएँ कर्म के आस्रव को रोकती हैं, जो कि आह्लादित अनुभवों के अन्तर्गत आते हैं। असातावेदनीय कर्म अनाह्लादिक तथा कष्टपूर्ण अनुभवों के कारण होते हैं। ये अपने में तथा दूसरे में मुसीबतें, दुःख, दारुणवेदना, रोना, पीटना, चोट तथा रुदन लाते हैं[28]। दुःख तथा मुसीबतों के ये सब अनुभव क्रोध, लोभ आदि कषायों के फल देते हैं। असंयम की चाह, व्यक्ति तथा सम्पत्ति को चोट, अनैतिक कार्यों के कारण अप्रतिष्ठा से पीड़ित होना तथा चाहे वे ऐच्छिक हों या अनैच्छिक हों, उन वस्तुओं को तराशना; इन सब से दुःख का अनुभव होता है। ऐसी कोई मुसीबत नहीं है जहाँ पर कि कषाय न हो। प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने बहुत तप किये हैं, उन्हें कष्ट नहीं होता क्योंकि उन्होंने स्वेच्छा से अपनी शुद्धि के लिए कार्य किये हैं। इसके पीछे कोई गलत (बुरा) प्रयोजन नहीं है तथा मन, शांति और सन्तुलन से भरा हुआ है। एक सर्जन कष्ट का कारण होता है किन्तु उसका उद्देश्य रोगी का इलाज करना होता है ताकि उसका रोग दूर हो जाय तथा वह दुःखों और कष्टों से मुक्त हो जाए।

ये आठ प्रकार के कर्म हैं जो कि आत्मा की शुद्धता को प्रभावित करते हैं और उसमें छिपे हुए समस्त गुणों को ढाँकते हैं। ये बाह्य शक्तियाँ होती हैं जो कि आत्मा की दिशा को बदल देती हैं तथा सांसारिक अस्तित्व के प्रति जोड़ देती हैं। ये अज्ञान, कष्ट, दोष तथा स्तर में असमानता की यथार्थ कारण होती हैं। हमारा मन, वचन और काय उन के आस्रव के वास्तविक कारण होते हैं।

कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद का सिद्धान्त नहीं है। यह कारण-कार्य का नियम है। यह कारणवाद का नैतिक नियम है जो यह प्रदर्शित करता है कि हम अपने भाग्य या दुर्भाग्य के निर्माता हैं। यदि एक व्यक्ति आनन्दित रहता है या मुसीबत झेलता है तो यह उसकी क्रिया, वचन और विचारों का प्रमाण है। भाग्यवाद का अभिप्राय तभी आता है जब हम अपनी छाँट के तत्त्व को नजर अंदाज करते हैं। मदिरा पीने की इच्छा के प्रभाव से एक मनुष्य इसे पीने के लिए चुन सकता है। यद्यपि वह अच्छी तरह समझ सकता है कि दूध पसन्द करने पर शरीर की अच्छी सेवा कर सकता है। इच्छा किसी को मजबूर नहीं करती है। दूध के स्थान पर मद्यपान करना, यह मनुष्य की पसन्द का निमित्त कारण है। उसमें दूध को पसन्द करने की शक्ति है। जब यह याद किया जायेगा तो जो कार्य किया गया है, उसके करते हुए भाग्यवाद का कोई मतलब[29] नहीं है।

यह पुनः प्रमाण है कि यह कारणवाद का नियम मशीनी नहीं है; क्योंकि चेतनता इसका प्रारंभिक तथ्य है। जीवन एक लम्बी यात्रा है। इसमें जीवित प्राणी गतिशील होते हैं। यदि कोई चाहता है कि उसकी यात्रा सरल हो तथा दुर्घटना से रहित हो तो आत्म संयम की रुकावट का सदैव प्रयोग करना चाहिए। कषायें वह शक्तियाँ हैं जो रेल को पटरी से उतार सकती हैं; किन्तु यथार्थ मार्ग का ज्ञान तथा हमारी दृष्टि की प्रभावोत्पादकता का विश्वास इसे सही गन्तव्य पर पहुँचा देता है। सभी जीवधारी एक शरीर के साथ जन्म लेते हैं तथा उनका जीवन, वर्ण, वातावरण तथा दूसरी विशेषता है जो कि पुराने कर्म का फल होती हैं, उनके साथ वह जन्मता है। जैन तीर्थंकरों ने इस बात का विश्लेषण किया और हमें दिखाया कि क्या कारण है? प्रत्येक जीवित प्राणी उन सबका सारभूत कारण है जिनके साथ वह जन्मा है। कर्म अस्वाभाविक पर्दे हैं जो कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को ढाँकते हैं। धर्म का यह कार्य है कि वह मुक्ति का मार्ग दिखलाये। अस्वच्छ या गंदी अवस्था में उन्हें यह जानना चाहिए कि अपवित्रता से कैसे छुटकारा पायें तथा आत्मा के अनन्त गुणों को कैसे विकसित करें ?

हमें यह देखना चाहिए कि कैसे मनुष्य उन अपवित्रात्माओं से छुटकारा पा सकता है, जो आत्मा की उन्नति को छिपाते हैं तथा हम यह पाते हैं कि जैनधर्म के अनुसार उस अन्त को किन साधनों से पा सकते हैं।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) भाग-2, अजितप्रसाद जैन की भूमिका और टीका के साथ, द सेण्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस अजित आश्रम, लखनऊ।

2. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2 सू. 2
3. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार, गाथा-93
4. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-8,सूत्र 4
5. वही, अ.-6, सूत्र 10
6. वही, अ.-7, सूत्र 13
7. वही, अ.-7,सूत्र 7
8. वही, अ.-6, सूत्र 27
9. वही, अ.-8, सूत्र 9
10. एस.ए.जैन : आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी अनुवाद, पृ. 223
11. वही, पृ. 223-224
12. ग्लेजनप डॉ. हेलमुथवॉन : द डाट्रायन ऑफ कर्मन् इन जैनाफिलोसॉफी, पेज-9-10, V.G.Y. जीवनलाल पन्नालाल चेरिटी फंड, बम्बई, 1942
13. वही, पृ. 10
14. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-6, सूत्र 15
15. वही, सूत्र 16
16. रीयलिटी, पृ. 181
17. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ.-6, सूत्र 17-18
18. प्रो. ए.चक्रवर्ती : रिलीजन एण्ड अहिंसा,पृ. 95 श्री रतनचन्द्र हीराचन्द 26 नेपियन सी रोड, बम्बई-6, 1957
19. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-8, सूत्र 11
20. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-6, सूत्र 23
21. वही, अध्याय-7, सूत्र 24
22. वही, अध्याय-6, सू. 25
23. वही, अध्याय-8, सू. 12
24. वही, अध्याय-6, सू. 25
25. वही, अध्याय-6, सू. 26
26. वही, अध्याय-8, सू. 8
27. वही, अध्याय-6, सू. 12
28. वही, अध्याय-6, सू. 11
29. हरवर्ट वारेन : जैनिज्म,पृ. 45, सम्पादक-नागिन जे. शाह, पृ. 45 श्री वल्लभसूरि स्मारक निधि प्रकाशन, बम्बई-2

❑❑❑

अध्याय-8

लेश्या का सिद्धान्त

कर्म के दूसरे पहलुओं पर विचार करने से पहले एक दूसरे सिद्धान्त के विषय में निर्देश करना आवश्यक है; जो कर्म सिद्धान्त से अत्यधिक रूप से जुड़ा हुआ है; लेश्या का सिद्धान्त है। जैन विचारकों के विचार के अनुसार लोक में अनन्त आत्माएँ हैं, उन सबमें पूर्ण ज्ञान सुख इत्यादि है। आत्माओं का वर्णन भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि अदृश्य कर्माणु जो कि बहुत सूक्ष्म हैं, वे आत्मा के साथ में लगे हुए हैं। दीप्तिमान् तथा सुखी आत्मा कर्म पुद्गल रूपी बादलों के कारण से धुंधली हो जाती है। ये कर्म परमाणु कषायों के कारण तथा मन,वचन,काय की प्रवृत्ति के कारण गतिशील होते हैं। कषायों की प्रवृत्तियों के हलन-चलन के कारण बन्ध का स्वभाव और सामग्री निश्चित होती है। सम्पूर्ण कर्म, जो कि आत्मा ने ग्रहण किये हैं या इसके साथ संलग्न हैं उनका लोकोत्तर रंग होता है। ऐसा रंग जिसका हमारी आँखों से प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता है। इसे कहते हैं लेश्या। छः लेश्याएँ होती हैं। कृष्ण, नील, कापोल, पीत, पद्म और शुक्ल। वे प्रमुखता से नैतिकता पर आधारित हैं; क्योंकि लेश्या किसी व्यक्ति के चरित्र को निर्दिष्ट करती है; जो उसका स्वामी है। पहली तीन लेश्याएं बुरे चरित्रों से सम्बन्धित हैं और अन्तिम तीन अच्छे चरित्रों से सम्बन्धित हैं[1]। दूसरे शब्दों में पहली तीन बुराई का परिणाम है तथा अंतिम तीन अच्छे भावों का परिणाम हैं।

प्रायः समस्त जैन दार्शनिक जिन्होंने कर्म के विषय का वर्णन किया है उन्होंने लेश्या के सिद्धान्तों का निर्देश और विवेचन किया है। प्रत्येक वस्तु जो कि पौद्गलिक है या पुद्गल से मिश्रित है उसमें स्पर्श, रस, गंध और रूप है। हमारा मन और इसकी क्रियाएँ इसका अपवाद नहीं हैं। वे द्रव्य रूप हैं तथा उनका रंग है, जिसे वे प्रत्येक वचनात्मक क्रिया के बदलने से बदलते हैं। एक काला हृदय मनुष्य तथा राग से युक्त लाल, भय के साथ पीला, ईर्ष्या का रंग हरा; ये प्रसिद्धि रूढ़िगत हैं। हमारे विचार और

भाव रंग के साथ सघन सम्बन्ध रखते हैं। हम विचारात्मक रंग रखना कह सकते हैं। इनमें प्राथमिक काला, नीला, भूरा, पीला, गुलाबी या लाल तथा सफेद है। लेश्यायें आत्मा के कम्पन हैं जो कि नम्र और कठोर कषायों से युक्त हैं[2]। उनके उदाहरण लालच इत्यादि के मानसिक स्तर हैं। रंगों की आकृति जो वर्णित की गई हैं, लोकोत्तर हैं, भौतिक नहीं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है कि लेश्या के गुणों को जानने वालों के अनुसार भाव लेश्या वह है जो आत्मा पर दबाव डालती है और जिससे आत्मा पुण्य और पाप का फल बनाती है। रंग पुद्गल की दशा है। आत्मा स्वयं रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श से रहित है[3]। रंग पुद्गल का मौलिक और विशिष्ट स्वरूप है तथा भाव लेश्याओं के खाते के आधार पर अवश्य ही स्थान ग्रहण करता है। ये सुधार भी रूप और रंग रहित हैं। जब शरीर, वचन और मन की क्रियायें कषायों के अनुसार कम्पन करती हैं, तब आत्मा में पुद्गल का आस्रव स्थान ग्रहण करता है जो बन्धन के कारण होता है। यह कम्पन युक्त क्रिया है जो कर्मों के प्रयुक्त होने पर रंग युक्त होती[14] है। हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि यह कम्पन युक्त क्रियायें केवल कर्म पुद्गल का स्वरूप निश्चित नहीं करती हैं, अपितु बहुत से कर्मपुद्गल आत्मा को बाँधते हैं। यह कषायों की सघनता है जो बन्धन की अवधि और परिपक्वता का स्वरूप निश्चित करती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लेश्या के छह भेद हैं, जिनके नाम हैं- कृष्ण, नील, कापोत, तेज (पीत), पद्म (गुलाबी) और शुक्ल[5]। फिर भी यह उल्लेख करने योग्य है कि कि सुधार के दृष्टिकोण से ये रंग असंख्यात हैं। लेश्या दो प्रकार की होती है- भावलेश्या तथा द्रव्य लेश्या। पहली भाव लेश्या है, जिनकी हम व्याख्या कर चुके हैं, दूसरी शरीर, निर्माण नामकर्म का उत्पाद है। विभिन्न अस्तित्व की दशाओं में जीव के शरीर के भिन्न-भिन्न रंग होते हैं। नारकी काले हैं, जबकि दूसरे जीव छह रंगों में से एक रंग रखते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य क्षेत्रों के स्वामियों का रंग सूर्य, चन्द्र और हरे रंग के हैं। जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक जीव श्वेत, पीत तथा अवर्णनीय रंग का शरीर रखते हैं। कषायों के उदयस्थान विश्व की इकाईयों के अनुसार असंख्यात हैं।

कषायों के उदय स्थान असंख्य लोक प्रदेश हैं। बुरी लेश्याएं कृष्ण, नील और कापोत हैं जबकि अच्छी लेश्याएं पीत, पद्म और शुक्ल हैं। बुरी लेश्यायं घनी, कुछ ज्यादा घनी तथा कुछ बहुत ज्यादा घनी हैं। इसी प्रकार से अच्छी लेश्याएं नम्र, अतिनम्र और बहुत अधिक नम्र हैं। बुरी लेश्याओं के घटने और अच्छी लेश्याओं के बढ़ने से लेश्याओं में परिवर्तन होता रहता है। दुःख के बढ़ने से लेश्या कापोत रंग की या नील

अथवा कृष्ण होती है, जबकि सबसे अधिक शुद्ध शुक्ल लेश्या है। वास्तविक रंग की अपेक्षा भावों के घनत्व पर बहुत अधिक निर्भर है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने विभिन्न लेश्याओं के उदाहरण मन की क्रियाओं के आधार पर निश्चित किये हैं। छह यात्री रास्ता भूल गये तथा रास्ते के मध्य उन्होंने एक वृक्ष देखा जो कि फलों से लदा हुआ था। स्वभावतः फल खाने की इच्छा हुई। इनमें से पहला वृक्ष को फल ग्रहण करने के लिए जड़ से उखाड़ना चाहता है। वह कृष्ण लेश्या में लगा हुआ है। उनमें से दूसरा वृक्ष का तना फल खाने के लिए काटना चाहता है। वह नील लेश्या में लगा हुआ है। तीसरा डालों को काटना चाहता है और उसके फूल खाना चाहता है। वह कापोत लेश्या में लगा हुआ है। इन तीनों का उद्देश्य फलों के लिए वृक्ष की बड़ी हानि करना है। इससे भिन्न बचे हुए लोग इनसे अच्छे हैं जिनकी इच्छा वृक्ष को अधिक क्षति पहुँचाये बिना फल ग्रहण करना है। चौथा उससे छोटी शाखाओं को तोड़कर फल ग्रहण करना चाहता है वह पीत लेश्या वाला है। उससे अगला केवल फल तोड़ना चाहता है और उन्हें खाना चाहता है। उसकी पद्म लेश्या है। अन्तिम व्यक्ति उन फलों को खाना चाहता है जो नीचे गिर गये हैं। वह वृक्ष को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाना चाहता है। इस कारण से वह बहुत अच्छा शुक्ल लेश्यावाला व्यक्ति है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की लेश्यायें मन की आन्तरिक क्रियाओं को प्रदर्शित करती हैं। उससे यह प्रदर्शित होता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य जो मानसिक क्रियाएं करता है, वह नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट होती है, तब कृष्ण लेश्यावाले व्यक्ति की विशेषताएँ क्या हैं? वह क्रोधी होता है, हमेशा पक्षपातपूर्ण होता है, धूर्त होता है हिंसक होता है तथा परिणामों के विषय में वह ध्यान नहीं देता। वह षट्कायिक जीवों की हिंसा करता है। पवित्रता या दया से रहित होता है। उस पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। उसके कोई सिद्धान्त नहीं हैं तो वह मन्द होता है। उसमें सामान्य अनुभव की कमी होती है। वह अयोग्य होता है तथा इन्द्रियों का गुलाम होता है मानी हो, दूसरे को धोखा देता है। शरारती होता है, सुस्त होता है तथा रहस्यवादी होता है। जिस व्यक्ति की नील लेश्या होती है वह अत्यधिक रूप से सोता है तथा दूसरे को धोखा देता है, अज्ञानी होता है। अशिष्ट होता है, चालाक होता है, लापरवाह होता है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति बहुत अधिक लालची होता है। पापपूर्ण कार्यों में लगा रहता है तथा आसानी से क्रोधपूर्ण आवेग में आता है। कापोत लेश्यावाला व्यक्ति स्वभाव में अत्यधिक चिढ़ने वाला होता है, दूसरों की बुराई करता है, गप्प लगाता है, कठिनाईयाँ पैदा करता

है, चिड़चिड़ा होता है, स्वभाव से डरपोक होता है, ईर्ष्या करता है। दूसरों का अपमान करता है, वक्र होता है, निकम्मा होता है, विधर्मी होता है, ईर्ष्या करता है, बेईमान होता है, दूसरों पर अविश्वास करता है, कपटी होता है, हानि, लाभ की परवाह नहीं करता है, युद्ध में मरने की इच्छा करता है, चापलूसी में उदारता रखता है तथा अपने कार्यों में गड्डमड्ड करता है।

चार प्रकार के उत्तम पुरुष भिन्न-भिन्न प्रकार की लेश्यायें रखते हैं। पीत लेश्यावाला यह जानता है कि क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए। वह कर्तव्य परायण होता है, स्थिर होता है। मौजमस्ती के विषय में क्या योग्य है या क्या योग्य नहीं है, इस बात को जानता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से मुक्त होता है। उसका अपने आप पर नियंत्रण रहता है। पक्षपात हीन होता है, अनुकम्पाशील होता है, दानी होता है, संत होता है तथा सज्जन होता है। पद्मलेश्या वाले सज्जनपुरुष के ये गुण होते हैं; दानशील होता है; दयावान् होता है, लाभप्रद होता है, दूसरे का अच्छा कार्य करने में सदैव लगा रहता है, नम्र होता है, स्थिर होता है, अच्छी तरह अनुशासित होता है, संयमी होता है। क्षमाशील होता है। संतों के प्रति तथा गुरुओं के प्रति भक्तिपूर्ण होता है तथा सर्वोच्च अच्छाई के लिए संलग्न रहता है। शुक्ल लेश्यावाला पुरुष पक्षपातहीन होता है। धर्मध्यान में लगा रहता है तथा सत्य बोलता है। किसी प्रकार की मौजमस्ती लेने का इच्छुक नहीं होता है। गुप्तियों और समितियों का पालन करता है। अपनी इन्द्रियों को दबाता है, शान्त होता है। कषायों से रहित होता है तथा सांसारिक कार्यों से पृथक्[7] रहता है।

ये लेश्यायें मन की शुद्धि और विचारों के अनुसार बदलती रहती हैं। ये परिवर्तन छह लेश्याओं में 26 प्रकार के कम्पन में होते हैं।

जो कुछ ऊपर कहा गया है वह स्पष्ट होना चाहिए कि लेश्याओं की वे भिन्न दशाएं होती हैं जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार की दशाओं में होती हैं। ये दशाएं भिन्न-भिन्न कर्मों से प्रभावित होती हैं अतः ये आत्मा के स्वभाव पर निर्भर नहीं रहती है, किंतु कर्मों के अनुसार होती हैं जो कि इस आत्मा के साथ लगे हुए हैं। लेश्या क्या उत्पन्न करती हैं? यह कर्म पुद्गलों का सूक्ष्म द्रव्य होता है। यही कारण है कि लेश्याओं में रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, अंश, चारित्र विविधता, अवधि इत्यादि कार्य होते हैं।

काली, नीली, कापोत, लाल, पीली तथा शुक्ल लेश्याएं क्रमशः बरसाती बादल, नील गगन, कापोत वर्ण, सिन्दूरी हरताल तथा उफनते हुए दूध की तरह होती हैं। उनका स्वामी क्रमशः नीम के वृक्ष से भी अधिक कड़वा, त्रिकूट से भी अधिक तीखा, कच्चे

आम से भी अधिक खट्टा, पके आम से भी अधिक अच्छा, मीठा तथा दूध से भी अधिक अच्छा होता है। पहली तीन लेश्याओं का स्वाद बहुत अधिक बुरा होता है तथा कुत्ता और साँप की लाश से भी अधिक बुरा होता है, जबकि तीन शुभ लेश्याओं की गंध अपरिमित रूप से अत्यधिक सुखदायक होती है, जैसे कि सुगन्धित पुष्प होते हैं तथा इत्र जबकि उनको पीसा जाता है। प्रथम तीन का स्पर्श अपरिमेय रूप में बुरा होता है। एक आरी के समान या गाय की जीभ के समान जबकि अंतिम तीन का स्पर्श अपरिमेय रूप से सुखकर होता है जैसे रुई, मक्खन या शिरीष का पुष्प[8]।

चूँकि कषाय की तीव्रता और क्रियाओं की तीव्रता के कारण लेश्याएं भिन्न-भिन्न होती हैं तो भी उनकी उपस्थिति और उनके रंग के अंश प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास के स्तर पर निर्भर रहता है। यहाँ तक कि प्रारंभिक स्तर पर मिथ्यादृष्टि भी यदि उसकी कषाय बहुत मंद हो तो शुक्ल लेश्या रखता है जबकि एक सम्यग्दृष्टि चतुर्थ स्तर पर कृष्णलेश्या रख सकता है, यदि वह कठोर कषायों से संलग्न हो। केवल शुक्ल लेश्या एक व्यक्ति में रूप ले सकती है जिसने कि गुणस्थान क्रम में 8वें से 13वें तक की स्थिति को प्राप्त किया है। 14वें गुणस्थान में कोई भी लेश्या संभव नहीं है[9]; क्योंकि वहाँ कोई कम्पन नहीं है। यह कर्मों का अनुभाग है जो कि अपूर्ण मनोभावों का उदय करता है। यह अनुकरणीय है कि कर्मों की शुद्धि लेश्या में स्पष्ट रूप से एक परिवर्तन लाती है। यही कारण है कि शास्त्रों में निर्देश है कि सर्वज्ञता के मामले में शुक्ल लेश्या की उपस्थिति है। सर्वज्ञता उसी को प्राप्त होती है जिसकी कषायें एक ओर नष्ट हो गयी हैं। सर्वज्ञ में शुक्ल लेश्या की उपस्थिति व्यवहार नय से है, जिसमें कि पुराने मनोभावों का विचार किया जा सकता है, किन्तु वास्तव में सर्वज्ञ के चूँकि क्रिया का अभाव है; इस कारण से उनमें लेश्या[10] नहीं है।

मार्गणा स्थानों के साथ विचार करते हुए जिसमें कि जीव के मनोभाव जो कि विभिन्न स्तरों के हैं। ये जीव के द्वारा (गतिशील होते हैं) सहन किये जाते हैं। उनका निरीक्षण लेश्या के अनुसार षट्खण्डागम के प्रथम भाग में किया गया है। जीव में 6 प्रकार की लेश्याएँ होती हैं जो कि[8] यौगिक क्रियाओं का परिणाम है तथा जो कषायों के द्वारा सक्रिय होती हैं। यह कथन किया जा चुका है कि लेश्याओं के 6 भेद कषायों के अनुसार निर्णीत किये जाते हैं, वे हैं बहुत अधिक तीव्र, अधिक तीव्र, तीव्र, नम्र, नम्रतर तथा नम्रतम। वह स्तर जहाँ पर कि लेश्या नहीं है वह अलेश्य है। लेश्याओं से जीव की नैतिक और आध्यात्मिक दशा को समझना संभव है। तीन लेश्याएँ पाप के चिह्न के रूप में मानी गयी हैं जबकि अन्तिम तीन शुभ मानी गयी[11] हैं।

यह प्रमाण होगा कि जैन विचारकों ने बहुत सावधानी और बुद्धिमत्ता से कषायों और लेश्याओं के विषय में अध्ययन किया है। कषायों की अन्तः क्रिया तथा कर्मपुद्गललों को आकर्षित करने की क्रिया विभिन्न प्रकार की लेश्याओं को मानने का कारण होता है। इसके विषय में निश्चितात्मक रूप से विस्तृत विचार किया गया है। किस प्रकार से गन्ध, रस, स्पर्श और वर्ण भावात्मक क्रिया की सघनता से एक साधारण से उदाहरण से उदाहृत किये गये हैं। यह जैन विचारकों के द्वारा मनोविज्ञान के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान है। लेश्याओं में परिवर्तन भावात्मक क्रियाओं की तीव्रता और नम्रता के अनुसार स्थान ग्रहण करता है। इस बात को आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। आत्मा अपनी शुद्ध दशा में कर्म से रहित है। लेश्याओं की सक्रियता से तथा कषायों की सक्रियता से कर्म पुद्गलों का दबाव उतना ही आश्चर्यचकित करने वाला है जैसे इस सिद्धान्त का रहस्यात्मक ज्ञान जो कि सही समझ की ओर ले जाता है तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव की ओर ले जाता है एवं अशुभ कर्मों के हानिकर प्रभावों को बतलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि यह व्यवहारनय का रूप है कि आत्मा में लेश्याएं आध्यात्मिकता के स्तर तक ले जाती हैं तथा जो आत्माएं[12] संसार अवस्था से मुक्त हो गयी हैं, वे लेश्या आदि से मुक्त हैं।

विभिन्न प्रकार के ध्यानों में अभ्यास में इस सिद्धान्त की महत्ता के विषय में जिनभद्र ने उल्लेख किया है। योग के दूसरे लेखकों के समान उन्होंने कहा है कि ध्यान के चार प्रकार हैं- 1. आर्त 2. रौद्र 3. धर्म, तथा 4. शुक्ल। किसी जीव के इन चार ध्यानों का अभ्यास करते हुए कौन से नैतिक और अध्यात्मिक गुण हैं, उनके विषय में उन्होंने अपने विवेचन के संमय निर्देश किया है। एक व्यक्ति जो कि ध्यान में लवलीन होने की इच्छा करता है। उसे अपने मन को एक विषय पर लगाना पड़ता है तथा भ्रान्तियों से मुक्त होना पड़ता है। ध्यान एक मानसिक प्रक्रिया है तथा भ्रान्तिपूर्ण क्रियाओं से अवश्य ही मुक्त हुआ जाता है। ऐसे व्यक्ति हैं जिनका मन पूरी तरह से सांसारिक कष्टों से भरा हुआ है जबकि दूसरे हैं, जिनका इरादा तथा झुकाव विकट है। उनमें बदला लेने की भावना भरी हुई है तथा वे हानिप्रद हैं। ऐसे व्यक्तियों की लेश्याएं कृष्ण, नील या कापोत जैसी कि उनकी तीव्रता होगी, उसी अंश में होगी। राग-द्वेष और मिथ्यात्व उनकी क्रियाओं का निर्धारण करेंगे। जो व्यक्ति हिंसात्मक ध्यान में लगा हुआ है, उनके तीन प्रकार की अशुभ लेश्याएं कम या अधिक उत्कृष्ट अंश में होगी। वे व्यक्ति; जो कि अन्तिम दो ध्यानों में लगे हुए हैं उनके विचार शुभ होंगे तथा आध्यात्मिकता की

ओर उनका मस्तिष्क धीरे-धीरे उन्नति की ओर तब तक होगा जब तक कि वे आत्मस्वभाव की अन्तर्दृष्टि को नहीं अनुभव करते हैं। शुक्ल ध्यान में मन की स्थिरता होगी। मोह से मुक्ति मिलेगी। शरीर के प्रति भेद का भाव तथा सांसारिक वस्तुओं के प्रतिराग रहितता होगी। स्वाभाविक रूप से एक साधु में लेश्याएं जो कि इस स्तर पर पहुँच चुका है, वह शुक्ल लेश्या होगी[13]।

आजीविक; जो कि मक्खलि गोसाल के सिद्धान्त को मानते हैं, वे भी कर्म सिद्धान्त और लेश्याओं को मानते हैं; इस सिद्धान्त की व्याख्या में उन्होंने उसकी विशेष पद्धति का अनुपालन किया। उसके अनुसार बौद्ध या उनके भिक्षु नील लेश्या वाले होते हैं, क्योंकि वे सुखशील होते हैं। उसने निर्ग्रन्थ को पद्मलेश्या के अन्तर्गत माना; क्योंकि उन्होंने आराम का परित्याग कर दिया। इन्हें मक्खलि गोसाल ने आजीविकों से छोटा माना।

उसने अपने गृहस्थ शिष्यों को पीतलेश्या वाला माना और कट्टर अनुयायियों को शुक्ल लेश्या वाला माना[14]।

बौद्धधर्म में भी कर्म को रंगों के लक्षणों में विभाजित किया-कृष्ण, शुक्ल, काला और सफेद मिश्रित तथा जो काला और सफेद नहीं है। कर्म को सूक्ष्म पुद्गलों के हिस्सों में स्वीकार करना उनके मत में प्रतीत नहीं होता है। योगदर्शन ने भी यही वर्गीकरण स्वीकार किया। दासगुप्ता का मानना है कि योग में कृष्ण और शुक्ल कर्म का विचार संभवतया जैन दृष्टिकोण से सुझाव के रूप में आया[15]।

जैनधर्म इस बात का प्रचार नहीं करता है कि आत्मा स्वयं लेश्याओं से रंगीन होती है। लेश्यायें प्रारंभिक रूप से कर्मपुद्गलों से सम्बद्ध हैं, जिनका प्रतिबिम्ब आत्मा पर उसी प्रकार पड़ सकता है, जैसे कोई रंगीन फूल या वस्तु स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित होती है। यह निर्देश करना दिलचस्प है कि थ्योसोफिस्ट भी रंगों के सिद्धान्त को मानते हैं, जिसका सम्बन्ध कषायों तथा लेश्याओं से है। वे कहते हैं कि मर्त्य शरीर तीन हैं-शारीरिक, सूक्ष्म तथा मानसिक। सूक्ष्म शरीर का विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न दिखाई देता है। यह वह शरीर है जो सुख और दुःख का अनुभव करता है। कषायों से जो सक्रिय होता है। इच्छा और भावावेगों से भी जो सक्रिय होता है तथा जिसमें हमारी इन्द्रियों को देखना, सुनना, रस लेना, सूँघना, तथा स्पर्श करने के केन्द्र होते हैं। यदि कषायें, इच्छायें तथा भाव निम्न होते हैं, ऐन्द्रियिक तथा पाश्विक होते हैं तो पुद्गल परमाणु कर्म भाव वाला होता है, इसके कम्पन तदनुसार तुलनात्मक रूप से धीमे होते हैं तथा रंग कृष्ण तथा अनाकर्षक भूरे, गहरे लाल तथा हरे तथा एवं मिश्रण होते हैं और

समय-समय पर यह गहरे लाल रंग से चमत्कृत होता है। सूक्ष्म शरीरों के ऊपर वर्णों का अर्थ, कलाकार के द्वारा बनाए गए चित्रों के समान होता है जो कि अवधिज्ञानी अन्वेषकों द्वारा दिए गए विवरणों जैसे होते हैं, जिनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है-भूरा-लाल ऐन्द्रियिकता और लोभ की ओर निर्देश करता है, भूरा-हरा धोखा देने वाले और चालाक को बतलाता है। ब्राउन स्वार्थपने की ओर इंगित करता हैं।

सिर के बायीं ओर क्रोध का निर्देश करता है, सिर के चारों ओर पीली होना मेधा शक्ति को निर्दिष्ट करता है। सिर के ऊपर भूरा, नीला प्राथमिक धार्मिक अनुभव को बतलाता है। गहरा गुलाबी रंग प्रेम के आरंभ की ओर निर्देश करता है। जैसे-जैसे विकास होता है पुद्गल सूक्ष्म होता जाता है और रंग अत्यधिक स्पष्ट, शुद्ध तथा अत्यधिक मेधावी हो जाते हैं। विकसित सूक्ष्म शरीर में हरा सहानुभूति को दर्शाता है तथा यथाकाल व्यवस्था को भी दर्शाता है। गुलाब प्रेम की ओर इंगित करता है, नीला धार्मिक अनुभूति को प्रदर्शित करता है, पीला मेधा को बतलाता है। सिर के ऊपर पीला आध्यात्मिकता को बतलाता है[16]।

लेश्या के सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान, विशेष रूप से परामनोविज्ञान के शब्दों में व्याख्यायित करना सम्भव है। भावलेश्या मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य होता है। मनोवैज्ञानिक प्रभावों तथा योग के कारण आत्मा के चारों ओर प्रभामण्डल का निर्माण होता है। यह मन की क्रिया के ऊपर निर्भर है। छः प्रारंभिक रंग कर्मों के आस्रव के प्रभाव हैं, जो कि मानसिक दशाओं और घटनाओं से उद्गमित होते हैं।

मन की प्रत्येक घटना कुछ पश्चाद्वर्ती प्रभाव लाती है जो शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों हैं। सही विश्लेषण और खोज के द्वारा यह दर्शाना संभव है कि मनोआभासों की सत्ता है और इन्हें पृथक् किया जा सकता है[17]।

अन्त में मैं कह सकता हूँ कि कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि महावीर ने लेश्या के इस सिद्धान्त को गोसाल से ग्रहण किया है। इस दृष्टिकोण में कोई सार नहीं है। कर्म सिद्धान्त जैनधर्म का अभिन्न अंग है। इसे जैनों ने वैज्ञानिक आधार पर विकसित किया है तथा यह लेश्या की रीढ़ है। यह प्रश्न है कि क्या यह सामान्य विचार श्रमणदर्शन की विरासत है?

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द- 7, पृ. 469
2. जे.एल.जैनी : गोम्मटसार जीवकाण्ड की टीका, पृ. 55 सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ

3. वही, गाथा-489
4. वही, गाथा-490
5. वही, गाथा-493
6. वही, गाथा- 507-8, टीका, पृ. 255
7. सेक्रिड बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द-45 (उत्तराध्ययन सूत्र) डोवर पब्लिकेशन्स, आईएनसी, न्यूयार्क, पृ. 199
8. वही, पृ. 197-99
9. जे.एल.जैनी, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), अंग्रेजी टीका भाग-2, पृ. 91
10. एस.ए.जैन : रीयलिटी, पृ. 53-4, वीरशासन संघ, 29 इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता-37
11. पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य : षट्खण्डागम (भूमिका सहित तथा कन्नड टीका) सुब्बय्य शास्त्री, गाथा-61 तथा 66 जैनेन्द्र ग्रन्थमाला, चौदेश्वरी टेम्पिल स्ट्रीट, बंगलौर-2
12. कुन्दकुन्द आचार्य : समयसार, गाथा 61 तथा 66 श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
13. गुणभद्रगणि : झाणज्झयणं, गाथा 4,14,28,64 प्राकृत मूल अनुवाद सहित, सम्पादक-रामचन्द्र राव, ओरियंटल रिसर्च ट्रस्ट, मद्रास तथा बंगलौर (1971)
14. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, जिल्द-1, पृ. 261
15. टी.जी.कलघटगी : जैन व्यू आफ लाइफ, पृ. 114 जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
16. एनीबेसेण्ट : द रिडिल आफ लाइफ, पृ. 12, 14 थ्योसोफिकल ऑफिस, अडयार, मद्रास
17. टी.जी.कलघटगी : कर्म तथा पुनर्जन्म, पृ. 29 एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी, अहमदाबाद।

❑❑❑

अध्याय-9

सात तत्त्व (कर्म सिद्धान्त जारी)

महान् अमेरिकी कवि ह्विटमैन ने अपनी कविता 'स्टार्टिंग फ्राम पउमानोक' शीर्षक में कहा है- क्या कोई व्यक्ति आत्मा को देखने के लिए कह रहा था? अपनी निजी शक्ल और मुख को देखो।

व्यक्ति, द्रव्य, जंगली जानवर, वृक्ष, बहती हुई नदियाँ, चट्टानों तथा रेत को देखो।

वे कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। जिसके अनुसार कोई जीव अस्तित्व की विभिन्न दशाओं में जन्म ले सकता है। कर्म सिद्धान्त जैनदर्शन का आधार है। यद्यपि यह दूसरे धर्मों के समान प्रतीत होता है किन्तु हमारे स्रोत तथा उनका ज्ञान बहुत विस्तृत है, कहीं भी कर्मों के मूर्त स्वभाव पर उतना जोर नहीं दिया गया है जितना जैनधर्म में दिया गया है। यह सिद्धान्त सूक्ष्म रूप से विस्तार में विकसित हुआ है। इसका वर्गीकरण सावधानी पूर्वक किया गया है तथा कथन संक्षिप्त है। इसके विचार अत्यधिक यथार्थवादी हैं तथा अत्यधिक पद्धति युक्त आधुनिक पद्धति इसके अनुरूप है[1]। ये विस्तृत रूप से महान् धवल और जयधवल टीकाओं में देखे जा सकते हैं जिनका सार गोम्मटसार में प्राप्त होता है, जिनका निर्देश प्रारंभ के अध्यायों में किया गया है।

यह स्मरण करना आवश्यक है कि जैन तत्त्वशास्त्र के अनुसार लोक दो अनिर्मित द्रव्यों के स्वतंत्र वर्गों में विभाजित है- जीव तथा अजीव। जीव-अजीव में सम्बन्ध स्थापित करने वाला कर्म है, इसका निर्देश आत्मा की विशेषताओं में किया गया है कि किस प्रकार यह कर्म पुद्गलों के सूक्ष्म परमाणुओं से जुड़ा हुआ है। कर्मों की प्रकृति तथा उसके भेद अध्याय सात की विषय वस्तु हैं।

सात तत्त्व - उमास्वामी ने तत्त्वों के सही स्वभाव में दृढ़ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है[2]। सम्यग्दर्शन सहज प्रकृति से उदय होता है या ज्ञान प्राप्ति द्वारा होता है[2]।

आस्रव या कर्मों का आना- पहले के पर्यालोचन को दृष्टि में रखते हुए जीव तथा पुद्गल की विशेषताओं के वर्णन के बाद हम आस्रव के तीसरे सिद्धान्त के विषय में विचार कर सकते हैं। आस्रव वह प्रणाली है जिसके माध्यम से कर्म पुद्गल परमाणु आत्मा में प्रविष्ट होते हैं। व्युत्पत्तिपरक रूप से जैनदर्शन में आस्रव का मतलब होता है आस्रव का, पुद्गल का आस्रव आत्मा में होना। बौद्ध लोग पालि में आस्रव शब्द का प्रयोग करते हैं जो कि क्लेश का पर्यायवाची है। जिसका अर्थ होता है पाप, कषाय, दुराचारिता या भ्रष्टाचार। आस्रव का परिणाम होता है शरीर, मन और वाणी की क्रियाएं। जैनों में जो आस्रव शब्द का प्रचलन है वह व्युत्पत्ति के अधिक करीब है और यह शब्द स्पष्ट रूप से अधिक मौलिक है। आस्रव दो प्रकार का होता है भाव आस्रव तथा द्रव्य आस्रव। पहले का सम्बन्ध लेश्याओं से है, दूसरे का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के आस्रव से है। यह अशुद्ध अनुराग है। इसकी उपमा नाव में छेद हो जाने के कारण प्रविष्ट होने वाले जल के समान है, जबकि नाव जल के ऊपर तैर रही हो। द्रव्यास्रव पुद्गल का होता है जो कि अशुद्ध विचारों से ग्रसित होता है तथा जिसकी रचना आत्मा के साथ संलग्न होने से होती है। भावास्रव के पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय[4]। ये भावास्रव अपने उपभेदों से भी युक्त होते हैं। मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है। एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान। एकांत मिथ्यात्व का वह प्रकार है जो बिना दूसरे पहलू पर विचार किये या अपने कथन को सही होना न मानते हुए पुष्ट होता है। उस विश्वास को वह सही मानता है, जो कि उसके वंश या समाज में सही माना जाता है। दूसरी तरह का मिथ्यात्व वह विश्वास है जो या तो विपरीत होता है या जो इसी प्रकार के दूसरे विश्वासों के साथ ही माना जाता है। किसी वस्तु को गलत जानते हुए भी उसके प्रति विश्वास पर दृढ़ रहना विनय मिथ्यात्व है। जहाँ पर कि सत्य या असत्य के विषय में कोई व्यक्ति निर्णय नहीं ले पाता है या एक व्यक्ति किसी सिद्धान्त की सच्चाई पर विश्वास नहीं मानता है वहाँ पर संशय मिथ्यात्व है। अंतिम भावाश्रव कर्म ज्ञान के विषय में तर्क वगैरह का प्रयोग न कर पाने के कारण से कोई निश्चित विचार को रूप देने में असमर्थता से सम्बन्धित होता है।

अविरति भी पाँच प्रकार की होती है-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। परिग्रह का अर्थ है उस वस्तु को रखना जिसकी आवश्यकता नहीं है। ये पाँच अविरतियाँ अविरित या व्रत हीनता से सम्बन्धित हैं।

प्रमाद भी पाँच प्रकार का होता है। विकथा-किसी व्यक्ति, राज्य, संगठन, राजा और स्त्री के विषय में निन्दनीय बात कहना। पाँच इन्द्रियों के द्वारा असावधानी से बहुत

सारे कार्य होते हैं। निन्दा जहाँ पर यह अप्राकृतिक होती है वहाँ असावधानीपूर्वक भूलों का स्रोत हो सकती है। पाँच प्रकार का प्रमाद है। यह भिन्न प्रकार की सांसारिक वस्तुओं के प्रति राग का परिणाम है।

योग शरीर, मन और वचन की क्रियाओं से सम्बन्धित है जो अनेक प्रकार का होता है। जैसे यथार्थ, अयथार्थ और मिश्रित। कषायों के अन्तर्गत क्रोध, मान, माया और लोभ आते हैं। नो कषायों का कथन पहले अध्याय में किया जा चुका है[5]।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्मों के आस्रव के अनुरूप कारणों का वर्णन समयसार के अध्याय पाँच में किया है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग। ये कर्म पुद्गलों के आस्रव के कारण हैं जो कि आत्मा के गुणों को आच्छादित करते हैं। ये मानसिक दशायें और कषायें उस व्यक्ति के कार्य से प्रारम्भ होती हैं जिसका कोई सुनिश्चित ज्ञान नहीं होता है, न श्रद्धान होता है। आस्रव, अशुद्ध या गलत विचार या वाणी के कार्यों से होता है। कषायें प्रेरक शक्तियों का रूप ग्रहण करती हैं, यदि उन पर नियंत्रण न हो तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से न हो।

बन्ध - कर्म का आस्रव किस प्रकार जीव को बाँधना है; इसकी प्रणाली के लिए एक उदाहरण दिया है उस व्यक्ति का; जो अपने पूरे शरीर में तेल लगाये हुए है तथा बाहर जहाँ हवा चल रही हो; वहाँ पर खड़ा होता है। यह स्वाभाविक है कि इस प्रकार के व्यक्ति के शरीर के ऊपर धूल का चिपकना स्वाभाविक है। इसी प्रकार जब विभिन्न प्रकार की लेश्याओं से जीव संयुक्त लिप्त होने के कारण कमजोर होता है तो वह कर्म पुद्गल परमाणुओं को प्रवेश करने के लिए अवकाश देता है। यह अनिवार्य प्रणाली है कि भावास्रव या विचारात्मक क्रियाएँ द्रव्यास्रव के सीधे-सीधे या आसन्न कारण हैं, इससे पुद्गल का आस्रव होता है। वह भावात्मक अवस्था जिससे कर्म जीव के साथ बँधते हैं उसे भावबन्ध कहते हैं जबकि कर्म प्रदेशों का आत्मा के साथ में एकमेक हो जाना द्रव्यबन्ध है[6]। यह मन की वह अवस्था है जो कि कर्म को, जीव को कर्म के साथ बाँधती है। जीवकषाय या द्वेष के कारण उत्तेजित हो जाता है; ऐसा पहले ही कह चुके हैं। बन्ध भी दो प्रकार का होता है-भावबन्ध और द्रव्य बन्ध। जीव का मानसिक क्रियाओं से जुड़ना भावबन्ध है। इससे उत्तेजना कषाय तथा मिथ्यात्व आदि फलित होता है। वर्धमान पुराण में यह कहा गया है कि चेतना का रूपान्तरण राग या द्वेष से युक्त होकर कर्मों से युक्त होता है। इस प्रकार के जीव का बन्धन भावबन्ध कहलाता है[7]। द्रव्यबन्ध वह बन्ध है जिसका फल जीव तथा कर्म का एकमेक हो जाना है। आत्मा के अनेक

प्रदेशों में पुद्गलों का मिलना बन्ध में निश्चित है। आत्मिक क्रिया में कम्पन की भिन्नता के कारण कर्मपुद्गल प्रविष्ट होते हैं तथा आत्मा के प्रदेशों के साथ ठहरकर एक हो जाते हैं। वे असंख्य रूप में प्रतिक्षण प्रत्येक आत्मा में आस्रवित[8] होते हैं।

उमास्वामी ने पहले कहा है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बन्ध के कारण हैं। उनके अनुसार बन्ध तब होता है जब आत्मा कषायों से युक्त होती है तथा पुद्गलों को आकर्षित करती है जो कि कर्म में बदल जाते हैं[9]। इसकी व्याख्या में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है जैसे पेट की जठराग्नि भोजन को पचा जाती है इसी प्रकार आत्मा कर्म को आकर्षित करती है तथा कषायों के तीव्रतम, मध्यम या सामान्य स्वभाव के कारण फलित होते हैं। मिथ्यादर्शन आदि की शक्ति के कारण आत्मा समस्त अवस्थाओं में निरन्तर सक्रिय रहता है तथा असंख्य कर्म पुद्गल कर्म पुद्गलों में बदल जाते हैं जो कि आत्मा के प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं, यह बन्ध है। जैसे जौ फूल तथा फलों आदि का बर्तन में मिश्रण मादक मद्य को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार पुद्गल आत्मा के साथ में उपस्थित रहकर कर्म पुद्गलों में क्रियाओं और कषायों के कारण बदल जाते हैं[10]। कर्म का बन्धन इसकी प्रकृति के कारण चार प्रकार का होता है- 1. प्रकृति 2. स्थिति 3. अनुभाग 4. प्रदेश[11]। इस तथ्य को पहले ही निर्देशित किया गया है कि कर्म आठ प्रकार के होते हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि आत्मा के चार गुणों को ढकने के लिये उत्तरदायी हैं तथा जीवन की चार दशाओं को निश्चित करने के लिए उत्तरदायी हैं, इनसे अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। स्वाभाविक रूप से इसी कारण आठ कर्मों के स्वभाव में अन्तर होना चाहिए। अन्त में यह निष्कर्ष निकलता है कि बन्ध का स्वभाव अनेक प्रकार का होता है।

बन्ध का दूसरा भेद स्थिति बन्ध या प्रत्येक कर्म की अवधि है। बन्धन की अवधि कर्म की अवधि के साथ सम विस्तारी हैं। समय की अवधि इसके झड़ने के समय पर निर्भर है। बन्धन की अवधि तथा उसकी सघनता कषायों की सघनता पर निर्भर है जितनी अधिक कषाय् मजबूत होगी उतनी अधिक कर्म बन्धन के फलित होने की दीर्घावधि होगी। ऐसा अशुभकर्मों के विषय में है। शुभकर्मों के मामले में फलित होने की सघनता कम है। किसी अशुभ कर्म की गहराई बहुत बड़ी है तो उससे मुसीबतें भी बड़ी बड़ी आती हैं। वह इतने अधिक वर्षों की भी हो सकती है, जो कि हमारे विचार से बाहर हो। इस अवधि का माप सागरोपम वर्षों में किया गया है। कम से कम एक मुहूर्त

(48 मिनट) होना चाहिए। सघनता चार श्रेणियों में विभाजित की गयी है। यदि शुभ कर्मों के फलित होने का समय बड़ा है तो सुख भी बड़ा होता है।

जब हम बन्धन की प्रकृति का वर्णन कर रहे थे तब हमने अनुभाग (सघ्नता) का वर्णन किया था। कर्म का फल अशुभकर्मों के अनुसार दुःख रूप होता है तथा शुभ कर्म के अनुसार सुख रूप होता है। ये दोनों संक्षिप्त बड़े या सघन हो सकते हैं। यह कषायों तथा कर्मों को उत्पादक करने वाली क्रियाओं पर निर्भर करता है। अनुभाग बहुत सारे विभाज्य को असंख्यात संख्यात में अविभाज्य करने पर निर्भर हैं जो कि पुनः विभाजित न हो सके। इस प्रकार के अविभाज्य भाग को अविभाज्य इकाई या अविभाज्य परिक्षेत्र कहा जाता है। एक कर्म स्कन्ध भी अभिभाज्य असंख्य इकाइयाँ रखता है[12]। चतुर्थ प्रकार की बन्धन प्रदेश बन्ध या कर्म प्रदेशों का अन्तः कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना है। जब कर्मों का आस्रव निरन्तर जीव में होता रहता है तो जीव पुद्गलों का आकर्षण करता है जो कि आत्मा में स्थान ग्रहण करते हैं। लोक के प्रदेश कर्म पुद्गलों से भरे हुए हैं तथा जीव केवल उसी संख्या में पुद्गलों को ग्रहण करता है जो कि कषाय रूप क्रिया के द्वारा ले जाये गये हैं। पुद्गलों की संख्या जो कि आकर्षित की गयी है वह आठ प्रकार की हो सकती है क्योंकि कर्म के आठ ही भेद होते हैं-

संवर या आस्रव का रोकना - जीव को कर्म से मुक्ति दिलाने की प्रणाली में संवर या कर्मों के आस्रव को रोकना पहला सार्थक कदम है। संवर आस्रव के विपरीत है। जीव में कर्मों के प्रवेश को रोकना संवर है। उमास्वामी ने एक संक्षिप्त परिभाषा दी है आस्रव का रोकना या निरोध संवर है[13]। यह आध्यात्मिक विकास को लाने वाला है जिससे कि नये कर्म का आगमन रुकता है।

आस्रव दो प्रकार का होता है - भावास्रव और द्रव्यास्रव; उसी प्रकार से संवर भी दो प्रकार का होता है। भाव संवर तथा द्रव्य संवर[14]। राग तथा द्वेष से मुक्त होने से आस्रव रुकता है। भावास्रव विभिन्न साधनों से होता है, क्योंकि कषायों की तरह शरीर, मन और वाणी से कर्मों का आस्रव होता है। संवर से उन पर नियंत्रण प्राप्त होता है। इसी के अनुरूप भावसंवर के विविध प्रकार हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र पहले की उपमा को जारी रखते हुए एक नाव में जल का प्रवेश जो कि छिद्र के द्वारा हो रहा था उसे यदि रोका जाय तो छेद बन्द कर देना चाहिए। यदि खिड़की से हवा आ रही हो तो खिड़की बन्द कर देना चाहिए। यह प्रतीकार का सामान्य तरीका है।

यही तरीका कर्मों के आस्रव के लिए प्रयुक्त होता है। यदि कर्मों का आना रोक दिया जाता है तो हमें क्रियाओं को भी रोक देना होगा। बहुत से कर्म मिथ्यादर्शन के कारण होते हैं जब एक व्यक्ति मोह की स्थिति में होता है या कषायों की जकड़ में होता है तो वह नहीं जानता है कि जीव के लिए क्या अच्छा है? वह विश्व के सांसारिक राग में गहराई से संलग्न होता है तथा विभिन्न प्रकार के दुःखों से युक्त होता है। मन, काय और शरीर की शुद्धि द्वारा बन्धन रोका जा सकता है, जिससे अनेक प्रकार की क्रियाओं का उदय होता है जो कि कर्म का आस्रव कराती हैं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन तथा आप्त संयम के द्वारा कषायों को दमन करना चाहिए या शमन करना चाहिए।

क्रियायों के निरोध तथा कषायों पर विजय से कर्मों का आस्रव होता है। इनके रोकने से संवर होता है। पाँच व्रत हैं- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा बहुत अधिक सांसारिक वस्तुओं को छोड़ना (अपरिग्रह)। चारित्र के ये पाँच नियम बौद्ध नीतिशास्त्र में पंचशील कहलाते हैं। इन व्रतों का पालन करने से पाँच इन्द्रियों के रुझान से सम्बन्धित बहुत सारी बुराइयों तथा कषायों के उदय पर रोक लगती है।

समितियाँ पाँच प्रकार की होती हैं; जिससे कि चारित्र और व्यवहार को नियंत्रित करनपे से सावधानी आती है। **ईर्या समिति** - सावधानीपूर्वक चलने से ईर्या समिति होती है। जो मार्ग मनुष्य और पशुओं के चलने से शुद्ध हो गया हो उसी मार्ग से चलना चाहिए। मार्ग का व्यवहार उस ढंग से करना चाहिए जिससे चीटियों और जीवाणुओं को कोई चोट न पहुँचे या किसी प्रकार की कोई हानि न हो। **भाषा समिति** - वाणी में सतर्कता से आती है। वाणी, सज्जनतापूर्ण, लाभदायक तथा कल्याणकारी होना चाहिए। किसी से बोलते समय कठोरता, फूहड़ता तथा व्यंग्योक्ति; इन सबका परित्याग कर देना चाहिए। **एषणा समिति** का सम्बन्ध आहार ग्रहण करते समय सावधानी रखने का है जिससे कि चारित्र के दूसरे नियमों में विरोध न हो। **आदान निक्षेपण समिति** किसी वस्तु को उठाने या रखने में सावधानी का प्रयोग करना है। **उत्सर्ग समिति** - मलमूत्र वगैरह का किसी स्थान पर क्षेपण करते हुए सावधानी का प्रयोग होता है। किसी भी व्यक्ति को आवागमन से रहित तथा जीवाणुओं से रहित स्थान का इसके लिए प्रयोग करना चाहिए। **गुप्ति** - शरीर, वचन और मन को वश में रखना गुप्ति है। कोई व्यक्ति जब चल रहा हो या शरीर की प्रवृत्ति को परिवर्तित शरीर के हलन-चलन को दूसरे रूप में ग्रहण कर रहा हो तब उसे सावधानी रखनी चाहिए। इसे कायगुप्ति कहते हैं। वाणी पर नियंत्रण रखने से वाक् गुप्ति होती है। किसी भी व्यक्ति को ऐसी वाणी नहीं बोलनी

चाहिए जो दूसरों को चोट पहुँचाए; यह तीसरी मनोगुप्ति है। जो मन को वश में करने से होती है। जो विषय हानिप्रद और अस्वास्थ्यकर हैं, उनमें मन को नहीं भटकाना चाहिए। **धर्म** - धर्म वह है जिसमें दश प्रकार के व्रत या चारित्र का पालन करते हैं। वे अनिवार्य रूप से उत्तम शब्द से जुड़े हुए हैं जो इनका सामान्य अर्थ समझा जाता है। उनकी अपेक्षा ये विशिष्ट हैं। वे इनका जो सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है उसे बतलाते हैं। वे हैं-

1. उत्तम क्षमा 2. उत्तम मार्दव 3. उत्तम आर्जव 4. उत्तम सत्य 5. उत्तम शौच 6. उत्तम संयम 7. उत्तम तप 8. उत्तम त्याग 9. उत्तम आकिंचन 10. उत्तम ब्रह्मचर्य।

ये दश चारित्र के नियम हैं जिनका उद्देश्य मन की शुद्धि, आत्म संयम तथा अध्यात्मिक विकास की दृष्टि रखना है। प्रत्येक धर्म का उत्तम विचारों और चारित्र से पोषण करना चाहिए और पालन करना चाहिए; यह आगे कहा जायेगा कि उत्तम तप दो प्रकार का होता है- 1. आन्तरिक तप 2. बाह्य तप। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन तथा शारीरिक तप बाह्य तप हैं। आन्तरिक तप-प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान हैं। चूँकि दशधर्म बड़े महत्त्व के हैं अतः उनका वर्णन बाद में विस्तृत रूप में किया जायेगा।

अनुप्रेक्षा या बार-बार चिन्तन 12 प्रकार का होता है-1. अनित्यानुप्रेक्षा - यह बार-बार चिन्तन करना कि संसार में सारी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं 2. अशरणानुप्रेक्षा- यह चिन्तन करना कि संसार में आत्मज्ञान में ही सुख है, अन्य कोई हमें शरण नहीं दे सकता है 3. संसारानुप्रेक्षा- यह विचार करना कि सांसारिक अस्तित्व का चक्र अन्तहीन है 4. एकत्वानुप्रेक्षा- यह चिन्तन करना कि मनुष्य इस संसार में अकेला है तथा अपने भविष्य का स्वयं निर्माता है 5. अन्यत्वानुप्रेक्षा- यह विचार करना कि आत्मा अजीव या शरीर से भिन्न है 6. अशुचित्वानुप्रेक्षा- यह विचार करना कि संसार में शुद्ध आत्मा के सिवाय सारी वस्तुएँ अस्वच्छ हैं 7. आस्रवानुप्रेक्षा- कर्मों के आगमन के विषय में बार-बार चिन्तन करना 8. संवरानुप्रेक्षा- कर्मों के आगमन के साधनों को रोकना 9. निर्जरानुप्रेक्षा- कर्म जो कि सदैव से इकट्ठे हैं उनके साधनों से छुटकारा पाना 10. लोकानुप्रेक्षा- संसार तथा उसमें (रहने वाले) पाये जाने वाले द्रव्यों के स्वरूप के विषय में बार-बार चिन्तन करना 11. बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा-मोक्षमार्ग में जाने के लिए ज्ञान की प्राप्ति संसार में बड़ी दुर्लभ है। इस प्रकार चिन्तन करना। 12. धर्मानुप्रेक्षा- यथार्थ धर्म का स्वरूप और इसके मौलिक सिद्धान्तों का बार-बार चिन्तन करना।

परीषहजय- बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए उनको सहन करना 1. क्षुधा- भूख की वेदना पर विजय प्राप्त करना 2. तृषा - प्यास की बाधा पर विजय प्राप्त

करना 3. शीत-शीत की बाधा और उसके प्रभावों पर विजय प्राप्त करना 4. उष्ण-गर्मी की बाधाओं पर विजय प्राप्त करना 5. दंशमशक-मच्छर, मक्खी तथा खटमल आदि के काटने से हुई बाधा पर विजय प्राप्त करना 6. नान्य-नग्नता से उत्पन्न हुई लज्जा की अनुभूति को तथा जीतना तथा उसके फलों के विषय में विचार करना 7. अरति- जिन वचनों को हम पसन्द नहीं करते हैं उनके अनुभवों के प्रति असंतोष पर विजय प्राप्त करना 8. स्त्री तथा उनकी गति वगैरह को देखने तथा मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त करना 9. चर्या- पैदल चलते समय हुई थकान की अनुभूति और कष्ट पर विजय प्राप्त करना 10. निषद्या- समाधि के स्थान से चलने की इच्छा या समाधि के समय होने वाले असुविधाजनक दुःखों के ऊपर विजय प्राप्त करना 11. शय्या- जमीन की तह पर सोने से तथा बिस्तर के अभाव से होने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना 12. आक्रोश-दूसरों के द्वारा किये दुर्व्यवहार से उत्पन्न हुई क्रोध की अनुभूति पर विजय प्राप्त करना 13. वध- दूसरे के द्वारा की हुई कठिनाइयों, व्यवधानों तथ गलत व्यवहार के ऊपर विजय प्राप्त करना 14. याचना- किसी चीज को जिसकी कि अत्यधिक आवश्यकता है उसको माँगने की इच्छा पर विजय प्राप्त करना 15. अलाभ- भोजन नहीं मिलने से उत्पन्न कठिनाइयों तथा असन्तोष के ऊपर विजय प्राप्त करना 16. रोग-बीमार हो जाने पर होने वाले दुःखों पर विजय प्राप्त करना 17. तृण- नुकीले तृण वगैरह से उत्पन्न हुए कष्टों पर विजय प्राप्त करना 18. मल- किसी के शरीर से उत्पन्न हुए पसीना तथा अशुचिता को देखकर उत्पन्न हुई घृणा या असन्तोष पर विजय प्राप्त करना 19. सत्कार पुरस्कार- सत्कार तथा पुरस्कार प्राप्त करने की इच्छा के ऊपर विजय 20. प्रज्ञा-ज्ञान या शिक्षा से उत्पन्न हुए मद पर विजय प्राप्त करना 21. अज्ञान- किसी व्यक्ति की अपने अज्ञान से उत्पन्न निराशा और शर्म की अनुभूति के ऊपर विजय प्राप्त करना 22. अदर्शन-पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए तथा तपों का आचरण करते हुए किसी प्रकार की ऋद्धि आदि प्राप्त न होने पर उत्पन्न हुई निराशा तथा दुःख के ऊपर विजय प्राप्त करना; ये 22 प्रकार की कठिनाइयाँ हैं जिन पर मन की शान्ति के लिए दुःखों के परिणाम पर विजय प्राप्त करने के लिए तथा विभिन्न प्रकार की स्थितियों पर जो कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आती रहती हैं उन पर विजय प्राप्त करना। इन 22 प्रकार की परीषहों पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

भाव संवर का सातवाँ साधन सम्यक् चारित्र है जो कि पाँच प्रकार का होता है- 1. सामायिक- आत्मलीनता तथा पाँच व्रतों के पालन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई

समता 2. छेदोपस्थापना- भूलों तथा दोषों से उत्पन्न हुए प्रमाद पर पछतावा करना तथा त्रुटियों का परिमार्जन कर शान्ति की पुनः प्राप्ति 3. परिहार विशुद्धि- जीवों की हिंसा न करने से प्राप्त हुई पवित्रता 4. सूक्ष्म साम्पराय- लोभ कषाय को छोड़कर समस्त कषायों से मुक्त हुआ चारित्र 5. यथाख्यातचरित्र- जैसा आगम में बतलाया है उस प्रकार से कषायों से रहित होने वाला चारित्र। यह चारित्र 11वें से लेकर 14वें गुणस्थान वाले जीवों के [15] होता है।

ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न बिन्दुओं से जो आध्यात्मिक विकास होता है उससे संवर होता है। योग तथा कषायों से संसार भ्रमण होता है। उनके रोकने से स्वभाव तथा मानसिक संवर या भाव संवर की ओर बढ़ते हैं। क्रियाओं का निरोध करना तथा कषायों पर विजय प्राप्त करना इनसे कर्म पुद्गलों का आस्रव रुकता है। द्रव्य संवर का यह फल होता है।

समस्त बुराईयों का मौलिक कारण मिथ्यादर्शन तथा कषायोदय है जो कि अन्तहीन संसार की ओर ले जाता है। आत्म संयम की कमी भी इसमें कारण है। इन सबसे उच्च गुणस्थान की श्रेणियों पर गमन रुकता है। मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध करने से संवर होता है। जीव को अपने सामान्य कार्यों जैसे-गमन करना, भोजन करना, बैठना, सोना आदि से हुई सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचना चाहिए। नियमित तथा सावधानीपूर्वक दशधर्मों का पालन, विचार और क्रियाओं की शुद्धि आत्मिक चैतन्य को जगाती है। विभिन्न प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ जिनके विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं वे उच्च धर्म के मानसिक तथा आत्मिक गुणों को उत्पन्न करने में मदद करती हैं। वे यथार्थ ज्ञान के विशाल मार्गों को खोलती हैं। भौतिक संसार तथा इसके क्षणिक स्वभाव का परिचय देती हैं। वे हमारे मोह को सभी प्रकार के परिग्रहों से चाहे वह व्यक्तिगत हो या भौतिक, छुटकारा दिलाती हैं। सांसारिक अस्तित्व की ऊपर आयी हुयी मुसीबतों के ऊपर ध्यान दिलाकर अयथार्थ से यथार्थ का भेद कराती हैं। इस परिवर्तनशील संसार में मात्र 10 धर्म ही हमारे सही दिशा निर्देशक और दार्शनिक हैं। आत्मा का शरीर से पृथक्करण का विचार हमें यह सुनिश्चित करता है कि शरीर अशुचि पदार्थों का घर है। धर्म के प्रति लगातार भक्ति तथा इससे उत्पन्न हुए नियमों का अभ्यास नये कर्मों के आने को रोकता है तथा आपदाओं से बचाने के लिए हमारे विश्वास को अविचलित करता हैं। जो व्यक्ति विभिन्न प्रकार की आपदाओं को समता से सह लेते हैं वे सत्य और अहिंसा के मार्ग से विचलित नहीं होते हैं। नये कर्मों के आस्रव के रोकने के लिए

आन्तरिक तथा बाह्य तपों को तपना या अभ्यास करना आवश्यक है। अपने दोषों पर पछतावा करना, ध्यान लगाना, साधुओं की वैयावृत्ति करना तथा चतुर्विध संघ की सेवा करना। श्रुत की अध्ययन करना, श्रुत का अभ्यास करना, संसार को छोड़ देना या दीक्षा ग्रहण करना। ये सब आन्तरिक पवित्रता को प्राप्त करने के साधन हैं।

निर्जरा-

जब उपर्युक्त पद्धति से कर्मों का आस्रव रुक जाता है तब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कर्मों का क्या होता है जो कि आत्मा के साथ में पारगमन करते रहते हैं। वह पद्धति जिससे कर्म झड़ जाते हैं उसका नाम निर्जरा है। एक अभिप्राय में यह कर्मों का विनाश है जब कर्मपुद्गल फल देकर या भोगने पर नष्ट हो जाते हैं तो उस समय जो स्थिति होती है उसका नाम भाव निर्जरा है। यह तप के द्वारा भी हो सकती है। कर्मपुद्गलों का विनाश स्वयं द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार[16] की होती है।

कर्मों का अनुभाग या तो अपने आप होता है या इरादे से किये गये प्रयासों से होता है। जीवों के निश्चित कर्म उनकी चार गतियों में दुःख झेलने, समयावधि पूरी करने पर या परिपक्व होने पर नष्ट हो जाते हैं। अपने निजी प्रयत्नों से कर्मों से छुटकारा पा लेना दूसरे प्रकार की निर्जरा है।

उमास्वामी ने कहा है कि कर्मों का छुटकारा (निर्जरा) तप से भी होता है[17]। उन्होंने संवर और निर्जरा का कुछ सूत्रों में एक साथ वर्णन किया है, क्योंकि वे तो तप, परीषह विजय, नियम तथा धार्मिक क्रियायें संवर के लिए भी और निर्जरा के लिये भी उपयोगी हैं। साधु तथा आध्यात्मिक रूप से विकसित मनुष्य विभिन्न प्रकार के तप तथा धार्मिक क्रियाओं का अभ्यास करते हैं, जिससे कर्म बिना फ़ल दिये ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि निर्जरा बिना फल का भोग किये हो जाती है; इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। दूसरी दृष्टि से जब कर्म जोर देने तथा तप से नष्ट हो जाते हैं तो इस निर्जरा को सविपाक निर्जरा कहते हैं। कुछ कर्मों का परिपक्वता या उनका भोग निश्चित रहता है। समय के व्यतीत हो जाने पर जब कर्म भोग लिये जाते हैं या कष्ट सहन कर लिया जाता है तो वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं, इसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। जब कर्मों का भोग हो चुकता है या कर्म नष्ट हो जाते हैं तो आत्मा पुनः अपनी पवित्रता को प्राप्त कर लेता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय की 144 से लेकर 146 वीं गाथाओं में इस विषय का वर्णन किया है। उनके अनुसार एक व्यक्ति जिसने बहुत सारे तप किये हैं तथा अपनी क्रियाओं में शुद्धि के लिए नियम पालन किया है, बहुत सारे कर्मों की निर्जरा करने में

समर्थ होता है। तप दोनों प्रकार के होते हैं-आन्तरिक तथा बाह्य। एक व्यक्ति जो कि आत्मा को सही प्रकृति को समझता है तथा सांसारिक वस्तुओं के प्रति राग को व्यर्थ समझता है, वह सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है और उससे विचारों की पवित्रता और क्रियाओं के कारण कर्मों को नष्ट करने की योग्यता प्राप्त करता है। वह अकेला ही अपने कर्मों को नष्ट करने में समर्थ होता है। वह उसके सम्यग्ज्ञान से पूरी तरह तल्लीनता से आत्म ध्यान करता है। कुन्दकुन्द आचार्य ने कर्मों की निर्जरा में सम्यग्दर्शन की महत्ता पर जोर दिया[18] सम्यग्दर्शन सांसारिक वस्तुओं को छोड़ने के लिए जागरूक करता है। कषायों की क्रियाओं को रोकता है तथा नये अनुरागों के मार्ग में संलग्नता नहीं होने देता। इस प्रकार के व्यक्ति की क्रियाएं शुद्ध होंगी तथा वह नये कर्मों को बाँधने में प्रवृत्त नहीं होगा। सम्यग्दर्शन से जीव की सही पहचान होती है। कर्मों के विनाशात्मक तथा बल को हीन करने के स्वभाव के विषय में एक निश्चित दृढ़ विश्वास होता है। इसका कारण सम्यग्दर्शन से उत्पन्न यथार्थ तरंगों से व्यक्तियों की गणना की गयी है। इस प्रकार का व्यक्ति यह जानता है कि दुःख और सुख अच्छे और बुरे कर्मों के बन्धन से होता है। वह सदैव अपना रक्षक होता है तथा अपनी शुद्धात्मिका के प्रति सदैव सजग होता है। वह अनुभव करता है कि जीव की प्रकृति शुद्ध ज्ञान है और इसका सही मार्ग एक ही है-मोक्ष। वह व्यक्ति; जिसके सच्चा श्रद्धान नहीं है, वह अज्ञानी रहता है तथा अपनी आत्मा के स्वभाव विषय में मिथ्या और अनिर्णयात्मक रहता है। अतः वह उस प्रकार की लेश्याओं में लिप्त रहता है जिनका कि सम्बन्ध सांसारिक कार्यों से है। सही विश्वास करने वाला अपने सम्यग्ज्ञान से सन्तुष्ट रहता है जो कि उसे शान्ति और प्रसन्नता लाता है। यह केवल मिथ्या श्रद्धान करता है या अज्ञानी रहता है तथा इन्द्रियों के सन्तुष्टिकरण में लगा रहता है फलस्वरूप भौतिक वस्तुओं को इकट्ठा करने में लगा रहता है जो कि उसकी कषायों का पोषण करती हैं। एक सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से रहित होता है। ये सात भय हैं- 1. जीवन का भय (इहलोक भय) 2. परलोक भय 3. सहाय न होने का भय 4. जो कुछ उसके पास में है उसके खोने का भय 5. दुःख का भय 6. दुर्घटना का भय, तथा 7. मृत्यु का भय। एक सम्यग्दृष्टि अपने विश्वास में दृढ़ रहता है तथा अपनी सच्चाई के प्रति दृढ़ विश्वासी रहता है।

वह शक्ति जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है। वह समय से पूर्व कर्मों को नष्ट करने में कारण होती है। आत्मलीनता का परिणाम भाव निर्जरा के द्वारा कर्मों का नष्ट होना है जिसका परिणाम द्रव्य निर्जरा होता[19] है।

मोक्ष

सातवाँ तत्त्व मोक्ष है। आत्मा तब मुक्त होती है जब समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है। बन्धन के कारण समाप्त हो जाते हैं तथा आत्मा से कर्मों का छुटकारा हो जाता है। जब हम कर्म सिद्धान्त के विषय में विचार कर रहे थे तो यह उल्लेख किया गया था कि कर्म आठ प्रकार के होते हैं- 4 घातिकर्म, और 4 अघातिकर्म। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के विनाश का फल आत्मा का भाव मोक्ष है। चार अघाति कर्मों का विनाश तब होता है जब कोई जीव अंतिम गुणस्थान में अयोगी कहलाता है। पूर्ण मुक्ति तब होती है जब समस्त कर्मों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है। जैन विचारकों के अनुसार सारे लोक में जीव और अजीव हैं। जीव अनन्तज्ञान और अनन्त सुख के साथ शुद्ध तथा पूर्ण हैं किन्तु अनादिकाल से यह कर्मों के बन्धन से बँधा हुआ है। जीव और कर्म का बन्धन जो कि सूक्ष्म पुद्गलों के माध्यम से होता है वह काय, मन और वाणी के द्वारा होता है। इन क्रियाओं और कषायों कें कारण जीव विभिन्न प्रकार के कर्मों के कारण जीव विभिन्न प्रकार के कर्मों से बँधता है तथा अपने अस्तित्व की विभिन्न स्थितियों के प्रति उत्तरदायी होता है तथा अन्तहीन जन्म और मरण के दुःखों को भोगता है। जीव अपने भाग्य का स्वयं ही स्वामी है। कर्मों के सम्पर्क का कारण तथा मुक्त होने के साधन वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किये गये हैं।

कर्म से जीव की पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति मोक्ष है[20] क्योंकि प्रत्येक जीवित प्राणी का मोक्ष लक्ष्य है अतः इस विषय में स्वतंत्र अध्याय में बाद में विचार किया जायेगा।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. गिलासनप- डाक्ट्रायन ऑफ कर्म इन जैन फिलोसोफी विद इन्ट्रोडक्शन वाई जिम्मरलेन, पृ. 9-10, सम्पादक-हीरालाल रसिक भाई कापड़िया, ट्रस्टी वाई वी.जी.वाई. जीवनलाल पन्नालाल चैरिटी फण्ड, बम्बई-2
2. एस.ए.जैन : रीयलिटी, अध्याय-1, सूत्र-2
3. वही, अध्याय-1, सूत्र-4
4. एस.सी.घोसाल द्वारा सम्पादित द्रव्य संग्रह, गाथा-30, सेक्रिट बुक्स ऑफ दि जैन्स वॉल्यूम फर्स्ट द सेंट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
5. वही, पृ. 75-77
6. वही, गाथा-32
7. वही, टीका, पृ. 80-81
8. जे.एल.जैनी : गोम्मटसार कर्मकाण्ड-भूमिका, पृ. 25, सेंट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ

9. एस.ए.जैनः रीयलिटी, अध्याय-8, सूत्र-2
10. वही, पृ. 217-218
11. एस.सी.घोसाल : द्रव्य संग्रह, गाथा-33
12. नथमल टाटिया-स्टडीज इन जैन फिलोसॉफी, पृ. 236, जैन कल्चरल सोसायटी, बनारस-5
13. एस.ए.जैन : रीयलिटी, अध्याय-9, सूत्र-1
14. एस.सी.घोसाल : द्रव्य संग्रह, गाथा-34
15. वही, पृ. 86-90
16. वही, गाथा-35
17. एस.ए.जैन : रीयलिटी, अध्याय-9, सूत्र-3
18. कुन्दकुन्द आचार्य : समयसार, अध्याय-7, जे.एल.जैनी की टीका सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस अजित आश्रम, लखनऊ
19. वही, पृ. 143
20. एस.ए.जैनः रीयलिटी, अध्याय-10, सूत्र 2

❑❑❑

अध्याय-10

नव पदार्थ या मौलिक सत्य

जैन तत्त्व विद्या का संक्षिप्त उल्लेख इसका लोक के अस्तित्व पर जोर देना तथा जीव और अजीव दो द्रव्यों को मानना है। अजीव विस्तृत द्रव्य है जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के उपभेदों में विभाजित हैं जीव और अजीव एक साथ सात तत्त्वों पर निर्भर हैं जिनका कि वर्णन किया जा चुका है। सात तत्त्वों का भलीभाँति ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन पर निर्भर है, क्योंकि अनादिकाल से जीव कर्मों से बँधा हुआ है। आत्मा की वास्तविक सत्ता का ज्ञान मोक्ष का साधन तथा चरम लक्ष्य का स्वभाव हमें जानना चाहिए जो कि मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए सफल और अनिवार्य अनुभूति है तथा चरम लक्ष्य है। बहुत से जीव एक गति से दूसरी गति की ओर भ्रमण करते हैं; क्योंकि उन्हें जीव और अजीव की सही पहचान नहीं है जिससे बहुत सा भ्रमपूर्ण राग चारों तरफ की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति होता है। एक व्यक्ति जो ज्ञानावरण कर्म के मोह से युक्त है वह समस्त भौतिक पदार्थों के प्रति निकटता का दावा करता है तथा स्वयं के वास्तविक स्वभाव के प्रति अनजान रहता है। उसकी आत्मा के शुद्ध गुण ढके हुए रहते हैं। कर्मों के आस्रव तथा कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ में जुड़ जाना तथा बन्धन, इस सबका वर्णन जैन दर्शन में सात तत्त्वों के अन्तर्गत किया गया है। इन सात तत्त्वों में यदि पाप और पुण्य को जोड़ दिया जाय तो हमें नौ पदार्थ प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ[1] पदार्थ हैं। पदार्थ का दूसरा संक्षिप्त पर्यायवाची प्राप्त होना बड़ा कठिन है। यद्यपि श्रीमती स्टीवेन्शन ने नौ पदार्थों के मौलिक सत्य को नौ श्रेणियों के रूप में व्यंजित किया[2] है।

जब हम सात तत्त्वों का वर्णन कर रहे थे तब हमने शुभ और अशुभ विचारों का संदर्भ दिया था; जिनसे कि कर्म उत्पन्न होते हैं।

पुण्य का फल इस प्रकार के विचार उत्पन्न होना है जो उत्तम होते हैं तथा मस्तिष्क की सुखमय स्थिति में कहे जाते हैं। पाप उन क्रियाओं का फल होता है जो कि विभिन्न प्रकार के लोभ, क्रोध और घृणा के कारण होते हैं। वे क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मों के कारण होते हैं। पुण्य मन के शुभ विचारों का परिणाम है जबकि पाप अपवित्र विचारों का परिणाम है। दोनों प्रकार के विचारों की प्रकृति पुद्गल है जिनकी कल्पना कर्मों के रूप में की गयी है। इन कर्मों के फल जो कि आत्मा में प्रवाहित हैं उनका इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव किया जाता है या सुख या दुःख के जीवन द्वारा अनुभूत होता है। यद्यपि आत्मा का कोई रूप नहीं है फिर भी स्निग्ध और रुक्ष गुण के कारण से कर्म पुद्गल पाप और पुण्य के रूप में आत्मा में बद्ध रूप से समाहित होते हैं। इस प्रकार शुभ और अशुभ कर्मों का नया बन्धन होता है[3]। प्रत्येक प्रकार का कर्म दो प्रकार का होता है- भावकर्म तथा द्रव्यकर्म। दूसरा विभाजन पुण्य और पाप के रूप में भी होता है।

पुण्य कर्म का आस्रव तभी होता है जबकि लेश्याएँ, प्रेम, दया और पवित्रता से युक्त होती हैं। जो व्यक्ति अरहन्त, सिद्ध और आचार्यों के प्रति भक्ति रखता है; वही व्यक्ति वास्तव में स्नेह और प्रेम को सभी रूप में रखता है। ऐसे ही व्यक्ति को दयालु कहा जा सकता है जो कि प्यासे और भूखे के प्रति सहानुभूति रखता है तथा दूसरों की मुसीबतों में जो सहायता करता है। इस प्रकार की लेश्याओं का परिणाम पुण्य है। पाप कर्मों का कारण क्रोध, मान, माया और लोभ के द्वारा मन का व्यवधान पैदा करना है। वह व्यक्ति जिसका चेहरा चालाक है जो कि ऐन्द्रियिक सुख में लगा हुआ है तथा दूसरों के प्रति बुराई करता है तथा दूसरों को मुद्दा बनाता है, वह पाप से ग्रस्त होता है। ऐन्द्रियिक सुख में संलग्न रहने के कारण तथा मन की दुःखी और क्रोधित अवस्था में और वक्र झुकावों से तीन प्रकार की बुरी लेश्याएँ रूप ग्रहण करती हैं।

दूसरे धर्म जो कि पुण्य और पाप के सिद्धान्त को मानते हैं उनके अनुरूप जैनधर्म के नैतिक सिद्धान्त उन विचारों और क्रियाओं को स्थापित करते हैं, जो कि दूसरों की भलाई के लिए प्रेरणादायक हैं तथा स्वयं के लिए गुणवान् हैं तथा जो अतिचार और दोष लगाते हैं वे पाप के परिणाम माने गये हैं।

पुण्य को इस रूप में पारिभाषित किया गया है जो कि आत्मा की शुद्धि करता है तथा जिसकी प्रवृत्ति आत्मा की शुद्धि है। स्वभाव में यह कर्मपुद्गल है। इसका कार्य भौतिक जगत् में प्रसन्नता और सुख लाना है। यह आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करने का मददगार साधन है। वे सही विचार और कार्य हैं, जो सम्यग्दर्शन को रूप देने, आत्म

संयम का पालन करने तथा आत्मिक शक्ति का विकास करने में सहायक होते हैं। अधिकांश लौकिक वस्तुएँ जैसे धन तथा स्वास्थ्य ये पुण्य के फल हैं। ये पुण्य हैं जो मन को धर्म की ओर उन्मुख होने का प्रशिक्षण देते हैं।

पाँच व्रतों का पालन करना, तप करना तथा दूसरे वे सभी कार्य जो कि शुभ विचारों की ओर आगे बढ़ाते हैं वे भाव पुण्य कहलाते हैं तथा पवित्रकार्य द्रव्य पुण्य कहलाते हैं। तरह-तरह के दान करने से शुभ या पुण्य उत्पन्न होता है। दान देना गृहस्थ के लिए प्रतिदिन के कर्त्तव्यों का भाग है। पवित्र ग्रन्थों में दान देना, आहारदान करना, औषधि दान देना, उपकरण प्रदान करना और आश्रय प्रदान करना; इन सबका पवित्र ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। जब कोई व्यक्ति दान दे रहा हो तो उसका मन, वचन और काय स्वच्छ रहना चाहिए। दान को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दान देने वाले की पात्रता जानना जरूरी है। उसकी दृष्टि बुरे संकल्प से रहित, उदासी रहित तथा नम्रता से युक्त होना चाहिए। उसका मन प्रसन्नता पूर्ण होना चाहिए तथा सांसारिक दान की उसे इच्छा नहीं हो। दान की वस्तुएँ जैसे वस्त्र, भिक्षु के लिए कटोरा तथा साधु के लिए पीछियों को कथन किया गया है। चार दानों के अतिरिक्त दूसरे भी दान हैं जैसे- शिक्षा देना, सहायों की मदद करना इत्यादि। किसी के धन का दान हेतु व्यय करना, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना, मन्दिर बनवाना, पवित्र ग्रन्थों का वितरण करना, धार्मिक लोगों को तथा सद्गृहस्थों को दान देना। नौ प्रकार के पुण्य का वर्णन मुनि सुशीलकुमार ने इस प्रकार किया है-

1. आहार देना 2. प्यासे को पानी देना 3. आश्रय देना 4. बिछाने के लिए कपड़े देना 5. वस्त्रदान करना 6. अच्छे विचारों की ओर मन लगना 7. अच्छे वन बोलना 8. दूसरों की सेवा करना और उन्हें नमस्कार करना[11] 9. दान देने में विशेष वरीयता देना तथा सेवा प्रदान करना तथा साधुओं को और जैनधर्मानुयायियों को विशेष वरीयता देना।

पुण्य के फल अनेक प्रकार के हैं जैसे-अच्छी गति मिलना, लोकपूजित कुल में जन्म लेना, इच्छा से रहित होना। सब प्रकार का धन वैभव होना । सुन्दर शरीर प्राप्त होना। आकर्षक व्यक्तित्व होना, सब प्रकार की बीमारियों से रहित होना तथा आध्यात्मिक उन्नति का जिसमें निश्चय हो, इस प्रकार का जन्म होना।

किसी के मन, वचन और क्रिया के फलस्वरूप दुःखी होना, मुसीबत आना पाप है, सभी चेतन प्राणी अपने पाप के फल स्वरूप दुःख भोगते हैं। पाप करने की क्रिया के

13 भेद हैं- 1. अपने लिए 2. बिना किसी व्यक्तिगत हित के लिये किया गया पाप 3. वध करना 4. दुर्घटना 5. दृष्टि दोष 6. लेटने से 7. वह वस्तु लेना जिसे किसी ने स्वेच्छा से न लिया हो 7. किसी की चोरी करना 8. अभिमान करना 9. किसी के द्वारा मित्रों के प्रति बुरा व्यवहार किया जाना 10. किसी को धोखा देना 11. लालच 12. किसी के धार्मिक जीवन में की गयी क्रियाएं उपर्युक्त क्रियाओं के अतिरिक्त जमाखोरी करना तथा अधिक धन सम्पत्ति इकट्ठा करना, जो कुछ लोभ से प्राप्त किया गया है, शत्रुता से प्राप्त किया गया है, दूसरों के प्रति घृणा से प्राप्त किया गया हो, संवेदना से प्राप्त किया गया है, यौन सम्बन्धी क्रियाओं से प्राप्त किया गया है, संघर्ष से प्राप्त किया है, युद्धों के द्वारा प्राप्त किया गया है; ऐसे धन की रक्षा के लिए अत्यधिक लुब्ध होना इत्यादि। दूसरे के ऊपर आरोप लगाना, उसकी बदनामी करना, उत्तेजनाशीलता तथा मिथ्यादर्शन इत्यादि भी पाप कर्मों के प्रति आकर्षित करते हैं। पाँच व्रतों में से किसी व्रत को तोड़ना, किसी कषाय के प्रति वशीभूत होकर कार्य करना; इन सबका परिणाम पाप होता है। पाप कर्मों का पालन कषायों की तीव्रता के ऊपर निर्भर है। वे पाप हैं जो कि आत्मा के गुणों को ढाँकते हैं तथा अगले जीवन में भी मन और शरीर को विकलांग करते हैं, विद्रूप करते हैं।

प्रथम बारह प्रकार के कार्य स्वयं ही अपनी व्याख्या करने वाले हैं। तेरहवें प्रकार का कार्य धार्मिक जीवन से सन्दर्भित है। एक साधु जो लाभ के लिए अपने आप पर नियंत्रण रखता है, सावधानीपूर्वक गमन करता है तथा जीव-जन्तुओं के विनाश को बचाता है। वह अपनी वाणी में मृदु होता है। धार्मिक क्रियाओं में सावधानी रखता है, संयमित जीवन बिताता है, समस्त बुराईयों से अपनी रक्षा करता है, पापार्जन नहीं करता है तथा उस प्रकार के कर्म का उपार्जन करता है,जो कुछ समय बाद ही नष्ट हो जायेंगे।

वे व्यक्ति जो किसी वस्तु को रखना तथा परिग्रह को छोड़ते हैं, सम्यक्त्व का अभ्यास करते हैं, अच्छे चरित्र और नीति के हैं, जो किसी का वध न करने तथा बुरे कार्यों को छोड़ देते हैं, जो कि दूसरों को दुःख के कारण होता है, साधु तथा दूसरे आदरणीय पुरुष जो सभी व्रतों का पालन करते हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं।

प्रतिदिन के जीवन में मनुष्य पुण्य से प्रेम करते हैं; क्योंकि इससे खुशी जीवन तथा सांसारिक सुख प्राप्त होता है। वे पाप से घृणा करते हैं; क्योंकि यह दुःख का कारण होता है। वास्तविक बात यह है कि प्रसन्नता और सांसारिक सुख का अधिक स्वागत नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्षण का इन्द्रियों का आकर्षण हमारे शौक को पुनः सुख

प्राप्ति की ओर बढ़ाता है। जैसे सोने की बेड़ी व्यक्ति को बाँधती है, इसी प्रकार लोहे की भी बेड़ी बाँधती है। इसी प्रकार शुभ कर्म और अशुभ कर्म जो अच्छे और बुरे कार्यों से उद्भूत होते हैं, वे जीव को बाँधते हैं। निश्चय नय की दृष्टि से पुण्य तथा पाप दोनों जीव को जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्र की ओर ले जाते हैं, वह जन्म चाहे सुख का वातावरण लाए या दुःख को लाए।

एक बुद्धिमान् सम्यक्त्वी को किसी भी प्रकार के कर्मबन्धन से दूर रहना चाहिए, उसकी दृष्टि आत्मा की मुक्ति की ओर होना चाहिए। इसे आत्मा के यथार्थ गुणों का ध्यान करना चाहिए। नीचे के गुणस्थानों में मन तथा इन्द्रियाँ सुख की ओर आकर्षित होती हैं तथा पुण्योपार्जन के लिए अच्छे कार्य करने की ओर प्रवृत्त होती हैं। फिर भी तीर्थंकरों की अनवरत भक्ति, गुरु भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण तथा आलोचना धीरे-धीरे मन में आत्मिक उत्थान के लिए तैयार करते हैं। जो व्यक्ति मोक्ष की खोज में है, उसे जानना चाहिए कि अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म जीव को बाँधते हैं। अतः उसे यह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के साथ विरक्त हो कर्मों के आवागमन से अपने को मुक्त रखे।

नव पदार्थों की सही शिक्षा के सम्यज्ञान का महत्त्व इस बात में निहित है कि यह मुक्ति के मार्ग को खोल देता है। आत्मा के सही स्वभाव का अनवरत ज्ञान तथा शुभ और अशुभ की हानि किसी जीव को आत्मचिन्तन का पोषण करने हेतु प्रभाव डालती है। कार्य कारण के नियम के प्रति दृढ़ विश्वास किसी जीव के प्रति प्रेम, घृणा, मोह, मान आदि कषायों का उपशम करने में सहायक होता है। मिथ्याज्ञान तथा मिथ्या श्रद्धान मिथ्यामार्ग की ओर ले जाता है, जो कि मुक्तिमार्ग से बहुत दूर है। ये नौ पदार्थ किसी जीव की निःसंशय जिम्मेदारी को इस विषय में स्थापित करते हैं कि वह क्या है और क्या होने जा रहा है ? आध्यात्मिक विकास एक चेतनामय और विचारात्मक पद्धति है तथा इसका निर्बाध भक्ति के साथ अनुसरण करना चाहिए।

कोई व्यक्ति जो नवपदार्थों के विषय में विचार कर रहा है वह यह अनुभव करेगा कि यह जानना कितना महत्त्वपूर्ण है कि शुद्ध आत्मा कर्म से संयुक्त होने के कारण आवागमन की कठिनाईयों में किस प्रकार पड़ जाता है तथा सम्यग्ज्ञान और दर्शन से कोई व्यक्ति कैसे नए कर्मों का इकट्ठा होना रोक सकता है तथा पुराने और नए कर्मों के संग्रह को मोक्ष के मार्ग का अनुसरण करते हुए रोक सकता है। ये नव पदार्थ जीवन की

समस्याओं का हल कर सकते हैं तथा उस कुंजी को बतला सकते हैं जिससे कि पूर्णता की प्राप्ति होती है। यह कुंजी प्रत्येक व्यक्ति के पास है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. आचार्य कुन्दकुन्द : पंचास्तिकाय गाथा, 108 श्री दि.जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र।
2. श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवेन्शन : जैनधर्म का हृदय (अंग्रेजी), अध्याय-7,पृ. 416, हम्फ्री मिलफोर्ड आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
3. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार, गाथा-131-134
4. मुनि सुशीलकुमार : जैनधर्म, पृ. 85 आल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानक भवन, 12, हार्डिंग रोड, नई दिल्ली।
5. हरमन जैकोवी : सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द 45, उत्तराध्ययन सूत्र, पृ. 356, डोब पब्लिकेशन, आई.एन.सी., न्यूयार्क
6. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार गाथा 153, श्री दि.जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र।

❑❑❑

अध्याय-11

गुणस्थान या आत्मा के विकास के चौदह स्तर

The high goal of our great endeavor is spiritual attainment, individual worth, at all cost to be sought and at all cost pursued, to be won at all cost and at all cost assured. – Robert bridges

हमारे जीवन के उच्च लक्ष्य को आध्यात्मिक, व्यक्तिगत योग्यता से किसी भी शर्त पर प्राप्त करना चाहिए और उसका अनुसरण करना चाहिए तथा किसी भी कीमत पर विजय प्राप्त करना चाहिए और पूरी कीमत पर निश्चित होना चाहिए।

चूँकि समस्त नीतिशास्त्र और दर्शन का लक्ष्य किसी व्यक्ति की आध्यात्मिक, उत्तमता या पूर्णता को प्राप्त करने में मदद करना है। अतः यह जानना आवश्यक है कि उसकी इच्छाओं को अनुभव होने में उसके अन्दर क्या छिपा हुआ है? प्रत्येक आत्मा शुद्ध और शान्त कर्मों के आगमन के फलस्वरूप मिथ्याज्ञान के कारण अज्ञानी हो जाती है। आत्म संयम की कमी, मन, वचन और काय की क्रिया कषाययुक्त होने से भी अज्ञानी होता है। इस प्रकार जिस शक्ति का उदय हुआ था, वह आत्मा में अशुद्ध रूप में तथा असक्त रूप में व्यक्त होती है। कर्म की बेड़ियाँ चाहे वे पुण्य के फलस्वरूप स्वर्ण से निर्मित हों या पाप के फलस्वरूप लोहे से निर्मित हों वे केवल पुराने कर्मों की शुद्धि से ही नहीं अपितु नये कर्मों के आस्रव को रोकने से भी टूट सकती हैं।

जैनधर्म में जो नैतिक और आत्मिक अनुशासन निर्धारित किया गया है उसमें एक स्नातक दिए दी जाने वाले प्रशिक्षण का विषय निहित है, अतः कदम-कदम पर उसका अनुसरण करना चाहिए इसलिए आचार्यों ने उस मार्ग को जो कि मोक्ष की ओर ले जाता है; चौदह स्तरों में विभक्त किया है। इनमें से प्रत्येक विकास की विशेष अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। आत्मा की दशा जो कि शान्ति से उदित हुयी है वह विलोपन या खण्डित, निस्तब्धता तथा कुछ-कुछ कर्म की शक्तियों का उत्थान तथा इस प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण तथा गुण उसकी क्रियाओं को रोक देवे हैं। चौदह गुणस्थानों

में गुणों को वर्गीकृत किया गया है तथा उसकी विशेषताओं को लगातार लक्ष्य के क्रमिक विकास के रूप में माना गया है।

गुणस्थानों का क्रम तार्किक है। यह कालक्रम से नहीं है। उत्तराधिकार जिनमें से वे प्रविष्ट होते समय व्यक्तिगत रूप से भिन्न होते हैं; क्योंकि फिसलने से जीव दुष्करता से नीचे की ओर आ जाता है फिर ऊपर चढ़ सकता है, जब तक कि पूर्ण रूप से या अंश रूप से विकास को प्राप्त नहीं होता है। यह आसानी से ग्रहण करने योग्य होता है। यदि हम अपने मन को स्मरण दिलाएं तो बचा हुआ एक दूसरा कुछ मिनट में ही अंतिम हो सकता है अतः प्रातःकाल कोई व्यक्ति ऊँचे स्तर पर हो सकता है, मध्यान्ह काल में डूब सकता है तथा सायंकाल पुनः चढ़ सकता है। यह आन्तरिक या आत्मिक प्रणाली है, जिसका दर्शन बाहर से नहीं होता है। गुणस्थानों के क्रम की विभिन्न संभावनाएं प्रणाली के ऊपर सशर्त सतत विद्यमान हैं जो प्राप्ति के लिए सम्यक्त्व की ओर आगे बढ़ती है और दो रास्तों पर बढ़ती है, जिससे कर्म की कमी कम की जा सकती है[2]। आत्मा की मनोवैज्ञानिक स्थिति उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के कारण जो वृद्धि को प्राप्त होती रहती है तथा ह्रास को प्राप्त होती रहती है या आंशिक रूप से उपशम और आंशिक रूप से क्षय को प्राप्त होती रहती है, उसका नाम गुणस्थान[3] है।

यह सामान्य अनुभव का विषय है कि हम बहुत सारे जीवों के सम्पर्क में आते हैं जो अविद्या के कारण ज्ञान के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित होते हैं। ये अवस्थाएँ अस्तित्व की भिन्नता के कारण विकास होने से पहले आती है। हम प्रायः एक स्थिति के पास संघर्ष शील होते हैं जहाँ कुछ आत्माएँ कर्म का क्षय करने की आवश्यकता में विषय में जागरूक रहती हैं जबकि दूसरी आवश्यकता से अभिन्न दृष्टि रखती हैं। एक जागरूकता केवल रची जाती है जबकि आत्मा इस विषय में सजग हो जाती है कि दूसरी उन्नति में क्या छिपा हुआ है ? तीन चीजें हैं जिनको हटाना हैं 1. कर्मस्कन्ध 2. उनकी सघनता 3. स्थिति काल। यह आत्मिक प्रयत्न पर्याप्तता होती है जो कि कर्मों के इन पहलुओं के उपशम को निर्धारण करती हैं।

गोम्मटसार जीवकांड की नौवीं और दशमी गाथा में आध्यात्मिक विकास के 14 स्तरों की गणना की गयी है- 1. मिथ्यात्व 2. सासादन (गिरना) 3.मिश्र 4. अविरतसम्यक्त्व (व्रत रहित सम्यग्दर्शन) 5. देशविरत (आंशिक व्रत धारण करना) 5. प्रमत्तविरत (अपूर्णव्रत) 7. अप्रमत्त विरत (पूर्णव्रत) 8. अपूर्वकरण (नयी विचारात्मक क्रिया) 10. सूक्ष्म सांपराय (कषायों की सूक्ष्मता) 11. उपशांतमोह (मोह

का दबना) 12. क्षीणमोह (मोह से रहित होना) 13. सयोग केवली (योग सहित केवली) 14. अयोगकेवली मन, वचन और काय की क्रियाओं से रहित केवली; ये 14 गुणस्थान दिये हुए क्रम से जानना चाहिए। अंतिम स्तर के बाद आत्मा मुक्त हो जाती है। चौदह गुण स्थान प्रमुखता से विचारात्मक क्रिया से रहित हैं और क्रमिक रूप से विकास की ये श्रेणियाँ हैं हम इनका इसी क्रम से वर्णन करेंगे।

1. मिथ्यात्व - यह वह अवस्था है, जबकि जीव मिथ्या श्रद्धान से मोहनीय कर्म से प्रभावित रहता है। यह अवस्था मिथ्या विश्वास की है। इस प्रकार का व्यक्ति सम्यक्मार्ग पर विश्वास नहीं करता है। वह वास्तविकता पर विश्वास नहीं करता है। वह सत्य तथा अच्छाई के मूल्यों पर भी विश्वास नहीं करता है। दूसरी ओर वह मिथ्यात्व श्रद्धान पर टिका रहता है। उसके लिए सम्यक् श्रद्धान नहीं करेगा। उसके विश्वास एकान्ती हैं, विपरीत हैं, संशय युक्त हैं तथा मिथ्या हैं। इस अवस्था में जीव की चेतना अज्ञान से घिरी रहती है।

जैनधर्म तर्क और न्याय पर आधारित है। उपर्युक्त पाँच मानसिक अवस्थाओं में कुछ या दूसरा विश्वास होता है। ऐसे व्यक्ति हैं जो मिथ्या आचरणों तथा अन्धविश्वास युक्त धर्मों में विश्वास करते हैं। जब कोई जीव इस प्रकार के मिथ्या श्रद्धान में संलग्न होता है तब वह विपरीत हो जाता है। विश्वास की हानि कषायों की पुनरावृत्ति से होती है, जिनका उपशम होना आन्तरिक प्रकाशन के लिए अनिवार्य है। उसके लिए सत्य की कोई कीमत नहीं है। एक मिथ्याश्रद्धानी जिनों के द्वारा प्रचारित उत्तम सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करता है। यह आध्यात्मिक अन्धपने की अवस्था है। यह दर्शनमोहनीय के कारण होती है। एक गलत और विपरीत विश्वास करने वाला अन्धे व्यक्ति के समान है, जो कि यह नहीं देख सकता है कि क्या अच्छा और सुन्दर है या क्या बुरा और कुरूप है?

2. सासादन (गिरना) - सम्यग्दर्शन से च्युत होना। जब अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का नाश करती है, तब जीव उच्च आत्मिकता के स्तर से नीचे गिरता है या कर्मों के कारण सम्यक्त्व के शिखर से च्युत होता है, मिथ्यात्व का सामना करता है तथा मिथ्यात्व रूपी गहन वन में खो जाता है तब इस अवस्था को सासादन कहते हैं।

यह स्तर जिसे दूसरे शब्दों में सासादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, ध्यान करते हुए वह सम्यग्दर्शन के स्तर से गिरता है। कोई व्यक्ति सम्यग्दर्शन की अवस्था को उपदेश तथा सम्यग्ज्ञान से प्राप्त कर सकता है, किन्तु यदि वह कषायों या गलत लेश्याओं से भरा हुआ है तो वह ऊपरी सीढ़ी से गिर सकता है, जिससे कि वह आगे चढ़ सकता था। यह

गिरने के कारण से जीव का न तो सम्यग्दर्शन होता है, न मिथ्यादर्शन होता है। इस स्तर में जीव के औदयिक भाव होता है। यह संक्रमण की स्थिति है, किन्तु मोहनीय कर्म के विनाश से पुनः विकास हो सकता है।

3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (सम्यक् और मिथ्या श्रद्धान का मिश्रण)- यह वह स्तर है, जिसमें एक व्यक्ति में सम्यक् और मिथ्याश्रद्धान का एक साथ मिश्रण होता है। यह कोई निर्णय न कर पाने के कारण या मन की काँपती हुई अवस्था के कारण होता है। इसमें यह निर्देश प्राप्त होता है कि सम्यक् और मिथ्या श्रद्धान के बीच आत्मिक कम्पन होता रहता है। इस प्रकार का व्यक्ति न तो सम्यक् श्रद्धान पर दृढ़ रहता है और न मिथ्याश्रद्धान को छोड़ता है। यह भी संक्रमण की स्थिति है। यदि पुण्य के फलस्वरूप सम्यक् श्रद्धान का पुनर्जन्म होता है या गुरु के द्वारा नया ज्ञान प्राप्त होता है तो वह व्यक्ति अगली उच्च श्रेणी की ओर कदम बढ़ा सकता है। अथवा आत्मा मिथ्या श्रद्धान से वापिस हो सकता है।

समस्त प्रथम तीन स्तरों के घाति कर्म भी उपस्थित रहते हैं, किन्तु यह प्रश्न अंश का है। सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं हुआ, किन्तु मिथ्या श्रद्धान रूपी मेघ के द्वारा आवृत हुआ है। मिश्रित विचार की क्रिया दो भागों में विभाजन नहीं कर सकती है, जिस प्रकार कि दही में गन्ने का रस मिलने पर उसे अलग नहीं किया जा सकता है। यह मिश्रित अवस्था कम्पन युक्त, अशुद्ध और अस्थिर होती है। फिर भी यह कर्मों के विनाश का कारण होती है। मिश्र गुणस्थान में आयुकर्म का बन्धन नहीं होता है। क्योंकि मृत्यु आयुकर्म के कारण होती है, जिसे जीव ने पहले ही बाँध रखा है तथा किसी विशिष्ट स्थिति में पुनर्जन्म जीव ने पहले ही बाँध लिया था, जबकि यह उत्पन्न हुआ था[4]।

4. अविरत सम्यक्त्व (व्रतरहित सम्यक्त्व)- इस अवस्था में जीव सम्यग्दर्शन भी रखता है और सत्य, असत्य का ज्ञान भी रखता है, किन्तु यह व्रतों का पालन करने में समर्थ नहीं होता है या आत्मानुशासन के नियम पालन करने में समर्थ नहीं होता है; क्योंकि एकदेश व्रत को भी रोकने वाली कषायें सक्रिय होती हैं। इन्हें अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। इस अवस्था में सम्यक्त्व तीन प्रकार का रहता है ? उपशम सम्यक्त्व यह उस आत्मा में उत्पन्न होता है, जिसमें पहले कभी उदय नहीं हुआ था; क्योंकि चार कषायों के परिणामस्वरूप मिथ्या श्रद्धान हो रहे थे। सम्यक्त्व का उदय कर्मों को दूर करने के फलस्वरूप हो सकता है। यह हो सकता है कि किसी आत्मा के पास पहले से ही सम्यक्त्व हो तथा वह कर्मों के प्रकारों को नष्ट करने में आगे बढ़ पा रहा हो, इसके लिए

पहले तीन गुणस्थानों में कहे गए श्रद्धान उत्तरदायी हैं। यह सम्भव हो सकता है कि जीव निचले के तीन गुणस्थानों में गिर सकता है। इसका काल एक अन्तर्मुहूर्त है। यदि कोई गिरावट नहीं है तो यह दूसरे प्रकार के सम्यक्त्व की ओर बढ़ा सकता है। इसे[2] क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह वह स्तर है, जहाँ पर कि सम्यक्त्व का कार्य थोड़ा सा मिथ्या श्रद्धान रूपी बादलों से ढका रहता है, जैसा कि तीसरे गुणस्थान में होता है। व्यावहारिक रूप से चार कषायें नष्ट हो चुकी हैं तथा वे एकदेश उपशम की स्थिति में हैं।[3] क्षायिक सम्यक्त्व- सम्यक्त्व की यह अवस्था चार तथा मोह कर्म प्रकार की कषायों के विनाश के फलस्वरूप उदित होती है। यह सम्यक्त्व का सबसे अच्छा प्रकार है तथा जो जीव इसे प्राप्त करता है, वह पुनः उन्नति करता है।

इस अवस्था में जीव का श्रद्धान मोक्षमार्ग में होता है। यह आध्यात्मिक प्रगति है, इसका चरम बिन्दु मोक्ष है, इसमें कर्मों से पूरा छुटकारा मिल जाता है, किन्तु वह अनुशासन के समस्त नियमों का पालन करने योग्य नहीं होता है। यह जैनशास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों में विश्वास करता है, किन्तु यह कभी-कभी अज्ञानी गुरुओं के उपदेशों से प्रभावित होता है। इस प्रकार का जीव शास्त्रों को सही गुरुओं से सुनने, समझाने पर, संतोषजनक व्याख्यायें मिलने पर मिथ्याश्रद्धान से हट जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो मिथ्यात्व में फिसल जाता है।

इस गुणस्थान में व्यक्ति सम्यक्त्वी तो होता है, किन्तु चारित्र पालन करने में कठोर नहीं होता है। वइ इन्द्रिय संयम का पालन करने में तथा प्राणि संयम के अनुपालन में प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता है। वह दयावान्, शान्त, संसार से डरने वाला और सत्यपूर्ण होता है। बिना उत्तेजना पैदा किए वह किसी व्यक्ति को चोट नहीं पहुँचाता है। वह अत्यधिक क्रोध, मान, माया और लोभ के द्वारा आने वाली कषायों को वश में करने योग्य होता है। वह इन कषायों से मध्यम अंशों तक प्रभावित होता है, किन्तु उसका श्रद्धान सम्यक् शास्त्रों में होता है।

5. देशव्रत - (आंशिक व्रत) इस गुणस्थान में व्यक्ति आत्म संयम को बड़े अंशों में पालन करने के योग्य होता है। यह स्तर देशव्रत कहलाता है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय के कारण पूर्ण संयम की अनुपस्थिति रहती है। कषायों के कारण जो कर्म बाँधे थे, उनका एकदेश क्षयोपशम यहाँ होता है। यहाँ पर उस प्रकार की कर्मपुद्गल का उदय है जो इस प्रकार के कषायें पैदा करते हैं, जो कि व्रतों का एकदेश पालन करने से रोकते हैं।[5] इस गुणस्थान में व्यक्ति आवश्यक आध्यात्मिक मनोभाव

रखता है तथा पुनर्विकास का प्रयास करता है। पूर्ण संयम की कमी के कारण वह सम्यक् चारित्र के नियमों का एकदेश पालन करता है। यह वह सोपान है, जहाँ कि आध्यात्मिक उन्नति के अतिरिक्त चारित्र पर जोर दिया जाता है। तात्पर्य यह कि उन व्रतों का पालन करना होता है, जिनका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। यहाँ पर ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओं का समावेश किया गया है।

चूँकि वह सम्यक् श्रद्धानी है अतः वह अपनी कषायों को वश में करेगा तथा अनावश्यक पाप नहीं करेगा। वह त्रय जीवों का विघात नहीं करेगा; क्योंकि वह पूरी तरह से जिनभक्त है। वह व्रती तथा अव्रती दोनों है[6]। यह इसलिए क्योंकि यदि वह त्रस जीवों को मारता है तो वह जिनेन्द्र भगवान् के उपदेशों के प्रति विश्वास रहित होता है।

6. प्रमत्त विरत- इस गुणस्थान में जीव के पास सम्यक्त्व होता है और चारित्र के नियमों का पालन करने का प्रयास करता है। यद्यपि क्षायोपशमिक भाव के कारण समस्त कर्म पुद्गल विद्यमान रहते हैं, किन्तु पूर्ण ढंग से व्रतों का पालन करना थोड़े से कर्मपुद्गलों के कारण तथा सूक्ष्म कषायों के कारण रुकावट पैदा करता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें सम्यक् चारित्र की पूर्णता को प्राप्त करने से रोकती हैं। नोकषायें भी इसीप्रकार के रुकावट का कारण बनती हैं। ये नौ हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसक वेद। इन कषायों के कारण, जो कि अभी भी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई हैं, व्रतों का पालन करने में असावधानी या अपूर्णता रह जाती है। इस कारण व्रतों के पालन में प्रमाद रहता है। व्रतों का पालन करने हेतु अपने ऊपर नियंत्रण रखने का प्रयत्न करता है, किन्तु इच्छायें तथा कामनायें उसे सांसारिक वस्तुओं के प्रति पूरी तरह से राग न करने से रोकती हैं। गुणात्मक रूप से यह गुणस्थान मुनि का होता है।

एक साधु या संन्यासी इस गुणस्थान में 28 मूलगुणों का पालन करता है, जिसे एक सामान्य साधु एक छोटे स्तर पर भी पालन करता है। वह अपने सामान्य कर्त्तव्यों को करता है। जैसे-उपदेश देना, शास्त्र का प्रचार करना, पुस्तकों का वाचन करना तथा उन्हें लिखना तथा अपने शिष्यों के अनुशासन और चारित्र को देखना। रोकने योग्य बात करने में प्रमाद हो सकता है। जैसे-स्त्री से सम्बन्धित, भूख, राजनीति, राजा, कषायों पर नियंत्रण, सोना, अनुराग, मोह तथा स्नेह से सम्बन्धित। उस मुनि का चारित्र उल्लेखनीय होता है, जो कि प्रमादी नहीं होता है।

7. अप्रमत्तविरत- जिस व्यक्ति की आत्मा इस गुणस्थान में पहुँच चुकी है, वह छठे गुणस्थान के दौर्बल्य से रहित होता है तथा आत्मध्यान में लगा रहता है। जब

संज्वलन कषाय तथा नोकषायें दब जाती हैं तो अप्रमत्त गुण का उदय होता है, तथा आत्मा अप्रमत्त संयत दशा में पहुँच जाती है। वह ध्यान में लवलीन होता है, किन्तु वह उन्नतोदय नहीं होता है; क्योंकि कर्म पूरी तरह से नष्ट नहीं हुए हैं। रुकावट की यह अवस्था सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक रहती हैं या वह छठे गुणस्थान में गिर जाता है। श्रेणी आरोहण की दूसरी दशा में आत्मा के भाव प्रतिक्षण बढ़ते जाते हैं और इससे शुद्धता का स्तर बढ़ सकता है, जो कि विलीन हो सकता था।

यह गुणस्थान की बहुत विस्तृत श्रेणी है। इससे आगे उन्नति के दो मार्ग होंगे-एक वह है, जहाँ पर कि कर्म और नोकषायें या तो कम हो जाती हैं या दब जाती हैं। (उपशम श्रेणी) जबकि दूसरी क्षपक श्रेणी है, जहाँ पर कि कर्म नष्ट हो जाते हैं। निस्सन्देह रूप में जीव शक्ति को प्राप्त करता है; क्योंकि सारे राग समाप्त हो जाते हैं तथा शरीर पूरा नियंत्रण में हो जाता है। पूरा आत्म नियंत्रण हो जाता है तथा व्रतों आदि का पालन करने में सूक्ष्म प्रमाद भी नहीं रहता है। कोई अतिचार भी नहीं लगता है।

8. अपूर्वकरण- इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते हैं क्योंकि आत्मा का आत्मिक विकास एक नए भावों की ओर बढ़ता है, जिस पर कि पहले कभी नहीं पहुँचा था। सभी जीव, जो कि इस गुणस्थान तक पहुँच गए हैं, वे आत्मा के शुद्धभावों की अपेक्षा समान नहीं हैं, क्योंकि वे काल के विभिन्न बिन्दुओं में पहुँच सकते हैं। नए भाव चारित्रमोह कर्म के विनाश के या उपशम के प्रमुख रूप से हो सकते हैं। ये जीव निद्रा और प्रचला रूप कर्मपुद्गलों से मुक्त हैं। अतः वे चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम करने के योग्य हैं। आयुकर्म अब भी सक्रिय है। जीव कषायों के उद्रेक के परिणामों को नष्ट करने में आनन्दित हो रहा है।

यह शुद्ध ध्यान की अवस्था है। दूसरे शब्दों में इसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। इस अवस्था में जीव अपूर्व आत्मिक शक्ति को प्राप्त करता है, जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ था तथा जो कर्मों का नाश करने में सहायक है। यह अवस्था आत्मा को उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में पहुँचाती है। इस अवस्था में चारित्र परिपूर्ण है तथा जीव अपने आपको पवित्र ध्यान में लगाने हेतु स्वयं परिपक्व है।

9. अनिवृत्तिकरण- इस अवस्था में जीव अग्रगामी भाव को प्राप्त करता है। प्रत्येक क्षण वह एक भाव का प्रयोग करता है। ध्यान की पवित्रता और शुद्धता के कारण भावात्मक क्रिया जैसे-लपटें या अग्नि कर्मों के वन को जलाती है। भावों में अग्रगामिता तथा शुद्धता इसकी एकरूपता है। जीव समस्त कषायों के उपशम या क्षय

के 21 उपभेदों को तथा चारित्र मोहनीय के उपभेदों को इसप्रकार लाती है कि इच्छाओं के ढेर तथा भावानुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं।

एक व्यक्ति जो कि अवस्था तक पहुँच चुका है वह (सांसारिक) सुख की इच्छाओं को जीत चुका है, जिसे कि उसने देखा था, सुना था और भोगा था। वह ध्यान तथा आत्मा के सही स्वभाव का अभ्यास करता है।

10. सूक्ष्म साम्पराय - यह गुणस्थान सूक्ष्म मोह, पाँच प्रकार का ज्ञानावरण, चार प्रकार का दर्शनावरण और पाँच प्रकार के अन्तराय की सूक्ष्मता से सम्बन्धित है। अपने ध्यान के द्वारा व्यक्ति वह शक्ति प्राप्त करता है, जिससे कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कर्मों का उपशम या क्षय किया जा सके। मोक्ष की सूक्ष्म इच्छा का अब भी अस्तित्व रहता है। शरीर के प्रति अचेतन मन में अनुराग अब भी रहता है, यद्यपि आत्मा की आध्यात्मिक अभ्युन्नति होती जाती है। इस स्थिति में सूक्ष्म लोभ का रंग जब भी रहता है। भाव औपशमिक या क्षायिक रहते हैं।

11. उपशान्त मोह - यह वह गुणस्थान है, जहाँ शुद्ध भावों के कारण मोह या कषाय का उपशमन हो गया है, जैसे कि जाड़े के दिनों में जमा हुआ तालाब का जल, जिसमें कि समस्त कीचड़ सतह पर स्थिर हो गई है। यह आत्मा के द्वारा प्राप्त की गई उपशम श्रेणी है जो कि ऊपर की ओर बढ़ रही है। यह श्रेणी उस जीव के द्वारा उत्तीर्ण करने की आंकाक्षित नहीं है जो कि क्षपक श्रेणी पर पहुँच गया है; क्योंकि जीव एक श्रेणी पर जहाँ पर कि कर्म दब गए हैं, नष्ट नहीं हुए हैं। यह हो सकता है कि जब कषायें पुनः उदय हों तो जीव नीचे के स्तर पर उतर आए। दूसरे शब्दों में भाव या मानसिक दशायें जो कि मोहनीय कर्म के दबने से उदय में आई हैं, वे परिवर्तित हैं तथा जीव को पुनः कर्मों के समीप वापिस ले जाय। इस अवस्था में आत्मा छद्मस्थ है अर्थात् मोहनीय कर्म से भिन्न कर्मों के आवरण से ढक गई हो। राग भी दब गया हो। कर्मों के दब जाने के कारण आत्मा आनन्दित हो अतः इसका ठहराव श्रेणी पर अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त हो। आत्मा मोहनीय कर्म का नाश करने की शक्ति प्राप्त करती है; जो कि पूरी तरह से नष्ट नहीं हुए हैं।

12. क्षीण मोह - इस गुणस्थान में सन्त, जो कि निर्ग्रन्थ है, वह समस्त मोहनीय कर्म का क्षय करता है। इसमें भाव उसी प्रकार स्पष्ट होते हैं, जैसे पानी स्फटिक मणि के पात्र में रख दिया गया हो। जब कोई जीव इस स्थिति में पहुँचता है तो भाव शरीर को परिशुद्ध करते हैं और उसे परम औदारिक शरीर में परिवर्तित कर देते हैं। तथा वह जीव

दूसरे घातिकर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय को घातने के लिए आगे बढ़ता है; क्योंकि मोहनीय कर्म का पहले से ही विनाश हो चुका है। यह वह अवस्था है, जहाँ कषायों का विनाश हो चुकता है। इस अवस्था और पहली अवस्था में भेद यह है कि बाद की अवस्था में जीव उपशम की अवस्था में हैं, जब कि पूर्व की अवस्था में यह कर्मों के विनाश करने की श्रेणी में है। यह एक अन्तर्मुहूर्त तक रुकता है तथा आगे समस्त चार घातिकर्मों के विनाश के लिए प्रयाण करता है।

13. सयोगकेवली - पुरानी श्रेणी से जीव इस सर्वज्ञता की श्रेणी में पहुँचने के लिए आगे बढ़ता है; क्योंकि उसे अब अघाति कर्मों का भी विनाश करता है, इस कारण यह सयोग (क्रिया सहित) केवली है। मन, वचन और काय की क्रिया अब भी अस्तित्व के लिए जारी है। यहाँ पर आत्मा अर्हत् या पूर्व मानव शरीर होता है। आत्मा बादल रहित सूर्य के समान चमकीली लगती है तथा लोक का पूरा ज्ञान प्राप्त करती है। अज्ञान का विनाश हो जाता है तथा आत्मा परमात्मा की स्थिति को घाति कर्मों के विनाश के फलस्वरूप प्राप्त हुई नवकेवल लब्धियों को प्राप्त करता है। नवकेवल लब्धियाँ हैं- 1. क्षायिक ज्ञान- ज्ञानावरणीय कर्म के विनाश से पूर्ण या शुद्ध ज्ञान 2. क्षायिक दर्शन- दर्शनावरणीय कर्म के विनाश से पूर्ण दर्शन 3.क्षायिक दान-दानान्तराय कर्म के विनाश से पूर्ण दान 4. क्षायिक लाभ-लाभान्तराय कर्म के विनाश से पूर्ण लाभ 5. क्षायिक भोग-भोगान्तराय कर्म के विनाश से भोग करने योग वस्तुओं का पूर्ण सुख 6. क्षायिक उपभोग- बार-बार भोगने में आने वाली वस्तुओं का पूर्ण सुख, जो उपभोगान्तराय कर्म के विनाश से होता है 7. क्षायिक वीर्य- वीर्यान्तराय कर्म के नाश से परिपूर्ण शक्ति का होना 8. क्षायिक सम्यक्त्व- दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से पूर्ण श्रद्धान होता है। 9. क्षायिक चारित्र- पूर्ण सम्यक् चारित्र जो, कि चारित्र आवरण कर्म के नाश से होता[7] है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यह श्रेणी आत्मिक पूर्णता की है। अब भी इसका सम्बन्ध काय, मन और वचन से है। अर्हन्त परमेष्ठी जो कि सब जीवधारियों में धर्म का प्रचार करने में लगे हुए हैं, वे सयोग केवली के उदाहरण हैं[8]।

14.अयोग केवली- यह अन्तिम गुणस्थान मोक्ष से सम्बन्धित है। जब पवित्र शरीर में योग, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति नहीं होती है तो शरीर में कम्पन रुक जाता है। यह श्रेणी सिद्ध की है, जो कि लोकत्तर पूर्णता का स्तर है, इस स्तर के सर्वज्ञ भगवान् वे हैं, जिनका कर्मों का आस्रव-मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण रुक गया है[9]। जीव पूरी तरह से आठ कर्मों से मुक्त हो गया है तथा उन्होंने अनन्त की सही श्रेणी प्राप्त

कर ली है। पूरी तरह-मुक्त होने पर जीव लोक के अग्रभाग तक जाता है। सिद्धों के निवास को सिद्धशिला कहते हैं, जहाँ पर कि पूर्ण मुक्त जीव शुद्धता और शान्ति से रहते हैं।

अब सामान्य पाठकों को इस बात में दिलचस्पी हो सकती है कि अज्ञान की स्थिति से लेकर पूर्णता तक आध्यात्मिक विकास के होने में तार्किकता का ढंग क्या है? इस विस्तृत लोक में अनन्त आत्मायें हैं, जिनमें से कुछ हमारी इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देती हैं। मोटे रूप से कह सकते हैं कि चारों गतियों के जीव दो भागों में विभाजित हैं-1. भव्य, जिनमें जागरण की शक्तियों के गुण हैं, 2. अभव्य- जिसमें, इस प्रकार की जागरूकता नहीं है। गुणस्थान की व्यवस्था ऐच्छिक नहीं, अपितु वैज्ञानिक है। मुक्ति का प्रमुख हेतु है- मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को आभ्यन्तर तप के द्वारा वश में करना।

स्वाभाविक रूप से विकास की यात्रा अज्ञान तथा झूठे विश्वास से प्रारंभ होती है। यह प्रथम सोपान है, जहाँ कोई जीव विपरीत तथा अन्धविश्वास रखता है। वह इस तथ्य के प्रति अन्धा है कि जीव शरीर से अलग है और वह विचार करता है कि उसके शारीरिक सुख तथा भौतिक प्राप्तियाँ अंतिम है तथा जीवन का उद्देश्य यही है। दूसरी श्रेणी यथार्थ में विकास की श्रेणी नहीं है। यह जीव के रुकने का स्थान है, जो कि ऊँची श्रेणी से गिर चुकी है। इसका कारण कर्म हैं। अथवा एक जीव में सम्यक्त्व की सूक्ष्म अपृथक् जागरूकता है, जो कि मिथ्यात्व की श्रेणी से भिन्न है। तीसरी श्रेणी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच दोलायमान होने की है। मस्तिष्क सम्यक्त्व की झलक पाता है, किन्तु इसके लिए लम्बी छलाँग नहीं लगा सकता है। अतः व्यक्ति मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में मध्य झूलता है। चौथी वह श्रेणी है जब कोई व्यक्ति सम्यक्त्व को प्राप्त कर चुका होता है। निः सन्देह रूप से वह विकास की श्रेणी है; क्योंकि व्यक्ति सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रति सजग होता है। उसका आत्मनियंत्रण विकसित नहीं होता है; क्योंकि कषायें न तो दबती हैं, न उनका छुटकारा होता है। यही स्थिति दर्शन मोह की होती है। इस प्रकार चार श्रेणियों का सम्बन्ध व्यक्ति के विकास से है, जिसमें मिथ्यात्वी से वह सम्यक्त्वी बनता है, किन्तु इसमें आत्मनियंत्रण नहीं होता है।

अंतिम दो श्रेणियाँ 5वीं से लेकर 7वीं तक की है, जिसमें पूरे आत्म नियंत्रण का विकास होता है। कोई व्यक्ति जिसे चौथी श्रेणी में सम्यक्त्व प्राप्त हो चुका है, अपनी कषायों पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए संघर्ष करता है तथा आंशिक आत्म नियंत्रण प्राप्त करता है। वह अपने आंशिक आत्मनियंत्रण के साथ अगली श्रेणी में

चला जाता है। वह पूरा आत्मनियंत्रण प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु प्रमाद के कारण अपने प्रयत्नों में प्रायः असफल रहता है। वह कषायों और अनुभूतियों के मध्य झूलता है तथा आध्यात्मिक निष्क्रियता की स्थिति में रहता है। सातवीं श्रेणी में पहुँचने पर वह आत्मनियंत्रण करने में सफल हो जाता है। आध्यात्मिक निष्क्रियता (पहले की श्रेणी की) उसका विरोध नहीं करती है। शरीर की अस्थिरता पर आधिपत्य स्थापित करने हेतु उसमें आत्मिक शक्ति आ जाती है। आगे की उन्नति इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति अपने कर्मों का उपशम करता है या नाश करता है ? उपशम की आत्मिक उन्नति निश्चित रूप से कर्मों को नष्ट करने की अपेक्षा नीची श्रेणी की होती है।

आठवीं श्रेणी शुद्ध ध्यान करने की उद्घोषक है यह आत्मा को बहुत शुद्ध बनाती है। कर्म दूर कर दिए जाते हैं तथा आत्मा की शुद्धता के कारण वे दब भी जाते हैं। कर्मों की सघनता और कालावधि कम हो जाती है। नए कर्मों का आस्रव बहुत सीमित होता है। अतः यह अवस्था आत्मा की बहुत शुद्धता की है। तब जीव नौवीं श्रेणी की ओर कदम बढ़ाता है, जहाँ पर कि वह अपनी ठोस अनुभूतियों और इच्छाओं को जीतने का प्रयत्न करता है। प्राप्त की हुई सफलता के साथ वह उच्च श्रेणी पर चढ़ता है। यह दसवीं श्रेणी, जहाँ पर कि लोभ या शरीर के प्रति अचेतन मन में स्थित राग के साथ आध्यात्मिक युद्ध होता है। ग्यारहवीं श्रेणी पर वह पहुँचता है, जहाँ पर व्यक्ति कर्मों का उपशम कर नष्ट करने का प्रयास करता है। अतः कषायों और उद्वेगों के पुनः प्रकट होने का अवसर रहता है, वह दसवीं श्रेणी पर उतर सकता है। बारहवीं श्रेणी कषायों के सम्पूर्ण क्षय होने का प्रतिनिधित्व करती है। जब जीव 13वें गुण स्थान में पहुँचता है तब वह समस्त घातिकर्म का विनाश करता है और सर्वज्ञता प्राप्त करता है। अंतिम और 14वें गुण स्थान पर जब पहुँचता है तो अघातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है तथा जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

यह जोड़ना चाहिए कि एक गृहस्थ गुणस्थानों की 5वीं श्रेणी तक जा सकता है, जिसमें कि वह एकदेश रूप से संसार का परित्याग करने के विषय में विचार करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्नत्रय हैं, जिनकी पूर्ण अनुभूति किसी व्यक्ति को मोक्षमार्ग की ओर जाने में मदद करती है। यात्रा की पहली अवस्था निश्चित रूप से उनकी है जो कि मिथ्यामार्ग के संक्रमण से गुजर कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निश्चय करते हैं। शेष बचे हुए गुणस्थान सम्यक्चारित्र के मार्ग की ओर बढ़ने के लिए स्मरण चिह्न हैं। आठवीं और नौवीं श्रेणी बढ़ते हुए ध्यान से जानी जाती है।

क्योंकि ज्ञान की ओर बढ़ने से इसका सम्बन्ध है किन्तु सिद्धान्त के उपदेशों का अनुसरण करने से वह उच्च श्रेणी पर चढ़ती है। यह स्मरण करना आवश्यक है कि चारित्र में पूर्णता इच्छा रहित होने से कम या अधिक प्राप्ति नहीं है, यह तभी सम्भव है कि उन प्रवृत्तियों की पूर्ण रूप से दूर किया जाय, जो कि इच्छा से जन्म लेती है[10]।

यह सारिणी श्री चम्पतराय जैन की रचना से उद्धृत की गई है, जिसमें कि चौदह गुणस्थानों के प्रमुख लक्षण स्पष्ट रूप से व्यंजित किए गए हैं[11]।

क्र.	गुणस्थान का नाम	विशेषतायें
1.	मिथ्यात्व	अत्यधिक अज्ञान।
2.	सासादन	नष्ट होती हुई श्रद्धा। मन की वह स्थिति जबकि यथार्थ रूप से चौथे गुणस्थान से गिरकर जीव पहले में आ रहा हो।
3.	मिश्र	सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था।
4.	अविरत सम्यग्दृष्टि	व्रत रहित सम्यक्त्व।
5.	देशविरत	एकदेश चारित्र का ग्रहण ।
6.	प्रमत्त	आहारक शरीर की रचना तथा प्रमाद सहित व्रतों का पालन (लापरवाही या सुस्ती) मुनि के रूप में यह प्रथम स्तर है। मुनि = अनगारी की अवस्था।
7.	अप्रमत्त	प्रमाद का अभाव तथा स्वाभाविक आनन्द की आंशिक अनुभूति।
8.	अपूर्वकरण	विचारों की नई श्रेणियों के लिए उल्लेखनीय । मन की शुद्धि के द्वारा विचारों का खुलासा। व्यवधान उपस्थित करने वाले तत्त्वों का अभाव।
9.	अनिवृत्ति	अत्यधिक अग्रगामी विचार क्रिया (ध्यान)
10.	सूक्ष्म	केवल बहुत सूक्ष्म लोभ अनुशासित होने के लिए
11.	उपशान्त मोह	अवशिष्ट लोभ की उपशान्ति।
12.	क्षीण मोह	इच्छा रहितता, लोभ की पूर्ण निवृत्ति; क्योंकि चारित्र की पूर्णता हो जाती है।

13.	सयोग केवली	सर्वज्ञता : क्योंकि ज्ञान की परिपूर्णता हो जाने के कारण जीव मुक्ति का अभाव होता है; क्योंकि शरीर होते हुए भी मुक्ति की स्थिति होती है। तीर्थंकर की यही स्थिति होती है।
14.	अयोग केवली	तीन प्रकार के योगों का अभाव अर्थात् आस्रव की शृंखला समाप्त हो जाती है। अगला कदम निर्वाण का होता है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. राबर्ट ब्रिज : द ट्रीटमेन्ट ऑफ ब्यूटी, पुस्तक-द्वितीय, लाइन-2047 आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
2. ग्लासनेप्प : डॉ. हेलमुथ लोन : द डॉक्ट्रिन ऑफ कर्मान् इन जैन फिलासॉफी, पेज 69, द टस्टीज, बाई बिजीबाई जीवनलाल पन्नालाल चैरिटी फंड, बम्बई।
3. जे.एल. जैनी : आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म।
4. जे.एल. जैन (सम्पादक) : गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-26 द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ।
5. वही, गाथा- 30
6. वही, गाथा-31
7. वही, गाथा- 47,48
8. ए. चक्रवर्ती : रिलीजन ऑफ अहिंसा, पृ. 188 रतनचन्द्र हीराचन्द्र, 26 नेपियन सी रोड, बम्बई-6
9. जे.एल. जैन : गोम्मटसार (जीव काण्ड), गाथा- 65
10. सी.आर. जैन : फण्डामेण्टल्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 88, वीर निर्वाण भारती, 69, तीरगारान स्ट्रीट, मेरठ 250002, इण्डिया।
11. वही, पृ. 89

❑❑❑

अध्याय-12

रत्नत्रय (तीन रत्न)

अधिकांश व्यक्ति अपने जीवन की यात्रा मिथ्यात्व से प्रारंभ करते हैं जिसमें कि उन्होंने जन्म लिया है। मिथ्यात्व बहुत बड़ा शत्रु है क्योंकि यह आत्मा के सही स्वभाव को समझने से व्यक्ति को रोक देता है और उसको विश्वास दिलाता है कि शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी चीजें इस संसार में यथार्थ हैं। सही प्रसन्नता वस्तुओं को एक स्थान पर इकट्ठा करने में हैं जो कि जीवन को आरामदेह बना देती है। इस प्रकार का रहना व्रत रहित जीवन पद्धति को प्रोत्साहित करना है जिसमें कि आत्म संयम नहीं होता है। यहाँ तक कि जब संयम का जीवन बिताने की इच्छा होती है, तब विभिन्न व्रतों का सामान्य ज्ञान जो कि जीवन को सही मार्ग की ओर नियमित करता है, वह समझ से परे है।

बहुत सारे शत्रु हैं जो कि हमारी यात्रा में आक्रमण करते हैं। कषाएं बहुत शक्तिशाली शत्रु हैं जो हमारे आध्यात्मिक ऐश्वर्य को विषय में रोकती हैं तथा हमें एक निर्धनता की स्थिति में ले जाती हैं। शरीर, मन और वचन की क्रियाओं में बहुत सारी रुकावटें आती हैं जिनसे कि कर्मों का बोझ बढ़ता है। प्रत्येक व्यक्ति जो प्रकृति के विषय में अधिक इच्छुक होता है या जिसकी जिज्ञासा अधिक होती है उसके लिए अन्त के विषय में जानना बहुत जरूरी है। प्रत्येक दर्शन का केन्द्रीय विषय परमात्मा है जिसके कि भिन्न-भिन्न नाम हैं तथा उसके भिन्न-भिन्न गुण कहे गये हैं जैनधर्म जैसा कि पहले से ही कहा जा चुका है। सर्वशक्तिशाली ईश्वर में विश्वास नहीं करता है जो विश्व का रचयिता है। परमात्मपना एक आदर्श है। एक शुद्ध पूर्ण आत्मा जिसके गुण अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख है। यह पूर्णता और सर्वज्ञता की स्थिति है। अपूर्ण आत्मा जिसके विषय में हम कह चुके हैं कि सम्पूर्ण विश्व में कर्मपुद्गलों से सम्बद्ध है। हमारा आनन्द और हमारे दुःख, हमारे शत्रु और हमारे मित्र, हमारे नाते और रिश्तेदार तथा

समस्त सांसारिक जीवन, हमारे निजी निर्माण के लिए है। हम लोगों ने पहले जो कर्म के किये थे, वे हमारी कषायों तथा काय, मन और वचन में उदय में आ रहे हैं।

हम कैसे पवित्रता और पूर्णता को प्राप्त करें। मोक्ष के मार्ग का वर्णन करते हुए प्रत्येक दर्शन ने उस पहलू पर जो दिया है जिसे इसके प्रचारकों ने बहुत महत्त्वपूर्ण रूप में विचारित किया है। जबकि कुछ ने भक्ति के मार्ग पर जोर दिया अथवा श्रद्धा के मार्ग पर जोर दिया है। दूसरे लोगों ने ज्ञान को सर्वोपरि माना है। एक तीसरा दर्शन है जिसने क्रिया और चारित्र पर बहुत अधिक जोर दिया है। जैनधर्म ने इस समस्या पर दो दृष्टिकोण से विचार किया है- व्यवहारनय और निश्चयनय क्योंकि हममें से बहुत अधिक लोगों के लिए यह समझना कठिन है कि सत्ता की भाषा क्या है ? जब तक हम सबसे पहले इस बात की व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या करें जिसके विषय में हम सामान्य तथा प्रयोग कर चुके हैं। हम प्रचलित अभिव्यक्तीकरण का आदर करते हैं। इसी प्रकार से अनुभवों और वस्तुओं के विषय में एकरूपता पर भी विचार करते हैं। व्यवहारनय सामान्यतया प्रचलित दृष्टिकोण से सम्बन्धित है तथा समझ से भी सम्बन्धित है। यही सत् की व्यवस्था कभी-कभी हमारे अनुभवों और समझ से परे की चीज है। आचार्य उमास्वामी ने अपने अद्वितीय, सुन्दर सूत्र में कहा है-''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग हैं। यहाँ पर सम्यक् शब्द केवलदर्शन के लिए ही प्रयुक्त नहीं हुआ अपितु ज्ञान और चारित्र के लिए हुआ है। ये तीन सिद्धान्त रत्नत्रय या तीन रत्न जैन विचारों ने कहे हैं। महान् आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थ नियमसार में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। तीन रत्नों की विषय वस्तु अमृतचन्द्र आचार्य की पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी प्राप्त होती है। यथार्थ में प्रत्येक जैनशास्त्र में इस विषय सम्बन्धी वर्णन है क्योंकि इसका दर्शन मोक्ष एवं सर्वज्ञता पर समाप्त होता है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि जो व्यक्ति रत्नत्रय की परिपूर्णता से रहित हैं, उन्हें उन्नति के पद की आशा नहीं करना चाहिए। यह कहना आवश्यक है कि सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। कोई व्यक्ति यह युक्ति दे सकता है कि ज्ञान को पहले रखना चाहिए। ज्ञान कै बिना श्रद्धा अन्ध श्रद्धा होगी तथा सम्यग्दर्शन केवल ज्ञान पर ही आधारित हो सकता है। यद्यपि दर्शन तथा ज्ञान एक आत्मा में एक ही साथ उदय होते हैं। दर्शन को ज्ञान से पहले रखना चाहिए; क्योंकि यह ज्ञान का अनुसरण करने की इच्छा की जनक है। ज्ञान के लिए दृढ़ श्रद्धान का प्रोत्साहन आवश्यक हैं। सन्देहों को विनष्ट करने के लिए श्रद्धान स्वयं एक इच्छा है तथा दूसरे मायापूर्ण तथ्य किसी व्यक्ति

की मानसिक सत्ता में व्यवधान करते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान की प्राप्ति की दिशा और अर्थ निश्चित करता है और चारित्र की ओर मोड़ता है। यदि हम निश्चयनय की दृष्टि से तीन प्रकार के मार्ग का सन्दर्भ और अर्थ पर विचार करे तो हमें यह निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा कि सर्वज्ञ आत्मा स्वयं समस्त गुणों को रखती है। इस प्रकार की शुद्ध और पूर्ण आत्मा कर्मबन्धन से रहित है तथा भौतिक पदार्थ की अशुद्धता से अछूती है। आत्मा परिपूर्ण सुख वाली है तथा समस्त हलन चलन रूप क्रियाओं से मुक्त है। शुद्धात्मा स्वयं सम्यक्ज्ञान है। इसी व्यक्ति के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इस प्रकार की आत्मा में केन्द्रित हैं। इस प्रकार का आत्मा का ध्यान आत्मलीनता की वस्तु[2] है।

शुद्धात्मा सर्वज्ञ है और इस कारण संसार के रहस्यों को तथा आधारभूत सत्यों को देखने में समर्थ है; जो कि जीवन के विषयों का निर्देश करती है। समस्त आगम सर्वज्ञ तीर्थंकर के द्वारा की गयी व्याख्या पर आधारित हैं; नहीं तो एक जीवित प्राणी जब तक इन आगमों को जीवन और चारित्र का आधार नहीं बनाता है तब तक सही प्रसन्नता नहीं हो सकती है । यह कारण है कि यह कहा गया है कि तीन रत्न सत् की दृष्टि से कहे गये हैं जो कि शुद्धआत्मा में स्वयं केन्द्रित हैं।

प्रत्येक दिन के जीवन में एक व्यक्ति जो कि राजा की सेवा कर के धनप्राप्त करना चाहता है, उसे उसमें विश्वास रखना चाहिए, उसकी शक्तियाँ और धन के विषय में जानना चाहिए तथा इस प्रकार का स्वयं व्यवहार करना चाहिए कि उसकी पूरी सेवा के मध्य सांसारिक वस्तुओं की अनुभूति में वह उसकी मदद करे। अतः यथार्थ में शुद्धात्मा को राजा जानना चाहिए तथा समस्त पूर्णताओं के गुणों के प्रतीक के रूप में पूरी तरह विश्वास होना चाहिए तथा आत्मध्यान के द्वारा अनुभव करना चाहिए[3]। यह केवल व्यवहार नय की दृष्टि से है कि तीन पथ इच्छा करने के योग्य हैं जिससे कि वह शरीर जो कि सूक्ष्मकर्म पुद्गलों का पिण्ड है, वह पूर्णता की प्राप्ति में बाधा उपस्थित न करे; ऐसा प्रयास करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन - आरंभिक रूप में सम्यग्दर्शन के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्त (अर्हत्), आगम तथा तपस्वियों पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन बतलाया है। यह तीन मूढ़ताओं से रहित होता है। दूसरे आठ अंश होते हैं तथा यह अभिमान से रहित होता[4] है। ईश्वर जैन विचार के अनुसार शुद्ध तथा पूर्ण आत्मा है जिसके कि विषय में पहले ही विचार किया जा चुका है। यह अनन्तज्ञान और सुख से युक्त सर्वज्ञ होता है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन के रूप में

लक्षित किया है। सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के लिए नौ पदार्थों पर विश्वास पूर्वापेक्षित है[5]। वीतराग, जिन आगम, नौ पदार्थ तथा गुरु, संशय और अज्ञान से रहित होना चाहिए[6]। सांसारिक आत्माओं में सम्यग्दर्शन केवल उसी जीव में हो सकता है जिस पर कि कषायों का प्रभुत्व न हो। कुछ जीव ऐसे हैं जो कि जीव की देह के साथ पहचान करते हैं तथा अपने मिथ्या श्रद्धान को समाप्त करने में असमर्थ हैं, जो कि समाज में कुछ लोगों के द्वारा पोषित किया जाता है।

एक औसतन मन तीन प्रकार की मूढ़ताओं से घिरा हुआ है- 1. देवमूढ़ता 2. लोकमूढ़ता 3. पाखण्डीमूढ़ता। पहली मूढ़ता उन देवी-देवताओं में विश्वास करने में निहित रहती है, जिनकी कषाय युक्त तथा विनाशात्मक रूप में पहचान की जाती है। ऐसे व्यक्ति प्रार्थना के माध्यम से या दान देने से देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं। दूसरे का सम्बन्ध किन्हीं नदियों में स्नान करना, पहाड़ पर से गिरना तथा अग्नि में प्रवेश करना है, ताकि अपने गुणों की प्राप्ति हो या स्व कुटुम्बी व्यक्तियों में गुण प्राप्त हो। तीसरा विश्वास झूठे तपस्वियों से सम्बन्धित है, उनको खुश करना, उन्हें आदर देना ताकि वे जादुई तथा रहस्यात्मक शक्तियों से हमारा कुछ भला कर सकें या व्यक्तिगत हमें लाभ हो या शक्ति का प्रदर्शन हो सके। मन को इस प्रकार की मूढ़ताओं से रहित होना चाहिए तथा सन्देह रहित होना चाहिए ताकि सम्यग्दर्शन की आधारभूमि उसका उदय और विकास हो सके[7]। तीन प्रकार की मूढ़ताओं के अतिरिक्त मन को आठ प्रकार के मदों से रहित होना चाहिए- 1. कुलमद 2. जातिमद 3. बलमद 4. सौन्दर्यमद 5. ज्ञानमद 6. धनमद 7. आज्ञामद 8. तपो मद। ये सभी मद या इनमें से कोई एक हमारी मन की साम्यावस्था में व्यवधान उत्पन्न करते हैं तथा मनुष्य और पुद्गल में पसन्द और ना पसन्द उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के मामलों में मन पूर्वाग्रह के बिना नहीं हो सकता। समझ में भूल हो सकती है यदि विपरीतता न हो। किसी व्यक्ति का प्रफुल्लित विचार इन सब आधारों पर दृष्टि को आवृत कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन से पूर्व इन आठ मदों का दूर होना वांछित है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गये हैं जो कि इसकी अच्छाई का निर्धारण करते हैं[8]। वे हैं-

1. किसी व्यक्ति के सत्य की प्रमाणता के विषय के प्रति सन्देह न होना।
2. किसी व्यक्ति को सांसारिक सुख की अभिलाषा या प्रेम न हो; क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी है (निःकांक्षित)।

3. निर्विचिकत्सा अंग- किसी शरीर को देखकर उसके प्रति घृणा नहीं करना चाहे वह कितना ही अपवित्र हो; क्योंकि इससे त्रिरत्नों का पालन करने में मदद मिलती है।

4. अमूढ़दृष्टि- विपरीत या अन्ध विश्वास से मुक्त होना। किसी व्यक्ति को मिथ्या या वंशानुगत विश्वासों का अनुसरण नहीं करना चाहिए।

5. उपगूहन अंग- साधर्मी के दोषों को छिपाना।

6. स्थितिकरण अंग- सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र के मार्ग से च्युत होते हुए व्यक्ति को धार्मिक विश्वास में दृढ़ रखना।

7. वात्सल्य अंग- साधर्मी बन्धुओं के प्रति प्रेम दिखलाना, उनका आदर करना तथा जो आत्मिक दृष्टि से उन्नत हैं उनकी भक्ति करना, उनका स्वागत करना तथा उनके आराम का ध्यान करना।

8. प्रभावना- मनुष्यों को गलत कार्यों से रोकना तथा उन्हें सही धर्म तथा उसकी महत्ता की ओर स्थापित करना। धार्मिक उत्सवों का आयोजन तथा दान देना। जैन शास्त्रों तथा आगमों की महत्ता को बतलाने हेतु प्रयत्न करना।

ये सम्यक्त्व के व्यक्ति को आठ अंग सर्वज्ञ के यथार्थ गुण, आगम तथा गुरुओं के प्रति सन्देहों से पूर्णतया मुक्त करते हैं। इस मार्ग पर भक्ति और स्पष्ट समझ के साथ चलने पर व्यक्ति गड्ढे में गिरने से बच जाता है। आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् उसे अपने साथियों का उपहास नहीं करना चाहिए, जो कि भ्रष्ट पथोन्मुख हैं, उसे उन लोगों को सलाह और आग्रहपूर्वक सन्मार्ग पर लाना चाहिए। उसे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसके धर्म की अवमानना हो। उसे अपने साधर्मी बन्धुओं को निन्दा से बचाना चाहिए, जहाँ पर कि वे पथभ्रष्ट हो रहे हों और उनको सत्य सिद्धान्तों पर ले जाना चाहिए। पवित्र और पुण्यशाली व्यक्तियों का सम्मान होना चाहिए और उनके गुणों के प्रति लगाव होना चाहिए, जिससे कि अन्य लोग उनके आध्यात्मिक पवित्र चरित्र से प्रभावित हों और एक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करे और उन सिद्धान्तों का वह स्वयं पालन करे।

अमृतचन्द्र सूरि ने उन संशयों का वर्णन किया है जो मनुष्य के अन्दर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में बाधक हैं। इस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने में अपनी कमियों के कारण और अपने मित्रों और पड़ोसियों के विचारों के कारण और अन्य धर्मों की गुणगरिमा के कारण जब हमारा मस्तिष्क वस्तु की पहिचान के विषय में ऊहापोहरत हो तब हमारे

कष्ट मिथ्यात्व को बढ़ाते हैं और दूसरे स्वार्थी लोग अन्य देवी,देवताओं के महत्त्व को बतलाते हैं कि मिथ्या देवी और देवताओं की पूजा कष्टों को दूर कर देगी। इसके समय पर एक मनुष्य के विश्वास, धर्म और कर्म सिद्धान्त के स्थिरता की परीक्षा होती है। चूँकि हमारी ग्रहण करने की शक्ति सीमित है अतः हमें जीवन में बहुत सी चीजें विश्वास पर स्वीकार करना चाहिए। सामान्य जीवन में भी हम मनुष्यों को अनेक विषयों में उपलब्धियों से युक्त पाते हैं। धर्म तथा अध्यात्मवाद का प्रयत्नपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। हमारे अध्ययन में तब तक वृद्धि नहीं हो सकती है जब तक हम आगम में स्थापित सर्वज्ञ के गुणों पर कम श्रद्धा रखें। इसका अर्थ यह नहीं है कि समसामयिक खोज को हम रोक दें। यह सामान्य अनुभव है कि वस्तुयें जो कि हमारी समझ से बाहर हैं, हमारे अध्ययन तथा विचारों की उन्नति के साथ ही स्पष्ट होती जाती हैं। हम सभी लोगों के लिए ज्ञान के द्वार तुरन्त नहीं खुले हैं। भक्ति के साथ में अध्ययन सभी बादलों को स्वच्छ कर देता है तथा समर्पित छात्र को रोशनी देता है। कभी-कभी हमारे गुरुओं या ज्ञानियों के द्वारा सन्देह दूर हो जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमारे मस्तिष्क के कोने नई रोशनी से जगमगा जाते हैं। ये पहले ही अदृश्य वस्तु को दृश्य बना देते हैं।

अनेकान्त का सिद्धान्त या प्रत्येक मामले में अनेकपक्षीय पहुँच चाहता है कि विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को प्राप्त करें। अपने विविध स्वभाव में तत्त्वशास्त्रीय समस्यायें कठिन हैं। हमें खुले दिमाग से विचार करना चाहिए तथा मिथ्या सिद्धान्त और आगम पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

एक विश्वास जो कि पुरस्कार से निर्धारित किया गया है, सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। एक सही विश्वास करने वाला किसी राजवंश में उत्पन्न होने की आशा नहीं करेगा या शक्ति और धन प्राप्ति की आशा नहीं करेगा। ये सभी सम्बन्धित व्यक्ति के मामले कर्म के फल हैं। किसी व्यक्ति को जीवन की प्राकृतिक दशाओं से घृणा नहीं करना चाहिए जैसे-भूख, निर्धनता, धूलि या गन्दगी इत्यादि किन्तु किसी व्यक्ति के विश्वास को आत्मा के दैवत्व के रूप में शक्ति प्रदान करना चाहिए। दशधर्म का अभ्यास, कषाय की क्रीड़ा को अवकाश दिए बिना सम्यक्त्व के विकास का मार्ग है। ये दशधर्म हैं-उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य और उत्तमब्रह्मचर्य। हमारा प्रयत्न आत्मसुधार होना चाहिए। दूसरों को मुद्दा बनाना, दूसरों के लिए गड्ढा खोदना यह सब अस्वास्थ्यप्रद है तथा सम्यक्दृष्टि के लिए उचित नहीं है। सही मार्ग से हटने को कषाय विजय और अधिक ज्ञान प्राप्ति से रोका जा सकता है।

चूँकि जैनधर्म के अनुसार सम्यक्त्व नीति की आधारशिला का निर्माण करता है, उत्तराध्ययन सूत्र जो कि श्वेताम्बरों के अनुसार सबसे पुराने आगमों में से है, ने संक्षिप्त रूप से उस स्रोत की ओर निर्देश किया है, जिसके द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है या विकसित किया जा सकता है। ये दस हैं- निसर्ग-मन का अनवरत प्रयास है जिससे आत्मा का स्वभाव जाना जा सकता है तथा सांसारिक जीवन में इसके सिद्धान्तों को जोड़ा जा सकता है। उपदेश-आज्ञा (आगम में दिये गये आदेश, सूत्र/अंग तथा दूसरे पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन), बीज (जो कुछ जाना गया है, उसे तार्किक अनुमान से जानना) अभिगम (पवित्र उपदेशों को जानना), विस्तार (विस्तृत अध्ययन), क्रिया (चारित्र के नियमों का अभ्यास), संक्षेप (संक्षिप्त व्याख्या) तथा धर्म (धर्म के नियम)[9]।

यही विषय कुछ बड़े विस्तार के साथ और थोड़े से परिमार्जन के साथ आचार्य गुणभद्र ने वर्णन किया है जिसने कि सम्यग्दर्शन को दो प्रकार से विशिष्टता प्रदान की है 1. निसर्गज 2. अधिगमज। जबकि पहला जन्म स्वतः है और प्रेरित है तो दूसरा गुरु से प्राप्त किया है, अध्ययन किया और निर्देश प्राप्त किया है। कर्म को दबाने की आवश्यकता है तथा कषायों और अभिमान को जीतने की आवश्यकता है जिसका कि वर्णन किया जा चुका है। अनन्तर उन्होंने दश स्रोतों का सन्दर्भ दिया है जिससे कि सम्यग्दर्शन की धारा प्रवाहित होती है- 1. आज्ञा - कषाय रहित साधुओं के द्वारा दिया गया निर्देश 2. मार्ग-नित्य मुक्ति के मार्ग का शान्तिपूर्ण ढंग से विश्वास जो कि बन्धन तथा राग से रहित है तथा जो मोहनीय कर्म के उपशम के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है 3. उपदेश- वह विश्वास है जिसका उदय प्राचीन साधुओं की शिक्षाओं से होता है तथा उन कथनों से होता है जो कि बड़े-बड़े शास्त्रों के सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होता है 4. सूत्र एक दूसरे विश्वास का स्रोत है, इसमें चारित्र के नियम निर्धारित हैं जो कि साधुओं के लिए बनाये गये हैं तथा धार्मिक अनुशासन में निर्धारित हैं 5. बीज- जो कि द्रव्यों के ज्ञान से उद्भूत होता है तथा उन पदार्थों से उत्पन्न होता है जिनके विषय में जानना कठिन है किन्तु शान्तिपूर्ण ढंग से उसका अनुसरण किया जाये तो उसे समझा जा सकता है। जिसके फलस्वरूप मिथ्यादर्शन दब जाता है 6. सम्यक्त्व- त्याग करने योग्य संक्षेप प्रशंसनीय विश्वास का त्याग करना। इस मामले में विश्वास प्राप्त किया जाता है। यद्यपि इसकी संक्षेप में व्याख्या हो चुकी है 7. सावधानीपूर्वक द्वादशाङ्ग का अध्ययन 8. अर्थ- वह विश्वास है जो कि सिद्धान्त के सही अर्थ का निश्चय करने पर होता है जो कि पवित्र ग्रन्थों में रखा हुआ है इसमें शब्दों के दबाव पर जोर नहीं दिया गया है 9. अवगाढ़ यह

वह विश्वास है जो कि पवित्र साहित्य के स्थान, अंग तथा दूसरे ग्रन्थों के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त होता है 10. परमावगाढ़- सत्य में विश्वास करना जैसा कि सर्वज्ञों ने देखा[10] है।

जो कुछ ऊपर विचार किया गया है यह स्पष्ट होना चाहिए कि सम्यक्त्व की विशेषता है-धर्म के प्रति प्रेम (संवेग), सांसारिक सुखों के प्रति उपेक्षाभाव (निर्वेद) तथा सभी चेतन प्राणियों के लिये आत्म समीक्षा एवं चारित्र के नैतिक नियमों के प्रति परवाह रहित अविचार। एक व्यक्ति जो कि सम्यक्त्व सहित है उसको आलोचना तथा पछतावा अपने आध्यात्मिक गुरु के समीप अपनी भूलों के लिए करना चाहिए (गर्हा) तथा अपनी कषायों को दबाने के लिए चेतनापूर्ण सजगता (उपशम), पंचपरमेष्ठियों के प्रति भक्ति तथा गुणों के प्रति अनुराग (वात्सल्य), सभी प्राणियों के प्रति दया भाव रखना (अनुकम्पा)। इस प्रकार धर्म के प्रति भक्ति होती है। सम्यग्दर्शन इस प्रकार अध्यात्मवाद पर आधारित है। वस्तुओं के स्वभाव के विषय में यह सही अर्न्तदृष्टि है जो कि सत्य के ज्ञान के लिए आवश्यक है वह मनुष्य जो कि इस अन्तर्दृष्टि को प्राप्त कर चुका है उसकी पहचान मन के दृष्टिकोण पर निर्भर है जिसे कि किसी भी कीमत पर संक्षेप में सत्य का निर्णय करना है[11]। हमने यह निर्देश कहा है कि जैनधर्म केवल नीतिशास्त्र और तत्त्वविद्या ही नहीं है अपितु अध्यात्मवाद भी है जो कि प्रामाणिक रूप में लगातार जैन दार्शनिकों के द्वारा बिना किसी अपवाद के प्रकट किया गया है। यही सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है, मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए आचरण का अभ्यास करते हुए इसकी प्राप्ति होती है। समन्तभद्र आचार्य ने कहा है गणधर परमेष्ठी भी उस व्यक्ति का आदर भगवान् के समान करते हैं जिसके पास सम्यक्त्व है चाहे भले ही वह नीच कुल में उत्पन्न हुआ[13] हो। जब तक कोई व्यक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उदय, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नहीं हो सकता है।

सम्यग्ज्ञान - सम्यग्दर्शन हमें ग्रहण करने योग्य बनाता है, चाहे वह पूरे विस्तार के साथ न हो। जीवन के सिद्धान्त तथा मामले हमारे विचारों तथा जिनों की पूजा तथा आगम के अध्ययन के परिश्रम की ओर लगा देते हैं।इससे धर्म ग्रन्थों के प्रति विश्वास होता है। ज्ञान के अनुसरण के लिए आधार होता है। अतः हमें इसकी तैयारी करना चाहिए। आवश्यक रूप से विचारों की शुद्धता होनी चाहिए तथा पहुँच का तार्किक दृष्टिकोण जो कि विनयपूर्ण है; वह होना चाहिए। मिथ्यात्व सम्यग्ज्ञान में रुकावट है। आचार्य समन्तभद्र ने यह ज्ञान की परिभाषा दी है कि जो वस्तु जैसी है उसके स्वभाव को

पूर्ण रूप से उसी प्रकार ग्रहण करे, जिसमें सन्देह विपरीतता और अतिशयोक्ति न हो। ग्रहणशीलता जो कि आंशिक, अत्यधिक विपरीत या संशययुक्त हो; मिथ्याज्ञान है[14]। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है कि पूर्ण ज्ञान आत्मस्वरूप के सही जानने से होता है और यह संशय से रहित होता है[15]। विमोह तथा अनिश्चितता (विभ्रम) से रहित होता है। जैन दार्शनिकों ने चार साधन स्थापित किये हैं। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये वे हैं- 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. तर्क, तथा 4. आगम।

निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान आत्मा का छिपा हुआ गुण है। आत्मा ज्ञाता तथा ज्ञान का प्रमुख सबसे बड़ा स्रोत है। यह पूर्ण ज्ञान है किन्तु कर्मों के आवरण कारण हैं कि इसकी अनन्तता तथा मेधा का अनुभव नहीं हो पाता। ज्ञानपूर्ण है किन्तु यह मिथ्यात्व के द्वारा कष्ट में पड़ा हुआ है। मिथ्यात्व सम्यग्ज्ञान का शत्रु है; क्योंकि यही ज्ञान और दृष्टिकोण दोनों के विपरीत है। कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि आत्मज्ञान की सच्चा ज्ञान है। निषेधात्मक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण गन्ध, स्वाद, स्पर्श, कर्म तथा कोई भी द्रव्य ज्ञान नहीं है[16]। इसका कारण यह है कि ये सब पुद्गल के गुण और लक्षण हैं अतः आत्मा जानने वाला तथा ज्ञानी है अतः ज्ञाता से ज्ञान भिन्न नहीं है। यह ज्ञान स्वयं सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की ओर बढ़ने का कदम है। यही कारण है कि जैन विचारकों ने मन से मिथ्याज्ञान हटाने का आग्रह किया है। मिथ्यात्व कुछ-कुछ हमें वेदांत की अविद्या की याद दिलाता है। सांख्य का अविवेक तथा बौद्धदर्शन की माया का भी यही दर्शन है। जैनधर्म इस बात पर जोर देता है कि जब तक मिथ्याज्ञान नष्ट नहीं होता है[17], तब तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। जब हम जीव या आत्मा के विचार के विषय में वर्णन कर रहे थे तब हमने ज्ञान के प्रकारों का व्यवहार नय से वर्णन किया था। ज्ञान या तो स्वभाव ज्ञान है या विभावज्ञान[18]। पहला पूर्ण है तथा यह प्राप्ति के लिए किसी बाह्य एजेन्सी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर सभी व्यक्तियों में स्वाभाविक ज्ञान कार्य नहीं करता है। ज्ञान जो कि दूसरे स्रोतों से निकला है वह विभाव ज्ञान है। विभाव ज्ञान के दो भेद होते हैं या तो सही ज्ञान होगा या मिथ्या ज्ञान होगा। इस प्रकार ज्ञान के आठ भेद हैं जिनके विषय में कुछ पहले ही कहा जा चुका है। ज्ञान के साधनों के सन्दर्भ में जब हम विचार करते है तो ज्ञान पाँच प्रकार का होता है जैसे कि दूसरे अध्याय में पहले से ही कहा गया है। ज्ञान; जो कि किसी इन्द्रिय या मन के द्वारा प्राप्त होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान जो आगम के द्वारा होता है वह श्रुतज्ञान है। जबकि पहला

ज्ञान वस्तुओं और विषयों के अस्तित्व पर सीमित है तो दूसरा वर्तमान, भूत और भविष्य की समस्त वस्तुओं के विषय में जानता है जैसा कि श्रुत के विषय में कहा गया है। अवधिज्ञान बहुत पूर्व का ज्ञान है। यह उन साधनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिन्होंने विचार की शुद्धि प्राप्त की है तथा जिनकी मानसिक सामर्थ्य तपों के द्वारा विकसित हुई है। यह देव तथा नारकियों के होता है चौथा प्रकार मनःपर्यय ज्ञान का है जिस ज्ञान के द्वारा दूसरे के विचार को जाना जा सकता है यह उनके द्वारा प्राप्त हो सकता है जिन्होंने अपने ऊपर अधिकार किया है अंतिम केवलज्ञान है जो कि तीर्थंकर या पूर्ण आत्माओं के द्वारा प्राप्त कर लिया गया है। सम्यग्ज्ञान के विस्तृत महत्त्व के विषय में सामयिक दृष्टिकोण से जानना आवश्यक है क्योंकि यह मोक्षमार्ग की योजना है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ आगम के अभ्यास से जैनदर्शन की पद्धति पर तथा उसके विश्वासात्मक सिद्धान्तों के मेल से साथ में अधिकार होना चाहिए। सभी शास्त्र जीव की उन्नति के विषय में कहते हैं उसे सही रूप में और पूर्ण रूप से अवश्य समझना चाहिए, जिससे कि समस्त सन्देह और मिथ्याविचार दूर होते हैं। इसप्रकार के ज्ञान को हमारे विचारों को तथा वाणी को निर्देश देना चाहिए। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान छिपा हुआ है किन्तु वह ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त है। यह कर्म के उपशम या विनाश के द्वारा संभव है कि वह सम्यग्ज्ञान आंशिक रूप से प्राप्त किया जा सकता है या पूर्ण रूप से। यद्यपि सम्यग्ज्ञान का उदय सम्यग्दर्शन के साथ में होता है किन्तु वे कर्म जिनके उदय और उन्नति को बाधा पहुँचाते हैं, वे भिन्न हैं। मिथ्यात्व तो सामान्य है किन्तु दर्शनावरणीय कर्म वह पर्दा है जो कि सम्यग्दर्शन को ढाँकता है। दूसरे विषय में विस्तृत विचार ऊपर किया जा चुका है कि किस प्रकार से सम्यक्त्व प्राप्त किया जा सकता है। सम्यक्त्व तो सम्यग्दर्शन की साँस है। सम्यग्ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के विनाश से होता है। इसमें कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं तब दैवीय प्रमाण ज्ञान या सर्वज्ञता प्रकट होती है जैसे सूरज अपनी पूरी दीप्ति के साथ चमकता है तब वह समस्त बादलों को हटा देता है, जो कि उसके प्रकाश को आवृत करते हैं। इसीप्रकार से ज्ञान जो कि आत्मा में छिपा हुआ है, वह सब कुछ तभी जान सकता है, जब ज्ञानावरणीय कर्म के बादल नष्ट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के समान जीव को स्वाभाविक गुण है। ज्ञान और दर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध इस तथ्य में प्राप्त होता है कि बौद्धिक दर्शन, बौद्धिक पूछताछ या खोज में कुछ-कुछ निहित है। सम्यग्ज्ञान स्वयं सम्यग्दर्शन पर निर्भर है[19], इस तथ्य के बावजूद भी ज्ञान और दर्शन एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं।

जब कि हमारी इन्द्रियाँ और मन, ज्ञान की प्राप्ति के माध्यम हो सकते हैं, तब नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के प्राप्त होने में आगम एक विशिष्ट स्थिति प्राप्त करते हैं। उनका समर्पण भाव से किया गया अध्ययन न केवल हमारी दृष्टि और चरित्र को मोड़ता है, अपितु हमारे मन को प्रभावपूर्ण ढंग से एक दिशा देने की शक्ल प्रदान करता है तथा हमारे सम्पूर्ण जीवन को अर्थ प्रदान करता है। आगमों में 12 अंग और सूत्र एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करते हैं। यद्यपि विचारों में उनकी प्रामाणिकता के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भिन्नता है। इसके बावजूद भी बहुत से अपूर्व आचार्यों ने अनन्त और अमूल्य साहित्य को समृद्ध कर सहयोग प्रदान किया और दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा को आगे बढ़ाया। इन आगमों ने जैनदर्शन सम्पूर्ण समूह को अनावृत किया। उन्होंने श्रावकों के लिए उन्हें सरल शैली में भाषाबद्ध किया। जैनधर्म यह मानता है कि सम्यग्दर्शन के साथ मनुष्य को तप के द्वारा सर्वोच्च प्रकार का ज्ञान-सर्वज्ञता प्राप्त करना चाहिए। यह घातिकर्म के सम्पूर्ण विनाश से ही प्राप्त की जा सकती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में वही सम्बन्ध है, जो लैम्प और लाइट (प्रकाश) में होता है। यद्यपि लैम्प और लाइट दोनों साथ-साथ जलती हैं, किन्तु लैम्प को जलने से पहले तेल और बत्ती से युक्त होना चाहिए। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से पहले पूरी पवित्रता और ज्ञान के लिए Urge (आग्रह) होना चाहिए; जो कि तेल है। आगम के समान ज्ञान के स्रोत, गुरु तथा साधुओं के साथ संवाद रूपी बत्ती होना चाहिए।भक्तिपूर्वक अनुगमन और और स्वाध्याय लैम्प के प्रकाश के समान हैं तब ज्ञान के रूप में प्रकाश हो सकता है।

व्यवहार नय की दृष्टि से आधारभूत सत्य को जानने का प्रयास आवश्यक है। यदि सन्देह मस्तिष्क में बार-बार घूमता है तो उसे अच्छी समझ से दूर किया जाना चाहिए। यदि वहाँ मिथ्यापन है तो इसकी जड़ रूप कारण को दूर करना चाहिए और यदि वहाँ अस्पष्टता हो तो पुनः अध्ययन के द्वारा साधु, सन्तों और गुरुओं के साथ पुनः अध्ययन और विचार मन्थन है; स्पष्ट होना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि हमें सम्यग्ज्ञान के मजबूत प्रासाद के लिए आठ स्तम्भों के निर्माण की आवश्यकता है। वे हैं- 1. ग्रन्थ - पवित्र ग्रन्थों को पढ़ना है। इस प्रकार के ग्रन्थों का सावधानी से अध्ययन प्रथम अंग है 2. अर्थ- इसका अर्थ है मतलब। मतलब को समझे बिना मशीनी अध्ययन से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता है। पढ़ना तभी फलप्रद होता है, जबकि शब्दों का महत्त्व, मुहावरे तथा उनका प्रयोग सन्तोषजनक ढंग से जाने और पचाए गए हों 3. उभय- अर्थ को पढ़ना और समझना

आवश्यक हैं। वे एक साथ साधन और अभिप्राय को पूर्ण करते हैं। इस बात पर जोर दिया गया है कि अकेली वाचना ही काफी नहीं है 4. काल- जो अध्ययन के लिए काल चुना गया है, उसे शान्तिपूर्ण तथा व्यवधानों, चिन्ताओं और उत्सुकताओं से मुक्त होना चाहिए। उसके अतिरिक्त नियमितता और सातत्य भी होना चाहिए 5. विनय- शास्त्रों के प्रति विनय तथा विषय के प्रति सम्पर्क होना चाहिए, जिससे हमारी ज्ञान के प्रति भक्ति का विकास हो 6. सोपधान-चारित्र और व्यवहार की मर्यादा। अध्ययन करते समय अवश्य रूप में हमारे सामने कठिन शब्द आयेंगे तथा कठिन उनकी अभिव्यक्ति होगी। विचार भी दुर्बोध होंगे अतः मन ग्रहणशील और उत्तरदायी हो। किसी भी व्यक्ति को शीघ्र निर्णय नहीं लेना चाहिए; जिससे कि हमारा व्यवहार ठीक हो 7. बहुमान- विषय के स्वामित्व के प्रति उत्साह भी दिलचस्पी और सततता के लिए आवश्यक है। 8. अनिन्हव- ज्ञान को छिपाना नहीं चाहिए तथा उसके स्रोत को भी नहीं छुपाना चाहिए। छात्रों को अपना मन खुला रखना चाहिए तथा दृष्टि भी खुली हो ताकि संकीर्ण विचार उसे ज्ञान की पूर्णता से बाहर न कर दें।

इस प्रकार पवित्र आगम पढ़ने के प्रति भक्ति के अनुशरण से, उनको पूरा अर्थ समझने से तथा उचित समय और सातत्य के महत्त्व के ज्ञान से सम्यग्ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। यह सब उत्साह, उचित व्यवहार तथा खुले मन के सहकार से सम्भव[20] है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि जैन प्रमाणशास्त्र की विशेषता है कि सुदृढ़ अर्थ में केवल एक और एक ही प्रकार का यथार्थ ज्ञान है, वह है केवलज्ञान। यह इस कारण है कि इस प्रकार के ज्ञान को लोकोत्तर और इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष के रूप में वर्णित किया गया है; क्योंकि इन्द्रियों और मन का कार्य ज्ञान को विधेयात्मक रूप में रोकना है। अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को देश प्रत्यक्ष कहा है; क्योंकि उन्नतिशील स्तर पर (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इसमें तैयारी की ओर कदम होते हैं; यथार्थ ज्ञान की निश्चित पद्धति अवरोधों की अनुपस्थिति है। अवधि और मनः पर्यय ज्ञान में मन की उपस्थिति है जो कि प्रत्यक्ष को प्रदान करने में समर्थ [21] नहीं है।

सम्यक्चारित्र- सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान; जो किसी व्यक्ति को मोह मुक्त करते हैं और तदनुसार आधारभूत तत्त्वों को सही ज्ञान से स्पष्ट करते हैं की दीक्षा के लिए तथा अनुभूति के लिए क्या योग्य है ? उसके लिए सम्यक् चारित्रमय मोक्षमार्ग आवश्यक है। कुन्दकुन्द आचार्य का कहना है कि सम्यक्चारित्र तप के अभ्यास या पालन पर निर्भर है। जबकि निश्चयनय की दृष्टि से यह तप के पालन से संभव है। इसमें

आत्मस्वभाव का ध्यान या लीनता करनी होती[22] है। आचार्य नेमिचन्द्र ने इस विचार को विस्तृत रूप से दियां है, जबकि वे कहते हैं कि सम्यक् चारित्र निश्चय नय पर निर्भर है। शरीर, वचन और मन की क्रियायें, जिनसे मन की आन्तरिक क्रियायें तथा समस्त रुकावटें एवं आवरण आत्मा के स्वभाव का अनुभव करने में दूर कर दी जाती हैं। सम्यक् चारित्र संसार के कारणों को नष्ट करता है। ये कारण एकचित्त से ध्यान का अभ्यास करने से नष्ट होते हैं। अच्छी और बुरी वस्तुओं के प्रति विरक्ति पर ध्यान की सफलता निर्भर है। विचार भी मन को वशीभूत करते हैं[23]।

निश्चयनय की दृष्टि से केवल वही व्यक्ति जिसने संसार छोड़ दिया है, जो मन को ध्यान में लगाता है तथा जो आत्मा के सही स्वभाव को जानता है, उसी की आत्मा सम्यक् चारित्र धारण करती है। आत्मा के गुणों के साथ चारित्र ठीक होना चाहिए तथा इसे समस्त मिथ्यात्वों से मुक्त होना चाहिए; जो आत्म स्वभाव से भिन्न हैं। केवल तीन रत्नों का योग मुक्ति के मार्ग का निर्णय करता है तथा जो अपना कार्य करता है, जानता है तथा आत्मस्वभाव का अनुभव करता है उसी के द्वारा वह स्वयं चारित्र, ज्ञान और दर्शन के प्रति सुनिश्चित हो जाता[24] है।

जैन दार्शनिकों ने सम्यक् चारित्र पर बड़ा जोर दिया है। चारित्र, जो कि सम्यग्ज्ञान के अनुरूप नहीं है, वह मिथ्याचारित्र या बुरा चारित्र है। आत्मा की बन्धन से मुक्ति केवल तीन रत्नों की पूर्णता से हो सकती है। यदि कोई आगम में प्रवीण पुरुष आत्मा के अनुशासन में नहीं है तथा समस्त तपों को नहीं तपता है तो उसके ज्ञान का कोई लाभ नहीं है। वह एक गधे की स्थिति में होगा जो कि चन्दन की लकड़ी को उसकी सुगन्धि का आनन्द लिए बिना ले जाता है। कर्मों को क्रिया से नष्ट करना है। चारित्र तभी पूर्ण हो सकता है, जब कि वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ हो।

सम्यक्चारित्र आत्मा को ऊँचा उठाता है जबकि इन्द्रियों और मन की क्रियाओं का उपशम हो गया हो। इसका परिणाम विचारों की शुद्धि और आत्मानुशासन होता है, क्योंकि शरीर से किया पाप मन से किये गये पाप से अधिक हानिप्रद है। जैन विचारकों ने चारित्र की महत्ता पर बड़ा जोर दिया है; क्योंकि यह केवल करने वाले को ही प्रभावित नहीं करता है, अपितु दूसरों को भी प्रभावित करता है। चारित्र कार्य के रूप में इच्छा का बाह्य प्रकटीकरण है। इसकी पहचान सम्यक् होना, दया, कृपा, क्रोध, घृणा तथा माया से मुक्त होना है। अतः जैन नीति शास्त्र मानवीय क्रियाकलाप के पूरे क्षेत्र को आच्छादित करता है चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक व्यवहार हो। अहिंसा तथा सब के प्रति

प्रेम सम्यक् चारित्र के रूप का आधार है। यह आत्मा को दीप्त करता है और किसी व्यक्ति को आत्मिक शक्ति से जोड़ता है। यह सामान्य अनुभव और ज्ञान का विषय है कि मानसिक साधनों के हल में भिन्नता होती है। इसी कारण सम्यक् चारित्र के दो भेद किये गये हैं-

1. सकल चारित्र 2. विकलचारित्र। सकल चारित्र में चारित्र के नियमों का समावेश है इसमें आत्मिक संवदेना के कठोर और उच्च अंश हैं जबकि विकल चारित्र में इसका अभ्यास है कि चारित्र कितना बढ़ रहा है या कितना बढ़ सकता है इसलिए सकल चारित्र का तात्पर्य मुनि के चारित्र से है। यह मुनि का धर्म है। विकल चारित्र गृहस्थ के लिये है। चूँकि सम्यक् चारित्र का प्रयोजन कर्मों को नष्ट करना मन की शांति की सुरक्षा तथा प्रतिदिन के जीवन में सुख लाना है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसकी प्राप्ति के लिए बड़े निर्देश है-

1. सामायिक उन सभी को छोड़ना है जो पापपूर्ण हैं। इसकी यह अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति से है कि वह हानिपूर्ण क्रियाओं को छोड़ दे। यह जैन नीतिशास्त्र की स्वाँस है तथा तीर्थंकरों के सन्देश का नवनीत है।

2. छेदोपस्थापना- एक नवमुनि की दीक्षा के लिए मौलिक आवश्यकता सम्यक् चारित्र की है। इसमें केवल चारित्र के ही नियम समाहित नहीं है, किन्तु इसके पीछे उद्देश्य है। नियमों के विषय में ऊपरी रूपों में सोचना या व्रतों के विषय में छिछले रूप में सोचना इससे मन बड़ी कठिनाई से उन्नति करता है। यदि इसका अभ्यास अज्ञान से युक्त हो तो मन में प्रकाश नहीं हो सकता या कर्मों का परिष्कार नहीं हो सकता।

3. परिहारविशुद्धि- तपों को करने पर उत्पन्न हुई शुद्धता है, जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे। जैन नीति शास्त्र में बहुत से तपों का विधान किया गया है जो मुनियों और गृहस्थों के लिये है उनका विश्वासपूर्ण पालन मन को शुद्ध करेगा तथा आत्मा को अशुभकर्मों से मुक्त करेगा।

4. सूक्ष्म सम्पराय- इच्छाओं और कषायों को कम करना है जो कि हमारे संसार भ्रमण का मूलकारण है। विभिन्न प्रकार के व्रत तथा तप का उद्देश्य है, कर्मों के उपशम भाव या क्षय भाव को प्राप्त करना।

5. यथाख्यात- पाप पूर्ण कार्यों को अरहंत भगवान् में वचनों के अनुसार छोड़ देना है। यह निषेधाज्ञा जितनी साधु के लिये है,उतनी ही उन लोगों के लिये है जो कि सांसारिक अस्तित्व में संलग्न हैं।

विभिन्न प्रकार के व्रत, दशधर्म, पाँच समितियाँ, परीषहजय, तीन गुप्तियों तथा तप संक्षेप में नियमित रूप से जैन नीतिशास्त्र के शुद्धि करने वाले सिद्धान्त हैं तथा इनके विषय में प्रत्येक को अलग-अलग वर्णन करने की आवश्यकता है। यह रेखांकित करना काफी होता है कि सम्यक्त्व चारित्र की महत्ता आत्मानुभव के मार्ग में इस बात पर निर्भर है कि यह केवल तभी है जबकि सम्यग्ज्ञान 'आत्मानुशासन' में अनुवादित होता है तभी मुक्ति का मार्ग सुगम होता है। जैनदार्शनिकों ने समग्र रूप से नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन जो कि मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, उसको पूरी तरह से मान दिया है। यह बात त्रिरत्न के विचार से प्रमाणित होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें से कोई भी एक दूसरे से अलग होकर सार्थक रूप में नहीं माने जा सकते तथा इनका प्रभाव भी नहीं हो सकता; क्योंकि जीवन में आत्मिक सिद्धान्त का अनुभव होना चाहिए। जीवन एक सैद्धान्तिक कल्पना मात्र नहीं है, न यह कोई सरल चीज है जिसका केवल अभ्यास किया जाए।

जैन इस विषय में आग्रह करते हैं कि सम्यग्दर्शन के अभाव में दूसरे दो कार्य नहीं करते हैं। यह पूरी तरह से इस तथ्य में समझने योग्य है कि आधुनिक मनोविज्ञान में स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि किसी चीज के प्रति विश्वास किसी की[26] औषधि की कुंजी है।

सत्य के प्रति प्रेम आत्मिक अग्रगामिता के प्रति प्रेम से जुड़ा हुआ है। जिसकी पराकाष्ठा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में है। सर्वज्ञता के अतिरिक्त जीव शरीर से मुक्त नहीं हो सकता जब तक कि समस्त क्रियाओं का निरोध न हो। क्रियाओं का निरोध तभी होता है जब तक कि सम्पूर्ण आत्मिक अनुशासन प्राप्त न हो क्योंकि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र संसार भ्रमण के कारण हैं। त्रिरत्न आवरण कर्म के भेदों को हटा नहीं देते हैं तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। यह तभी संभव है जबकि तीन योग्यताएं या त्रिरत्नों का प्रकाशन हो।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. एस.ए. जैन : रीयलिटी, अध्याय-1, सूत्र-1, वीर शासन संघ, 29 इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता-37
2. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार, गाथा-19, श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र।
3. वही, गाथा 20-21
4. समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-4 मराठी टीका : जीवराज गौतमचन्द दोषी द्वारा लिखित । जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।

5. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-1, सूत्र- 2
6. समन्तभद्राचार्य : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक - 4
7. वही, श्लोक 25
8. वही, श्लोक 11-8
9. हर्मन जैकोवी : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द, 45, पृ. 155-156 (उत्तराध्ययन सूत्र), डोबर पब्लिकेशन आई.एन.सी., न्यूयार्क
10. आचार्य गुणभद्र : आत्मानुशासन, श्लोक 11-14 जे.एल. जैनी द्वारा लिखित टीका। सेक्रिड बुक्स ऑफ दि जैन्स, जिल्द -7 द जैन सेंट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस अजिताश्रम, लखनऊ (उ.प्र.)
11. सी.आर.जैन, फण्डामेण्टल्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 87 वीर निर्वाण भारती, तीरगारान स्ट्रीट, मेरठ 250002 (भारत)
12. कमलचन्द्र सोगाणी : इथिकल डाक्ट्राइन्स आफ जैनिज्म,पृ. 71, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
13. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक-28
14. वही, श्लोक-42
15. द्रव्यसंग्रह, गाथा-42, सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा (भारत)
16. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार,गाथा 411-422
17. जे.एल.जैनी : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 58
18. आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा-10, अनुवाद तथा टीका सहित, उग्रसेन जैन, द सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस अजिताश्रम, लखनऊ
19. सी.आर.जैन फंडामेन्टल्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 88 (पाद टिप्पणी)
20. अमृतचन्द्रसूरि : पुरुषार्थसिद्धियुपाय, श्लोक 36, पं. अजितप्रसाद जैन द्वारा सम्पादित, द सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
21. एस.गोपाल : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 52 विली ईस्टर्न पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली
22. कुन्दकुन्द : आचार्य नियमसार, गाथा-55
23. एस.सी. घोसाल : द्रव्य संग्रह, गाथा 46-49 (अंग्रेजी-अनुवाद)
24. कुन्दकुन्दाचार्य : पंचास्तिकाय गाथा 158-168, मगनलाल द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित, श्री दि.जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
25. द सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द एक्स (X.L.V. 45) पृ. 157 उत्तराध्ययन सूत्र।
26. एस. घोसाल : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 178

❑❑❑

अध्याय-13

जैन नीतिशास्त्र तथा जीवन का मार्ग या सत्ता (अस्तित्व)

विश्व के समस्त धर्मों ने नैतिकता पर बड़ा जोर दिया है। यह एक विस्तृत तथ्य है, जो किसी व्यक्ति के चारित्र को नियमित करता है। यह उसके अपने लिए या समाज की भलाई के लिए होता है जिसका कि वह सदस्य है। समाज का लक्ष्य नैतिक मूल्यों, भ्रातृभाव की स्थापना तथा शान्ति होता है। नैतिक आदर्शों के प्रति भक्ति समस्त आधुनिक सभ्यताओं के लिए प्रामाणिक चिह्न है। पुराने विचारकों ने नीतिशास्त्र को तत्त्वविद्या और धार्मिक परिकल्पनाओं के रूप में विचारित किया है अतः उन्होंने नैतिक सिद्धान्तों को धर्म का एक भाग बनाया है। ऐसा करते हुए उन्होंने मनुष्य तथा विश्व के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वे यह भी जानना चाहते हैं कि उनका जीवन में लक्ष्य क्या है ? यद्यपि मनुष्य का चारित्र समाज में नीतिशास्त्र का सामान्य क्षेत्र होता है किन्तु जैन विचारकों ने नीति शास्त्र को तत्त्वशास्त्रीय विचारों और आदर्शों से जोड़ा है।

जैन नीतिशास्त्र जैन धर्म का अत्यधिक गौरवपूर्ण भाग है। यह स्वयं में सरल है इसी कारण कुछ लेखकों ने जैनधर्म को एक नीति शास्त्रीय यथार्थवाद कहा है। मनुष्य का अपने प्रति और समाज के प्रति जो कर्त्तव्य है उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। समाज की सर्वोच्च भलाई किसी व्यक्ति की उच्चतम भलाई है। जीव की वर्तमान सामर्थ्य सबसे अच्छी होना चाहिए जिसका अर्थ है कि इस विकास का एक साधन दूसरों के विकास में मदद करना है। यह मदद उदाहरण, सलाह, प्रोत्साहन तथा सहायता के रूप में हो सकती है। जैनधर्म के अनुयायी के लिए पहला नीति वचन यह है कि वह उस धर्म में एक मेधावी और तर्क युक्त विश्वास का परिष्कार करे। यह सही प्रकार का होना चाहिए तथा ईश्वर के विषय में मिथ्या धारणाओं से रहित होना चाहिए। इसी प्रकार मिथ्याशास्त्र और मिथ्या गुरुओं से रहित होना चाहिए। इस प्रकार का सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में एक प्रेरणा के रूप में होता है, जिसे प्रतिदिन के जीवन में प्रतिबिंबित होना चाहिए। जैसा कि जैकोबी ने कहा है जैननीतिशास्त्र अपने निर्वाण[1] या मोक्ष के साक्षात्कार में समाप्त होता है। इसको प्रभावित करने के लिए चारित्र के नियम अवश्य पालन करना चाहिए तथा अनुरूप गुणों की प्राप्ति अवश्य होनी चाहिए[2]।

धर्म में आन्तरिक विश्वास तथा किसी व्यक्ति में पोषित नैतिक मूल्य चारित्र है, जो कि क्रियाओं का प्रतिबिम्ब है। उसके आत्म नियंत्रण का अंश तथा मन की दृष्टि उसके व्यवहार का प्रमाण हैं। दो व्यक्तियों के चारित्र में किसी मामले में भिन्नता वृहत् रूप में उनके चारित्र और धार्मिक उत्थान के कारण हैं, जो कि जीवन के मूल्यों से परिष्कृत हैं। ये स्वयं उनके वृद्धि को प्राप्त होते समय विकसित हुए होंगे।

धार्मिक दृष्टि से जैनधर्म में श्रावकों तथा मुनियों के लिए चारित्र के नियम अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं। इन्हें क्रमशः श्रावकधर्म और मुनिधर्म कहा जाता है। कुछ व्रत और तप जो दोनों में सामान्य हैं वे मुनियों के द्वारा बड़ी कठोरता से तथा श्रावकों के द्वारा सरलता से पालन किये जाते हैं। इसका कारण यह है कि श्रावक को अपने पीछे अपना परिवार भी देखना पड़ता है तथा सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के साथ समझौता करना पड़ता है जिसमें कि वह रहता है।एक साधु की इस प्रकार की सीमा नहीं हैं क्योंकि वह अपने परिपूर्ण उद्देश्यों से इन सबको छोड़ देता है तथा उसका पूर्ण उद्देश्य आत्मिक पथ का अनुसरण करना होता है। वह व्रतों का पालन पूर्ण रूप से करता है। वह अपनी इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण करता है तथा अपनी कषायों को मोड़ने की स्थिति में आसानी से रहता है; क्योंकि उसने धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया है और आत्मिक अनुशासन सीखा है।

चारित्र के नियमों का उद्देश्य तथा व्रत जो कि श्रावकों के लिए निर्धारित किए गये हैं कि उनका वर्गीकरण उनके विश्वास और क्षमता के आधार पर हो। यह सामान्य अनुभव है कि सब जगह मनुष्य और महिलाएं सामर्थ्य में और बौद्धिक ग्रहणशीलता तथा इच्छाओं की दृढ़ता में भिन्न-भिन्न होते हैं। जैन विचारकों ने इसी के अनुरूप तीन प्रकार का विभाग अंगीकार किया है-

1. **पाक्षिक**- वह श्रावक है जिसका इरादा अहिंसा का पक्ष लेना है। वह सम्यक्त्वी होता है तथा मूलगुण और अणुव्रतों का अभ्यास करता है तथा पूजा करने का अध्यवसायी होता है।

2. नैष्ठिक- जो कि प्रतिमाओं के द्वारा ऊपर रास्ते का अनुसरण करता है। ऐसा वह ग्यारहवीं प्रतिमा तक करता है। निष्ठा के बिन्दु पर वह श्रावक का जीवन छोड़ देता है तथा साधु के दशधर्मों का पालन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि वह फिसलता है तो वह पाक्षिक की श्रेणी से नीचे आ जाता है।

3. साधक- वह है जो अपने मानवीय जीवन को आत्मा की शुद्धि के लिए अंतिम रूप में साधना करता है तथा सल्लेखना धारण करता है[3]। यह जोड़ा जा सकता है कि नैष्ठिक का भी मतलब होता है वह व्यक्ति जो धार्मिक नियमों में पूरा विश्वास रखता है। यह वर्गीकरण मानवीय स्वभाव के कमजोर पक्षों में छिपा हुआ है तथा यह आशा की जाती है कि श्रावक और श्राविकाएँ चारित्र के नियमों का पालन करेंगे तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्रतों का पालन अच्छी तरह करेंगे।

भगवान् महावीर के समय समाज चार वर्गों में विभाजित हो गया था- साधु (संन्यासी), साध्वी (संन्यासिनी),श्रावक (गृहस्थ) तथा श्राविका (गृहस्थिनी)।पहले दो वर्गों के लिए चारित्र के जो नियम निर्धारित किये गये थे वे प्रायः एक जैसे ही हैं। इसी प्रकार अंतिम दो वर्गों के लिए बनाये गये नियम भी एक जैसे ही हैं। प्रत्येक वर्ग का चारित्र नियमों के द्वारा नियमित था, जिसे प्रत्येक सदस्य को अपने प्रतिदिन के जीवन में पालन करना होता था। व्रत क्या है ? यह पूरी तरह से निर्णय करना होता है कि हम किसी विशेष प्रकार के चारित्र का प्रतिज्ञाबद्ध होकर पालन करेंगे। यह नियम किसी संत के सामने उसकी सलाह पर या ऐच्छिक रूप में लिया जाता है ताकि अपने आपको चारित्र की संभावित कमियों से रक्षा की जा सके इसका उद्देश्य मन को नियंत्रित करना होता है तथा कोई व्यक्ति अपने चारित्र की रक्षा हेतु अपने चारित्र को आध्यात्मिक पक्ष की ओर मोड़ता है। वे नियम इस प्रकार के हैं जिनका उद्देश्य समाज को हानि से रोकना तथा किसी व्यक्ति की रक्षा करते हुए उसे सच्चे पथ पर लगाना है। व्रत से स्थिरता आती है तथा व्रत ग्रहण करने वाला बुराईयों और प्रलोभनों से या अनियमित जीवन से अपने को बचाता है। यह जीवन का उद्देश्य प्रदान करता है तथा हमारे विचारों और क्रियाओं को स्वस्थ दिशा प्रदान करता है। यह आत्म संयम को बढ़ाने में मदद करता है तथा स्वच्छंद जीवन रूपी गड्ढे में गिरने से रोकता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ या दूसरी कमजोरियाँ होती हैं उन सबकी गणना करना कठिन है तथा विरुद्ध नियमों का पालन कराना कठिन है। अतः चारित्र या नीति के नियम कुछ आधारों पर निर्धारित हैं।

श्रावक धर्म - यह पुनः कहना अनावश्यक है कि जैन नीति की आधारशिला मोक्ष है। चारित्र की छाप विचारों तथा क्रियाओं में दृढ़ विश्वास लाना है। इसके लिए

मोह से छुटकारा तथा क्रोध, घृणा जैसी कषायों से छुटकारा प्राप्त करना है। समन्तभद्राचार्य ने चारित्र की परिभाषा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह से विरति प्राप्त करना बतलाया है[4]। व्यवहारनय से चारित्र जो कुछ अच्छा है और जो कुछ लाभदायक है उसका अनुसरण करना है तथा उसे छोड़ना है; जो किसी व्यक्ति के लिए जैसे हानिप्रद है उसी प्रकार दूसरों के लिए हानिप्रद हो।

ये पाँच व्रत हैं जो कि श्रावकों और साधुओं के लिए निर्धारित किये गये है। इन व्रतों का सीमित रूपों में पालन करना अणुव्रत है तथा पूर्णरूप से पालन करना महाव्रत है। इन व्रतों का सजगतापूर्वक अभ्यास करने से मुसीबतें दूर होती हैं, जिस प्रकार कोई उत्तम विशिष्ट औषधि किसी बीमारी को दूर करती है। महाव्रत साधुओं के लिए हैं।

चूँकि समस्त लेखकों ने इन व्रतों को निषेधात्मक शब्दावली में लिखा है अतः समालोचकों ने इसे निषेधात्मक धर्म के रूप में रेखांकित किया है। यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्रत का अपना निषेधात्मक पहलू है जो कि नैतिक रोकों तथा विधेयात्मक पहलुओं को रूप देने से एक नैतिक कर्तव्य की रचना करता है। निषेधात्मक शब्द प्रभावशाली निषेधाज्ञा हैं। प्रत्येक नैतिक नियम अपने आखिरी पड़ाव पर निषेधों पर समाप्त होता है, जैसे ईसाई धर्म की दश आज्ञाएँ हैं किन्तु फिर भी जैनधर्म में प्रत्येक अंग का अपना विधेयात्मक तथा निषेधात्मक पहलू है। अहिंसा को दया के रूप में रखा जा सकता है; जिसका अर्थ है समस्त प्राणियों के प्रति सक्रिय रूप से दया भाव रखना। यदि जैन धर्म ने समाज के बनाये हुए नियम को कभी भी चेतावनी नहीं दी किन्तु यह दयाभव की धारा में व्याप्त हो रही है किन्तु मनुष्य अपने हित में प्रवृत्त रहते हैं अतः उनके लिए कुछ निचली श्रेणी के उद्देश्यों को रेखांकित किया है ताकि अच्छा कार्य किया जा सके[5]। प्रत्येक व्रत के दो उद्देश्य हैं। इनमें से प्रत्येक व्रत के मनाने में कर्मों का आस्रव रुकता है। हिंसा, चोरी, असत्य; ये सब पाप के कारण हैं। क्रिया में विचार अवस्था के द्वारा दंडित होंगे। दूसरा उद्देश्य सामाजिक है। प्रत्येक व्रत का पालन करने से व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व से मुक्त हो जायेगा। हिंसा से हटने पर तथा चोरी छोड़ने पर समाज में शान्ति और सुरक्षा हो जायेगी। व्रतों के पालन का आध्यात्मिक फल आत्मसंयम तथा मन को बुरे झुकावों या बुरे रुझानों को रोक देना है। इसका सांसारिक फल मानसिक शान्ति तथा समाज का बड़े पैमाने पर अच्छा करना है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि एक गृहस्थ का आचरण पाँच अणुव्रतों के पालन, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के पालन पर निर्भर है[6]। मैं इसी क्रम का विषय के प्रतिपादन में अनुसरण करूँगा।

अहिंसा- पाँच व्रतों में से पहला व्रत अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है किसी को चोट नहीं पहुँचाना। जो व्यक्ति किसी को हानि पहुँचाने से बचता है या किसी जीवधारी की हिंसा से; जो की गयी हिंसा दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियों के जीवों की हिंसा होती है उससे बचता है तथा दूसरों के द्वारा की गयी हिंसा की अनुमोदना करने से बचता है या किसी दूसरे से हिंसा कराने या अनुमोदना करने से बचता है; वह व्यक्ति अहिंसा व्रत का पालन करता है। अहिंसा धर्म का सबसे बड़ा रूप है; ऐसा जैन विचारकों ने कहा है। निश्चित रूप से राग-द्वेष से रहित प्रवृत्ति का नाम अहिंसा है; ऐसा अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है। जब कोई व्यक्ति कषायों से भर जाता है तब वह व्यक्ति स्वयं ही हिंसा का कारण होता है। चाहे उससे किसी प्राणी की हिंसा हो या न हो यदि वह व्यक्ति कषाय रहित है तथा प्रमाद रहित है तो वहाँ हिंसा नहीं है। वहाँ पर निश्चित रूप से हिंसा है जहाँ पर कि कषायों से युक्त होकर जीव प्रमाद युक्त होता है। प्रत्येक वस्तु मनः स्थिति पर निर्भर करती है और हिंसा से बचने के इरादे से बचने पर निर्भर करती है और ऐसी हिंसा करने पर निर्भर है जहाँ पर यथार्थ में किसी को चोट न पहुँची हो या हिंसा न हुई हो।

उमास्वामी ने प्रमाद के योग से किसी प्राणी के प्राण वियोग करने को हिंसा कहा है। जैनधर्म कहता है कि स्थावर जीव के चार प्राण होते हैं- 1. स्पर्श 2. बल प्राण 3. श्वासोच्छवास तथा 4. आयु प्राण। त्रस जीवों की दो या दो से अधिक इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे- जिह्वा इन्द्रिय, घ्राण, चक्षु, कर्ण और वाक् । समनस्क जीवों के सभी 10 प्राण होते हैं। इस प्रकार स्थावर और त्रस जीवों के किसी प्राणी का विघात होने से हिंसा होती है। इस हिंसा से जीवों को दुःख होते हैं। व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर हिंसा करता है या प्रमाद के कारण हिंसा का अपराधी होता है। कषाय के वशीभूत होकर हिंसा करने से भावहिंसा होती हैं। जहाँ शरीर को क्षति पहुँचती है, वहाँ द्रव्यहिंसा होती है।

उमास्वामी ने अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए पाँच नियम निर्धारित किए हैं। वचन पर संयम, विचारों पर संयम, चलने के नियम पालन करना, चीजों को उठाने, रखने में सावधानी रखना, आलोकितपान भोजन इन पाँच व्रतों का पालन करना चाहिए।[8] आत्म संयम का बड़ा महत्त्व है। अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए किसी की भावनाओं को चोट नहीं पहुँचाना चाहिए। वाणी और विचारों पर संयम रखना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को चलते समय ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी प्राणी को भय के कारण या प्रमाद के कारण चोट या हानि न पहुँचे। इसी प्रकार किसी वस्तु को उठाते तथा रखते समय किसी क्षुद्र प्राणी को चोट न पहुँचे; यह ध्यान रखना चाहिए। इसी

प्रकार भोजन पान करते समय सूक्ष्मता से निरीक्षण कर लेना चाहिए कि इसमें कोई क्षुद्र जीव-जन्तु नहीं है।

जैनधर्म भावहिंसा अर्थात् चोट पहुँचाने का इरादा और द्रव्य हिंसा या चोट का वास्तविक कारण; इसमें भेद करता है। यही कारण है कि पाँच प्रकार के संयमों का निर्देश किया गया है ताकि किसी को चोट पहुँचाने से रोकने के लिए सजगता का पालन किया जाय। इसी प्रकार सूक्ष्म हिंसा और स्थूल हिंसा में भेद किया गया है। पहली को अपेक्षा है कि किसी भी प्राणी को चोट न पहुँचाई जाय, तबकि स्थूल हिंसा में दो या दो से अधिक इन्द्रियों से युक्त जीवों की हिंसा से बचना चाहा गया है। एक गृहस्थ के लिए यह सम्भव नहीं कि वह एकेन्द्रिय जीवों जैसे-पौधों, वृक्षों, फसल आदि को चोट पहुँचाने से बचा सके। फिर भी उसे अनावश्यक रूप से एकेन्द्रिय तथा स्थावर जीवों की हानि करने से अपने आपको बचाना चाहिए। किन्तु यह आवश्यक है कि एक साधु को किसी भी प्राणी की हिंसा से बचना चाहिए।

एक व्यावहारिक धर्म के रूप में जैनधर्म ने उन सबके विषय में विचार किया है, जो कि एक औसतन व्यक्ति के लिए सामान्यतया संभव है। हिंसा दो प्रकार की होती है- संकल्पी तथा आरंभी। शिकार खेलना, हिंसात्मक यज्ञ करना, भोजन के लिए किसी को मारना या खेल के लिए मारना; ये संकल्पी हिंसा के उदाहरण हैं। उनसे बचाव तभी सम्भव है, जबकि किसी प्राणी की हानि न हो। आरंभी हिंसा वह है जो कि किसी गृहस्थ ने जीवन के सामान्य विषयों में की हो। यह तीन प्रकार की होती है- 1. उद्यमी 2. गृहारम्भी, तथा 3. विरोधी। उद्यमी- एक गृहस्थ को अपने आपको बनाए रखने के लिए या अपने कुटुम्ब के लिए कुछ न कुछ व्यवसाय करना होता है। जैनधर्म ने षट्कर्मों की अनुमति दी है। 1. असि (तलवार)- किसी व्यक्ति को जैनधर्म ने सैनिक बनने की अनुमति दी है या अधिकारी बनने की अनुमति दी है जो कि अपने कर्तव्य के समय तलवार या अन्य कोई शस्त्र रख सके। 2. मसि (स्याही)- कोई भी व्यक्ति लेखक बन सकता है या किसी कार्यालय या व्यवसाय में संलग्न हो सकता है; जहाँ पर लेखन की अपेक्षा होती है। 3. कृषि- कोई व्यक्ति कृषि का व्यवसाय कर सकता है या बाग-बगीचे वगैरह लगाने का कार्य कर सकता है, खेत जोतने वगैरह का कार्य भी कर सकता है। 4. वाणिज्य-एक गृहस्थ उस प्रकार का व्यवसाय कर सकता है; जिसमें संकल्पी हिंसा न हो। वह एक कषायी या मद्य विक्रेता का व्यवसाय नहीं कर सकता। है। 5. शिल्प- वह उपभोक्ता सम्बन्धी माल उत्पादन के लिए कोई कारखाना खोल सकता है।

6. विद्या- वह कोई विद्वत्ता के व्यवसाय जैसे-साहित्य, अध्यापन, कला कर सकता है आदि। इन सब उद्यमों में पूरी तरह हिंसा से बचना संभव नहीं है।

जहाँ तक गृहारम्भी हिंसा का सम्बन्ध है; जो कि गार्हस्थिक कर्तव्यों के समय या अनुग्रहों के लिए की जाती है। घर बनाते समय, भोजन बनाते समय, स्नान करते समय, जल का उपयोग करने में, कपड़ा धोने में, पशुओं को रखने में, उद्यान के रख-रखाव में, शाक-सब्जी उगाने में, कुआँ खोदने में, फसल या फल काटने में, जो कुछ भी गृहकार्य में आवश्यक हैं, उन सबमें होने वाली अनिवार्य हिंसा की छूट है, नहीं तो सामान्य जीवन असंभव हो जायेगा।

विरोधी हिंसा आत्मरक्षा हेतु किसी व्यक्ति की रक्षा, अपने कुटुम्ब की सम्पत्ति की रक्षा या रिश्तेदारों तथा मित्रों की रक्षा के लिए की जाती है। किसी व्यक्ति को चोर, डकैत तथा युद्ध में अपने शत्रु से रक्षा करना पड़ती है। जैनधर्म कायरता की शिक्षा नहीं देता है; सेना में सिपाही के रूप में देश की रक्षा करना आवश्यक है। केवल इतनी रोक है कि अनावश्यक हिंसा में संलग्न न हुआ जाए। शत्रुता और बदला लेने की भावना से हिंसा न हो[9]।

हिंसा से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का परित्याग कर देना चाहिए। इनमें छोटे-छोटे बहुत से जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। गूलर, अंजीर, बड़, पीपल, पाकर; ये पाँच उदुम्बर फल हैं। इनके खाने में न केवल असंख्यात जीवों की हिंसा होती है, अपितु असंख्यात जीवों की भी हिंसा होती है, जिनसे ये फल भरे हुए हैं। मद्य में बहुत से जीवों का जन्म होता रहता है, जैसे कि मारे गए जानवर के ग़ोश्त या अपने आप मरे हुए जीवों के मांस में हिंसा जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। जीवन का प्रत्येक विनाश दया का भी विनाश करता है। शहद को भी नहीं खाना चाहिए। केवल इसके इकट्ठा करने में ही हिंसा नहीं, अपितु इसमें बहुत संख्या में अदृश्य होते हैं। मद्य पीने वाले के मन को मोहित कर देती है। इसके बनाते समय वस्तुओं को गलाने में हिंसा अनिवार्य है।

जो व्यक्ति शाकाहारी नहीं हैं, वे प्रायः यह युक्ति देते हैं कि चूँकि शाकाहारी वस्तुयें, फल,दूध आदि में भी हिंसा है अतः मांस खाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। यह स्मरणीय है कि शाकाहारी भोजन लेने पर एकेन्द्रिय जीव की हिंसा होती है, त्रस जीवों की हिंसा नहीं होती है। इस व्यावहारिक आवश्यकता हेतु जैन लेखकों ने जीवों का वर्गीकरण स्तर के अनुसार किया। यह वर्गीकरण इन्द्रियों और विकास के आधार पर

किया। उपर्युक्त युक्ति में इस बात को नजरंदाज किया गया है कि जानवरों के शरीर में अनेक त्रस और स्थावर जीव रहते हैं। सूक्ष्मदर्शन यंत्र से निरीक्षण करने पर यह बात प्रकट होती है कि यहाँ पर विस्तृत संख्या में जीवित जीव हैं। किसी जानवर को मारने में और यहाँ तक कि किसी मृत पशु का मांस खाने में कोई भी व्यक्ति बहुत सारे जीवों की हिंसा से बच नहीं सकता है। शाकाहारी भोजन करने पर ऐसा नहीं होता है, जहाँ पर कि हिंसा कम से कम होती है, वह भी एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा होती है।

जैनधर्म धर्म के नाम पर देवताओं को यज्ञ में मारने या आदर देने हेतु अतिथियों को मांसाहार कराने का भी निषेध करता है। किसी व्यक्ति को शेर, बाघ, साँप आदि भी नहीं मारना चाहिए, चाहे वे दूसरों को हानि पहुँचाते हों। यह स्वीकार किया जा चुका है कि ये जानवर उन प्राणियों को कोई हानि नहीं पहुँचाते हैं, जो उन्हें उकसाते नहीं हैं या उन्हें हानि पहुँचाने के लिए धमकाते नहीं हैं। पशु जगत् में मनुष्यों की अपेक्षा संकल्पी हिंसा नहीं है। पशु बहुत दयापूर्ण व्यवहार करते हैं तथा साथ-साथ रहते हैं। किसी को मारना भयावह है, क्योंकि समस्त प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है। अब यह पाया गया है कि जंगली चिड़ियाँ तथा पशुओं का उद्देश्य भी सेवा है, अतः सरकार और मानवीय संगठनों ने वन्य पशुओं के संरक्षण के लिए आंदोलन चलाया है। प्राणियों का कष्ट या आपत्ति के समय इस आधार पर मारना कि वे कष्ट और यातना से मुक्त होंगे, यह भी हिंसा है। इस प्रकार के मामलों में चिकित्सकीय सहायता देना चाहिए, सेवा करना चाहिए।

सुख तथा दुःख अपने निजी कर्मों के फल हैं जो कि पहले प्राप्त किये थे। मारने का कार्य विधेयात्मक रूप से हानिप्रद है क्योंकि इससे जानवरों को बहुत दुःख होता है। यह दुःख बीमारी या चोट लगने से नहीं होता है। मारने वाले के बुरे कर्मों का बंध होता है, मारना एक पाप है क्योंकि समस्त प्राणी सुखी रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। दया समस्त प्राणियों की परोपकारी माँ है। समन्तभद्र ने कहा है कि अहिंसा के पाँच अतिचार हैं। वे हैं- छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण और आहारवारण[10]। ये व्रतों की पवित्रता को प्रभावित करते हैं; जितना कि ये पाँचों कार्य मनुष्यों को पीड़ित करते हैं जैसे कि सेवक तथा पशु। छेदन का अर्थ होता है कान, नाक या कोई अंग का किसी तीक्ष्ण शस्त्र-तलवार, कुल्हाड़ी और दराती या हँसिया से छेदा जाना है। यह पेड़ों या पेड़ की डालों के व्यर्थ काटने में प्रयुक्त होते हैं। यह एक धोखापूर्ण कार्य होता है जो कि लापरवाही से होता है या सजा के रूप में होता है। बन्धन का अर्थ है मनुष्य या जंगली

जानवर को बाँधना। जैसे-पशुओं को बाँधना। घोड़े, कुत्ते और दूसरे पशु जो गृहकार्य में प्रयुक्त होते हैं उन्हें बाँधना। यह सिद्धान्त अनुसरित होना चाहिए कि बन्धन सापेक्ष होता है। यह तोते, पालतू चिड़ियों आदि को पिंजड़े में डालने से होता है। अपराधी व्यक्तियों को जंजीर से बाँधना, हाथ बाँधना या रस्सी से पैर बाँधना या जो आवश्यक है; उससे अधिक रोकने के लिए बाँधना ताकि वे भाग न जायें; ये अतिचार हैं। पीड़न एक अतिचार है जैसे कि मनुष्य और जानवरों को रस्सी, कोड़ा, छड़ी आदि से कूटना या सेवकों आदि को लात मारना। यह सब इस व्रत के अतिचारों में आता है। अतिचार वहाँ होता है जहाँ पर कार्य क्रूर होता है। अतिभारारोपण का मतलब होता है बैलों पर अधिक या घोड़ों या उनके द्वारा ले जाये गये वाहनों पर बहुत अधिक भार लादना। यहाँ तक कि सेवकों को अत्यधिक रूप से भार युक्त करना जितनी कि उनकी सामर्थ्य है यह अतिचार है। जितनी जिसकी सामर्थ्य है उससे अधिक मनुष्यों और पशुओं पर अधिक भार डालना। यह अतिचार का संक्षेप है। आहार-मनुष्यों तथा पशुओं को आहार और पानी रोकना है। यदि यह रोक चिकित्सकीय आधार पर नहीं है तो वहाँ आहार या पानी न देकर भूखा रखना, जबकि उनको आवश्यकता हो; वह अतिचार में सम्मिलित होता है। इस बात पर जोर देना चाहिए कि अहिंसा निषेधात्मक नहीं है। यह दूसरे शब्दों में दया या कृपा है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में यह समस्त प्राणियों की परोपकारिणी है। उनके लिए अमृत है जो मुसीबत में हैं घूमते हैं। जन्म-मरण के समुद्र में घूमते हैं। यह विधेयात्मक हिंसा करुणा दान या अभय दान के रूप में व्यक्त की गयी है। इसमें समस्त प्राणियों की रक्षा की जाती है। आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि अहिंसा सबसे बड़ा सुख है। उन्होंने कहा है कि-''अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं''। हिंसा के परिणाम दारुण वेदना तथा इस संसार में तिरस्कार करना है। जो हिंसा करता है वह सदैव विक्षुब्ध तथा दुःखी रहता है तथा विद्वेष से युक्त होता है। वह दुःखी होता है। कभी-कभी जेल में जाता है अतः प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा से बचना चाहिए तथा समस्त प्राणियों के प्रति परोपकारी होना चाहिए तथा गुणीजनों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए एवं जो दुःखी हैं उनके प्रति करुणा और सहानुभूति होना चाहिए एवं सहिष्णुता के वातावरण की उसकी भावना होनी चाहिए। जो उद्धत हैं या जिनका व्यवहार अच्छा नहीं है उनके प्रति सहिष्णुता होना चाहिए। व्रतों का पालन; जो व्यक्ति इस प्रकार जीवन में व्यवहार करता है वह अहिंसा का अभ्यास करने के योग्य होता है। तथा दूसरे व्रतों की पूर्णता का अभ्यास करता है[12]। इस प्रकार के विधेयात्मक गुण अहिंसा व्रत को पालन करने वाले को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ की भावना समस्त प्राणियों के प्रति रखनी

चाहिए। जैसा कि आचार्य उमास्वामी ने कहा है समस्त प्राणियों के प्रति दया उतनी ही[13] अमूल्य है तथा उसका प्रभाव चमत्कारपूर्ण है जैसे चिन्तामणि रत्न; ऐसा आचार्य सोमदेव[14] ने कहा है।

सत्य - सत्य का लक्षण करना कठिन है यद्यपि इसकी प्रकृति समझने योग्य है। आचार्य उमास्वामी का कहना है कि जो प्रशंसनीय नहीं है वैसा कथन करना असत्य है[15] इस पर टीका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जिससे कष्ट पहुँचता है या मुसीबत आती है, उस कार्य को प्राणियों को मरना प्रशंसनीय नहीं है। शब्द जिनसे हिंसा होती है उन्हें असत्य कहा है। समन्तभद्राचार्य का कहना है कि जो व्यक्ति स्थूल, असत्य नहीं बोलता है तथा दूसरों को असत्य बोलने का कारण नहीं होता है तथा ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है कि अपने को या पर को खतरे में ले जाय, इसको स्थूल असत्य से बचना कहते है[16]। आचार्य अमृतचन्द्र ने सत्य की निषेधात्मक दृष्टि दी है, उनके अनुसार मन, वचन और काय की क्रिया के द्वारा गलत वचन कहना असत्य है।

असत्य चार प्रकार का होता है। किसी वस्तु की जो स्थिति है उसके अस्तित्व का, समय का और प्रकृति का निषेध करना।

उस वस्तु के विषय में सन्दर्भ सहित निश्चित रूप से कहना; जो कि अस्तित्वशील न हो।

जहाँ पर एक वस्तु कुछ होने के लिए उपस्थित हो, उसका अपनी वास्तविकता से हीन होना, जैसे जब एक घोड़े को गाय कहा जाता है।

4. सावद्य (पापपूर्ण) तथा अप्रिय कथन जो प्रमाद के योग से प्रयुक्त किया जाए वह असत्य है। चुगली करना, कठोर वचन बोलना, अभिप्राय रहित होना या अनैतिक वचन रहना इसी के अन्तर्गत है। वह कथन जो दूसरे को चीरफाड़ करने में लगाये, मारने में लगाये, चीरने में लगाये इत्यादि या जो जीवन को विनाश की ओर ले जाय वह पापपूर्ण (सावद्य) है। अप्रिय वचन कहना; जो कि सरलता से रहित होने के कारण दुःख पूर्ण हो। समस्त अप्रिय वाक्य; शत्रुता, दुःख तथा पीड़ा, दूसरों के प्रति सरलता से रहित होना, परिवेदना इत्यादि असत्य हैं। असत्यता में दूसरों के प्रति हिंसा निहित है। सार युक्त बिन्दु यह है कि वचन के पीछे इरादा क्या है कि जहाँ पर एक साधु या गुरु बुरे कार्यों या जीवन की प्रश्नात्मक आदतों के विषय में अच्छी सलाह देते हैं वहाँ कोई व्यक्ति गलत वचनों में संलग्न नहीं रह सकता। यद्यपि जो व्यक्ति प्रभावित है वह व्यक्ति शर्म महसूस कर सकता है। आचार्य उमास्वामी का कहना है कि एक व्यक्ति जो कि सत्यवादी

होना चाहता है, उसे क्रोध, लोभ, कायरपना, भीरुता, हँसी, दिल्लगी छोड़ देना चाहिए और किसी के प्रति आरोप रहित वचन (अनुवीचि भाषण) बोलना चाहिए। यदि सन्दर्भ के समय आवश्यकता हो तो इरादापूर्वक दूसरे पर आरोप सहित शब्द बोलने में कोई प्रयत्न नहीं करना[17] पड़ता । आचार्य सोमदेव ने सत्य के अंश जो कि असत्य से मिश्रित हैं उनमें भेद किया है जैसे कि कभी-कभी हम सत्य को असत्यता के साथ में पाते हैं। उन्होंने कहा है कि किसी की गुप्त बातों को प्रकट करना, मिथ्यावाद, चुगली, जालसाजी तथा झूठी कसम खाना; ये सत्य बोलने में बाधाएँ हैं। उन्होंने अतिशयोक्ति, दोष निकालना तथा बुरे वाक्य का निषेध किया है और सलाह दी है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव जो अच्छा लाभप्रद और संक्षिप्त हो; ऐसा वचन बोलना चाहिए। दूसरों के गुणों के विषय में गप्प मारना, ईर्ष्या रखना तथा जो कुछ भी होश में नहीं कहा गया है उसके तरफ ध्यान दिलाना। ये असत्य है[18]।

सत्य के पाँच अतिचार हैं। जिन्होंने सत्य बोलने का नियम लिया है उन्हें इन व्रतों का परिपालन करने के प्रति आचार्य समन्तभद्र ने सजग किया है। गलत (परिवाद) सलाह को छोड़ देना। अच्छे चरित्र के नियम छोड़ देना ये पहले प्रकार का अतिचार है। विश्वास के मामले में मनुष्य को गलत मार्ग पर ले जाना या इस प्रकार का चारित्र बहुत आपत्तिपूर्ण है, अतः उसे छोड़ देना चाहिए। मनुष्यों को विश्वास के मामले में गुमराह करना या वैसा व्यवहार करना उससे बचना चाहिए। दूसरों की गुप्त बात को प्रगट करना तथा गुप्त बात प्रतिज्ञा को तोड़ देना; यह सब असत्य है। विश्वसनीय बातों को प्रकट कर देना जिसे दूसरा सुन सके, वह इसी प्रकार आपत्तिजनक है। दूसरे के प्रति शून्य रखना, दूसरे की कमजोरियों के प्रति संलग्न रहना, इसमें संलग्न नहीं रहना चाहिए। इसमें प्रतिष्ठा की हानि होती है। छलकपट करने (कूटलेखकरण) को आचार्य सोमदेव ने चौथे प्रकार का अतिचार बताया है। इसमें जाली खाते रखना तथा दूसरों के विषय में गलत प्रचार करना सम्मिलित है। विश्वासघात करना तथा धन का अनुचित उपयोग करना धरोहर नहीं देना (न्यासापहार) है।

यह सत्य का पाँचवाँ अतिचार है। कई अवसर आते हैं जब मनुष्य अपने गहने या नकदी को विभिन्न परिस्थितियों में दूसरों पर विश्वास करके उनके पास इस आशा से देते हैं जो कि जब आवश्यकता होगी तब उन्हें दे देंगे। इस प्रकार की जमा राशि को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से निषेध कर देना असत्य का कार्य है। आर.विलियम्स ने कुछ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों का संदर्भ दिया है तथा सत्य के प्रकारों का वर्गीकरण किया है-

1. जो कुछ है उसका निषेध करना।

2. जो कुछ नहीं है उसकी स्थापना करना।

3. किसी वस्तु के वास्तविक रूप के स्थान पर दूसरे रूप को उपस्थित करना तथा अनुवीचि भाषण जो व्यवहार कुशलता से रहित हो, चोट पहुँचाने वाला हो, मान करने वाला हो तथा हानिप्रद क्रियाओं को प्रोत्साहित करने वाला हो; उस प्रकार की सलाह देना[19], जिसमें चोरी करना या किसी को मारना निहित हो। उन्होंने हरिभद्र द्वारा निर्दिष्ट दूसरे अतिचारों के विषय में विचार किया है। सिद्धसेनगणि तथा दूसरों ने जो कुछ संक्षेप रूप में वर्गीकरण किया है। बिना किसी प्रकटीकरण के या जिन दोषों का अस्तित्व नहीं है वैसे आरोप लगाना, दूसरे पर आरोप लगा करके अड़ जाना, किसी की स्त्री ने जो कुछ विशेष परिस्थितियों में जो विश्वसनीय बात कही है, विशेष परिस्थितियों में जो दूसरों ने कहा है, भेद खोलना। इस प्रकार के वचन बोलना, कहना जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। दूसरों की मोहर का प्रतिरूप बनाना और दूसरों के विषय में वह आरोपण करना जो वास्तविक रूप में नहीं कहा गया हो तथा ईर्ष्या के कारण जहाँ भेद किया गया हो या दूसरे ने जो कुछ कहा हो, उसके गुप्त उद्देश्य का अनुमान करके संकेत के द्वारा या चेहरे के भावों से व्यक्त कर देना[20]।

जैनधर्म में असत्य को हिंसा का रूप कहा है। असत्य यहाँ पर और अगले जन्म में अन्तहीन दुःख लाता है। एक झूठ बोलने वाला होता है। सत्य की सदैव जीत होती है। अतः प्रत्येक को वह आदर्श स्वीकार करना चाहिए। झूठ कभी इसके लिखने वाले को जेल में ले जाता है तथा यह सम्पत्ति को भी कृपालु नहीं होता है तथा हानि पहुँचा सकता है।

अचौर्य (चोरी नहीं करना)- आचार्य उमास्वामी ने उस वस्तु को लेना, जो कि दी गयी नहीं है; चोरी कहा है। वह वस्तु लेना, कोई वस्तु लेना जो नहीं दी गयी है; उसकी चोरी में गणना की गयी है। आचार्य समन्तभद्र ने एक विस्तृत परिभाषा दी है। चोरी से बचने का व्रत इस बात पर निर्भर है कि उस वस्तु को लेना जो दी नहीं गयी है, जो वस्तु भूमि में छिपायी गयी है या किसी के द्वारा गिर गयी है या कोई भूल गया है। दूसरे शब्दों में स्थूल रूप में अचौर्य है; जो सम्पत्ति को न ले जाने से सम्बन्धित है जो कि उसके मालिक के द्वारा दी नहीं गयी है। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चोरी का हिंसा से सम्बन्ध है; क्योंकि सम्पत्ति का लेना जो कि दी नहीं गयी है, वह केवल विचारों की पवित्रता की हिंसा नहीं करती है बल्कि जो व्यक्ति

सम्पत्ति से वंचित हो गया है उससे भी सम्बन्धित है। यदि चोरी पकड़ी गयी तो जेल हो सकती है। जो वस्तु दूसरों से सम्बन्धित है उसमें प्रमाद का योग है और कषाय से उद्भूत क्रिया का प्रयोग है। दूसरे की सम्पत्ति को लेने की इच्छा जो कि उसकी सहमति के बिना ली गयी है वह जीव की आध्यात्मिक मलिनता से संबंधित है। एक गृहस्थ को किसी के निजी कुएँ से जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक कि उसके मालिक की स्वीकृति न ली जाय। इस प्रकार की कठिनाई सार्वजनिक सड़कों के विषय में उत्पन्न नहीं होती है जो कि जनता के उपयोग के लिए समर्पित है।[21] आचार्य सोमदेव ने यह बात जोड़ी है कि जो अचौर्य व्रत को ग्रहण करते हैं उन्हें दूसरे की वस्तु नहीं लेनी चाहिए चाहे वह वस्तु किसी घर में हो या गली में या जल में हो या लकड़ी में हो या पहाड़ी पर हो। खानें तथा छिपा हुआ खजाना राजा का होता है। यद्यपि उसका अज्ञान मालिक हो सकता है[22]। यह दृष्टि हमारे देश के आधुनिक नियम के अनुरूप है। दूसरे व्रतों के समान अचौर्य के भी पाँच अतिचार हैं। जो चोरी स्वयं नहीं करता है किन्तु दूसरे को चोरी के लिए प्रेरित करता है या चोरी का मार्ग दिखाता है, तब वह चोर्य प्रयोग का अपराधी है। चोरी हुई वस्तु को लेना दूसरे प्रकार का अतिचार है। चौरार्था दान तीसरे प्रकार का अतिचार विलोप कहलाता है; जब एक व्यक्ति लुकछिपकर किसी वस्तु को बेचकर नियंत्रण के नियम का उल्लंघन करता है तथा जो राज्य लागू किये हैं, उन प्रतिबन्धों का उल्लंघन करता है। सदृश सम्मिश्रण- किसी अधिक मूल्य वाली वस्तु में कम मूल्य वाली वस्तु मिलाना, ताकि गैर कानूनी रूप से प्राप्त हो तथा उसे बेचा जा सके। जैसे घी के साथ पामोलिन या शाकाहारी चिकनाहट मिलाना या मक्खन के साथ चिकनी वस्तु को मिलाना। चौथे प्रकार का अतिचार हीनाधिकमानोन्मान है, इसमें झूठे मापतौल वगैरह से तौलना आता है। उदाहरण के लिए वस्तुओं को खरीदते समय भारी बाँटों का प्रयोग करना तथा अपनी वस्तु बेचने के लिए कम वजन के बाँट रखना[23]।

अचौर्य का व्रत तब तक पूर्ण नहीं हो सकता या उसमें ईमानदारी नहीं हो सकती जब तक एक बेचने वाला अध्ययन करके सन्दिग्ध रणनीति का आश्रय लेने से नहीं बचता। आजकल मिलावट बहुत सामान्य हो गयी है। अतः यह सम्भव नहीं है कि किसी भी खाने की वस्तु या दवाई को बिना उसके कमदान वाली वस्तु के मिलावट के प्राप्त की जा सके। मिलावट तथा मिथ्या बाँटों का प्रयोग करना; व्यापार का सामान्य व्यवहार हो गया है।

आर. विलियम्स ने इस व्रत के अतिचार श्वेताम्बर और दिगम्बरों के एक ही निर्दिष्ट किये हैं। वे आचार्य समन्तभद्र द्वारा किये गये निर्देश की पूर्ति करते हैं। वे हैं चोरी गये हुए माल को लेना (स्तेन आहृतादान), विरुद्ध राज्यातिक्रम, झूठे बाँट या माप का प्रयोग करना (कूट तुला कूटमान) सदृश कम दाम की वस्तुओं को समान वस्तुओं या अधिक दामवाली वस्तुओं में [24] मिलाना (प्रतिरूपक व्यवहार)।

ब्रह्मचर्य (कौमार्यव्रत)- चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य या कौमार्यव्रत आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि यह व्रत दूसरे की स्त्री के साथ यौन सम्बन्ध को छोड़ने पर निर्भर है तथा अपने ऊपर पाप लेने के डर से दूसरे को इस प्रकार का सम्बन्ध बनाने के लिए दुष्प्रेरित न करना है। एक व्यक्ति को उस स्त्री में सन्तोष रखना चाहिए जिसके साथ उसने बड़े लोगों तथा दूसरे लोगों की उपस्थिति में विवाह किया हो, उसे दूसरी स्त्रियों के प्रति यौन सम्बन्ध की इच्छा नहीं करना चाहिए या घूरना नहीं चाहिए[25] तथा उसे अपनी ही स्त्री में सन्तोष रखना चाहिए (स्वदार सन्तोष)। दूसरा निषेधात्मक पहलू है कि दूसरों की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखने से बचना[26] (परदारागमन वर्जन) चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र निश्चित रूप से इस दृष्टि के हैं कि मैथुन में चारों ओर से हिंसा होती है। उन्होंने एक उदाहरण गरम नली का दिया है जिसमें तिल भरे हुए हों, जिसमें कि वे सारे बीज जल जाते हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक मैथुन में बड़ी तादाद में जीव मर जाते हैं जो कि लगातार योनि में उत्पन्न होते रहते हैं। काम से प्रेरित होकर प्रत्येक यौन सम्बन्ध में हिंसा होती[27] है। यह सभी लेखकों ने स्वीकार किया है कि एक गृहस्थ को अपनी ही स्त्री में सन्तुष्ट होना चाहिए। यदि वह इस व्रत का पालन करना चाहता है तथा यौन इच्छाओं का प्रयोग करने से बचता है तो उसे यौन इच्छाओं के साथ दूसरों की स्त्रियों के साथ में विनोद करना छोड़ना पड़ता है।

स्त्री के साथ मनोविनोद करना दुःख के स्वभाव में लग जाना है क्योंकि बुखार की तरह से यह सन्निपात लाता है तथा शरीर को थका देता है। भावावेश में मिलन से होने वाला आनन्द सही सन्तुष्टि नहीं दे सकता। समस्त ऐन्द्रियिक सम्बन्ध को निन्दा के लिए दो कारण बतलाये हैं। नैतिक दृष्टि से भावावेश में आने के कारण से आत्मा को नैतिक अभिप्राय तथा जीव की शान्ति में व्यवधान हो जाता है; क्योंकि प्रेम और घृणा की भावनाएं बढ़ जाती हैं और एक शारीरिक अभिप्राय में जो काम किया है वह सदैव हिंसायुक्त[28] होती है। हेमचन्द्र ने वात्स्यायन कामसूत्र से इस अंतिम दृष्टि का समर्थन किया है कि जैनधर्म में बहुत प्राचीनकाल से अगम्यागमन की भयानकता का वर्णन पाया[29] जाता है।

इस के पाँच अतिचार हैं, जिनका समन्तभद्राचार्य ने उल्लेख किया है-1. गृहस्थ को दूसरों के बच्चों की शादी करने से बचना चाहिए? अन्य विवाहकरण एक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों की शादी का प्रबंध करें। इसमें कोई दोष नहीं है। 2. अनङ्गक्रीड़ा- कामसेवन से भिन्न अंगों के द्वारा कामक्रीड़ा करना। 3. विटत्व-खोटे वचन बोलना। 4. विपुलतृषः- काम की तीव्र अभिलाषा, और 5. इत्वरिका गमन- व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखना; ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार हैं।

समस्त जैन दार्शनिकों ने एक राय से ब्रह्मचर्य व्रत के खण्डित होने की निंदा की है इससे भिन्न-भिन्न प्रकार के पाप लगते हैं। यह किसी के विरुद्ध पाप है; क्योंकि इसका परिणाम शारीरिक शक्ति की हानि ही नहीं है किन्तु यह दूसरे भिन्न-भिन्न प्रकार के पापों का भी नेतृत्व करता है। यह समाज के विरुद्ध एक पाप है क्योंकि यह सामान्य नीतिशास्त्र में बाधा पहुँचाता है। यह घरेलू जीवन की शांति के लिए और पारस्परिक विश्वास के लिए आवश्यकता है। जो पुरुष या स्त्री व्यभिचार में रत रहती है वह विभिन्न प्रकार के मायापूर्ण कार्य में संलग्न होती है जिससे दूसरे सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

धर्म के राज्य में मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपनी कामुक इच्छाओं के प्रति संयमी होता है। अतः किसी व्यक्ति को अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष धारण करना तथा दूसरे की पत्नियों को अकेला छोड़ देना चाहिए तथा अन्य स्त्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। अध्ययन ध्यान तथा गुणों का अभ्यास मनुष्य के मन में जागृत हुई कामुक अभिलाषा को[31] रोकता है।

अपरिग्रह- वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा भाव रखना परिग्रह है- मूर्च्छाः परिग्रहः[32]। बहुत सारी सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा रखना तथा जमीन, घर, पशुशाला, स्वर्ण, रजत तथा नगदी ये सब मनुष्य और स्त्रियों में होना प्राकृतिक है लेकिन यह इच्छा अभिप्राय रहित नहीं होना चाहिए। इन परिग्रह की वस्तुओं के प्रति सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के योग्य होता है। मूर्च्छा या किसी भी प्रकार का लगाव बुराई का स्रोत है। सम्पत्ति की रक्षा में व्यक्ति हिंसा का आश्रय लेता है और असत्य का आश्रय लेता है। वस्तुओं की इच्छा एक बुराई है जबकि उन पर नियंत्रण न हो; इस प्रकार की बुराई से मुक्त होने के लिए अपनी इच्छा से सम्पत्ति की सीमा और धन की सीमा होनी चाहिए। किसी व्यक्ति को समस्त क्रियाएं और प्राप्तियाँ जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है तब तक सीमित रखना चाहिए; इसे इच्छा परिणाम व्रत भी कहते हैं।

अमृतचन्द्र सूरि ने परिग्रह को आसक्ति के रूप में परिभाषित किया है। यह मोह का फल है तथा मोहकर्म की क्रिया है। समस्त रागात्मक अभिप्राय को छोड़ना अपरिग्रह है। परिग्रह या वस्तुओं, सम्पत्ति के प्रति राग रखना दो प्रकार का होता है-1. बहिरंग 2. अन्तरंग। पहले का सन्दर्भ माल को यथार्थ रूप में रखना या गुलाम सेवक तथा पशुओं के झुंडों के रूप में सचेतन परिग्रह को रखना आन्तरिक परिग्रह है। यह 14 प्रकार का होता है- 1. मिथ्यात्व 2. स्त्री के साथ यौन का आनन्द लेना (स्त्री वेद), 3. यौन सम्बन्ध के लिये उकसाना 4. पुरुष के साथ काम सम्बन्ध के लिए उकसाना (पुंवेद), नपुंसक के साथ काम का आनन्द के लिए उकसाना 5. हास्य 6. रति 7. अरति 8. शोक 9. भय 10. जुगुप्सा 11. क्रोध 12. मान 13. माया 14. लोभ।

यद्यपि आर. विलियम ने यह विचार रखा है कि इन सबका व्रत के साथ में विचार करना यथार्थ में असामयिक[33] है। मेरा विचार यह है कि वे सब सामयिक हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि किस प्रकार जीव की शुद्धि अनेक प्रकार की प्राप्ति से प्रभावित रहती है। वस्तुओं को पास में रखना तथा सम्पत्ति में आनन्द लेना और उसकी रक्षा करना चाहे, वह सचेतन हो चाहे अचेतन; ये सब बहिरंग परिग्रह हैं।

राग जो कि परिग्रह का स्रोत है, वह सघनता के आधार पर विविध प्रकार का होता है। स्त्री सेवकों को रखना या उन्हें दासी बनाकर रखने में यौन भावनायें बढ़ सकती हैं तथा तदनुसार संलग्न होने की इच्छायें, हास्य तथा दुःख भी बढ़ सकते हैं। दूसरी मानसिक स्थितियाँ, जिनका निर्देश आन्तरिक परिग्रह में किया है, उनकी गणना विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति या रक्षा के अन्तर्गत हो सकती है। जबकि लोभ, माया और मान परिग्रह के इकट्ठे करने की प्यास से संबंधित है। भय क्रोध या अवसाद तब उद्भूत होता है, जबकि कोई वस्तुओं के साथ हिस्सा लेना चाहता है।

बाहरी परिग्रह का उद्देश्य अचल सम्पत्ति का रखना होता है जैसे-मकान, जमीन, चल सम्पत्ति जैसे-स्वर्ण, चाँदी, सिक्के, आभूषण, वस्त्र, बिस्तर, फर्नीचर की वस्तुयें, खाद्यान्न तथा सजीव और अजीव वस्तुयें जैसे- जीवन निर्वाह की वस्तुयें तथा स्त्री और पुरुष सेवक। सचित्त और अचित्त वस्तुओं के आधार पर वस्तुओं की प्रकृति में भेद है।

व्रत का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने आप पर वस्तुओं की प्रकृति, परिग्रह की सचित्तता और अचित्तता के आधार पर रोक लगानी चाहिए, ताकि उसके लोभ पर नियंत्रण हो सके। प्रव्रज्या जीवन का सही मार्ग है, किन्तु इसका अनुसरण प्रत्येक के लिए संभव नहीं है, जबकि प्राप्तियों पर अपने द्वारा आरोपित सीमितता की आवश्यकता है।

यदि कोई अपने ऊपर सीमितताओं को आरोपित करना चाहता है तो उसे अतिचार न लगने का व्रत लेना चाहिए, जो कि पाँच प्रकार के हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 62वें पद्य में अतिचार गिनाए हैं। वे हैं- अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ तथा अति भारवाहन। अतिवान-पशुओं को अधिक दूर तक ले जाना- जैसे बैल, घोड़े आदि को अधिक दूर तक ले जाना, यह अतिलोभ के कारण रुपया बचाना या समय बचाने के लिए किया जाता है। दूसरा अतिसंग्रह है-यह अधिक खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं की जमाखोरी से संबंधित है। इसमें यह आशा रहती है कि अधिक लाभ हो। यह भी लोभ का कार्य है; क्योंकि इसमें वस्तुओं की अल्पमात्रा होने का लाभ लिया जाता है। अति विस्मय का सम्बन्ध है कि अपने और दूसरे देश में दूसरे व्यक्तियों के द्वारा धन का अधिक संग्रह होने से उत्पन्न हताशा। यह मात्र आश्चर्य का अनुभव या हताशा है। या तो यह अपने निजी विचारों से होती है या उन विचारों के कारण होती है, जो कि दूसरे व्यक्तियों ने व्यक्त किए हैं। अतिलोभ का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न आदान-प्रदान में अतिलोभ तो है। दूसरी जगह वस्तु के कम दाम में उपलब्ध होने पर अधिक मूल्य बसूल करना यह इस प्रकार का अतिचार है। अन्तिम अतिभार वाहन है। यह पशुओं पर अधिक भार ले जाना है ताकि कम मूल्य पर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके। ये अतिचार अधिक रूप में व्यापारियों के मामले के हैं, जो कि अपना व्यापार पूरी तरह से लाभ के लिए करते हैं। ये नैतिक नियम व्यक्तियों के लिए चेतावनी हैं, जिन्होंने कि परिग्रह परिमाण का व्रत लिया है।

आचार्य तुलसी अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्गत तीन सिद्धान्तों के आधुनिक व्याख्याकार रहे हैं। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि अहिंसा के द्वारा मात्र व्यक्तिगत समस्याओं को ही नहीं सुलझाया जा सकता है, अपितु युद्ध और शांति की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को भी सुलझाया जा सकता है। आधुनिक जीवन की सभी बुराईयाँ, जैसे- कालाबाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी तथा अनुमति प्राप्त न करने की, पाँच व्रतों का पालन करने से सुलझाई जा सकती हैं, जो कि मानवधर्म के रूप का निर्माण करता है। उन्होंने इस प्रकार की पुस्तकें छपवाईं और पर्चे वितरित किए जिनसे कि प्रत्येक व्यक्ति/मानव अपनी प्रत्येक जीवन समस्या तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें व्यक्तिगत नैतिक उत्थान के स्तर पर सुलझा सकता है। अपरिग्रह व्रत का प्रभावशाली पालन करने से पूँजीवाद बनाम साम्यवाद की समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। अहिंसा की उचित समझ तथा अभ्यास मनुष्यों के अन्दर के मायाचार और घृणा को मनुष्य के हृदय से दूर

कर सकता है; क्योंकि उनके अन्दर विश्व- युद्ध के बीज हैं। महात्मा गांधी पहले से ही सिद्ध कर चुके हैं कि अहिंसा तथा सत्य की प्राप्ति विश्व की सर्वाधिक शक्तियों के मध्य भी हो सकती है।

अष्ट मूलगुण - समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि श्रावक के अष्ट मूलगुण में पाँच अणुव्रत तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग आ जाता है।[34] मैंने पहले से ही पाँच अणु व्रतों की व्याख्या की है तथा मन की शुद्धि, विचारों की शुद्धि और क्रिया की शुद्धि के लिए उनका महत्त्व बताया है।

कुछ लेखकों ने कहा है मूलगुणों में पंच उदुम्बर फलों का त्याग तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग आता है। जब अहिंसाव्रत के विषय में कह रहे थे तो इन आठ वस्तुओं के त्याग के विषय में बतलाया था। पाँच प्रकार के उदुम्बर फल हैं-ग्लर, कठूमर, बड़, पीपल तथा पाकर। इनमें अच्छी तरह से दिखाई देने वाले जीव पाये जाते हैं। समय-समय पर ये जीव मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनके छोटे बीज में छोटे-छोटे जीव पाये जाते हैं, जिन्हें अलग करना संभव नहीं होता है। मद्य का निषेध इसलिए किया है; क्योंकि यह व्यक्ति को मोहित कर देती है जो कि इसका पान करते हैं तथा स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर डालती हैं। शराब बनते समय असंख्यात जीव शराब में बदल जाते हैं। शराब समस्त जीवधारियों की जड़ के रूप में इंगित की गयी है। यह मन को मोहित कर देती है तथा बुद्धि को भी प्रभावित करती है। जब एक मनुष्य पूरी तरह से पिए हुए होता है तो वह अपने द्वारा किये हुए समस्त पापों के लिए जिम्मेदार होता है। आचार्य सोमदेव ने कहा है कि यादवों के विनाश के लिए मद्य कारण थी। जिस प्रकार से पांडवों के विनाश के लिए जुआ खेलना। यदि मद्य की एक बूँद के जीव सारे लोक में फैला दिये जाएं तो वे लोक को भर सकते हैं[35]।

मैंने उस आधार के विषय में पहले ही कहा है जिस पर मद्यपान का निषेध किया गया है। आचार्य सोमदेव ने इस बात पर आश्चर्य किया है कि किस प्रकार से मनुष्य अपने मांस को बढ़ाने में दूसरों के मांस का उपयोग करते समय अपने कल्याण की आशा करते हैं जिस प्रकार से किसी व्यक्ति को अपने प्राण प्यारे है इसी प्रकार पक्षी तथा वन्य प्राणी अपने जीवन से प्रेम करते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को वन्य पशुओं का विनाश नहीं करना चाहिए[36]।

मद्यपान के विषय में आपत्ति इस आधार पर निर्भर है कि असंख्यात छोटे-छोटे अण्डाणु तथा जीव मधुमक्खी के छत्ते को तोड़ते समय मर जाते हैं। कुछ लेखकों ने

मक्खन को भी खाने की वस्तुओं के निषेध में सम्मिलित किया है। अभक्ष्य होने के कारण इसमें अदृश्य जीवों की उपस्थिति रहती है।

गुणव्रत- आचार्य समन्तभद्र ने जो गुणव्रत वर्णित किये हैं वे हैं-, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड व्रत तथा भोगोपभोग परिमाणव्रत। गृहस्थ को अपने क्रियाकलापों में रोकने के लिए इन्हें अपने ऊपर आरोपित करना चाहिए ताकि दूसरे व्रतों के अतिचारों के विषय में विचार किया जा सके। यदि उन अतिचारों को पूरी तरह से कम न कर सकें। इसलिए इन अतिचारों को छोड़ना वह व्रत है जो किसी व्यक्ति को अणुव्रतों का पालन करने में मदद करते हैं।

दिग्व्रत - दश दिशाएं पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उत्तरपूर्व, दक्षिणपूर्व, उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम, ऊर्ध्व दिशा तथा नीचे की दिशा। प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह से प्रसिद्ध वस्तुओं के विषय में एक-एक दिशा का परिमाण नियत कर लेना चाहिए तथा स्वयं ही यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वह उस सीमा का अतिक्रमण नहीं करेगा। इस प्रकार जो निर्धारित सीमाओं में अपनी क्रियाओं को सीमित करेगा; यह निश्चित है कि अहिंसा व्रत पालन करते समय वह अपने द्वारा निर्धारित सीमाओं के बाहर अहिंसाव्रत का पूरी तरह से पालन करेगा। वह अपने संयम का सभी मामलों में पालन करते हुए निर्धारित स्थान को सीमा से अधिक पार नहीं करेगा। ऐसा समय कभी नहीं आयेगा कि इनमें से एक भी व्रत भंग हो। जो कुछ सीमाएं इस प्रकार निर्धारित की हैं वे पूरे जीवन के समय के लिए निश्चित होती है या सीमित अवधि के लिए होती है। दिशाओं को सुनिश्चित करने के लिए वह अपने व्यवसाय की आवश्यकताओं तथा प्रकृतियों का विवरण रखेगा। इस घटना में लोक की भी सीमा रहेगी।

वे पाँच मार्ग हैं जिसमें व्रतों के अतिचार हो सकते हैं-

1. जो सीमा स्वयं ऊपर की दिशा में निर्धारित की है उससे भी अधिक ऊपर की ओर घूमना (ऊर्ध्व दिग्प्रमाणातिक्रमण)। यदि एक व्यक्ति ने ऊपर नहीं घूमने का नियम ले रखा है तो वह व्यक्ति वृक्ष पर या पहाड़ पर नहीं चढ़ सकता है। वह व्यक्ति हवाई यात्रा नहीं कर सकता है। कोई भी ऊपर की ओर की गति जो कि उसकी सीमा के बाहर है वहाँ जाना अतिचार है।

2. जो नीचे की दिशा निर्धारित की है उससे अधिक गहराई में जाना। यदि किसी व्यक्ति ने सतह तक सीमा निर्धारित की है तो वह व्यक्ति न तो कुए में उतर सकता है न खान में उतर सकता है।

3. दश दिशाओं की सीमा से बाहर जाना वह तिर्यकदिग् प्रमाणातिक्रम है। यह अच्छी तरह जानी गयी सीमा हो सकती है जैसे नदी और पहाड़ या योजन मील या दूसरे प्रकार माप हो सकती है यदि जानबूझ करके इसका उल्लंघन किया गया तो यह व्रत भंग कहलायेगा । यदि यह भूल से या अज्ञान से किया गया है तो यह केवल अतिचार है।

4. चौथे प्रकार के अतिचार में क्षेत्रवृद्धि आती है। इसका सन्दर्भ सीमा को पार करने का प्रयत्न करना है। ऐसा और अपनी सुविधा के लिए करता है या मूल के कारण करता है।

5. जो कुछ नियम लिया है; जो कि नियमों की सीमा निर्धारित की है उसको भूल जाने के कारण पार करना (स्मृति अन्तराधान)।

2. अनर्थदण्ड व्रत- यह गुणव्रतों में दूसरा व्रत है दूसरा तात्पर्य होता है कि मन में किसी प्रकार के पाप को करने का विचार छोड़ना या पानी के द्वारा किये जाने वाले पाप को छोड़ना या दिशाओं के अन्दर से चारित्र की जो सीमा निर्धारित की है उसे बिना कारण छोड़ना। एक बार दिग्व्रत के अन्तर्गत जो सीमा निर्धारित हैं उन्हें छोड़ना वह ठीक नहीं है। इस प्रकार का कार्य करना पापपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को उस प्रकार के कार्य को छोड़ देना चाहिए जो उसके धर्म को मानने के कारण न हों। यह समस्त प्रकार की हिंसा के उपकरणों को या जो हिंसा के साधनों को ऐसे प्रयोग करने से रोकता है। किसी व्यक्ति को न ऐसे तो उपकरण चाहिए, न उस प्रकार के पशु रखना चाहिए जैसे मुर्गा, गिद्ध, बिल्ली जो हिंसा के साधन हैं जैसे विष, शास्त्र आदि। व्यक्ति को पापपूर्ण, गप्पे लगाना छोड़ देना चाहिए। बुरे विचार छोड़ देना चाहिए तथा वे खेल छोड़ देना चाहिए जिससे हिंसा या जीवन का विभाग हो।

आचार्य समन्तभद्र ने पाँच प्रकार के अनर्थदण्डों का वर्णन किया है-

1. पापोपदेश- उस प्रकार की सलाह देना जो कि जिसका फल पापपूर्ण कार्य है; इससे पशुओं तथा पक्षियों को दुःख होता है या पशुओं और पक्षियों का व्यापार करना। पशुओं और पक्षियों को पीटने की सलाह देना तथा किसी विशिष्ट स्थान पर उन्हें बाँध देना या उन पर अधिक भार लादना या उनके अंग काट देना या चिड़ियों को किसी कार्य में संलग्न करना; यह सब पाप में आता है। इस प्रकार वह सलाह नहीं देना जिससे व्यक्ति हानिकारक क्रियाओं में संलग्न हो जो क्रियाएं हिंसा को आगे बढ़ाती हैं। चोरी तथा झूठ बोलने का भी त्याग कर देना चाहिए।

2. हिंसादान का मतलब है इस प्रकार के शस्त्रों का दान करना जिनका प्रयोग करने से हिंसा हो जैसे-कुल्हाड़ी, तलवार, धनुष, बाण, चक्र , जंजीर, विष, अग्नि, ज्वलनशील पदार्थ, कोड़ा और बन्दूक आदि। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के शास्त्रों का बेचना या उधार देना अथवा किराये पर देना या हिंसा के उपकरण प्रदान करना।

3. अपध्यान का अर्थ होता है-दूसरों के प्रति की जाने वाली बुराइयों का पोषण करना। जैसे-मृत्यु, दुःख, आपदा जो कि दूसरों पर पड़ी है या उनके परिवार के सदस्यों के ऊपर पड़ी हो। इसके अन्तर्गत दूसरों के प्रति की गयी घृणा स्वयं में एक पाप है। इसके अन्तर्गत कामुक विचार भी आते हैं जो कि दूसरों की स्त्रियों के प्रति किये गये हैं। दूसरों के धन पर अधिकार कर लेना, दूसरों के प्रति षड्यंत्र करने में संलग्न रहना।

4. दुःश्रुति- का अर्थ होता है विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के साधनों के विषय सुनना या उसकी व्याख्या करना जैसे- सीखना, व्यापार करना, शिल्प कला, धन, शास्त्र इत्यादि जिनसे कि मिथ्या श्रद्धान उत्पन्न हो या अपने निजी श्रद्धान में संदेह करना; ये सब अनर्थदण्ड की श्रेणी में आते हैं।

5. प्रमादचर्या के अन्तर्गत अनावश्यक कार्यों में संलग्न रहना। जैसे-भूमि खोदना या पत्थर खोदना। जलती हुई अग्नि पर पानी फेर देना, वनस्पति काटना या हवा को छोड़ना या उद्देश्य रहित क्रियाएं। यहाँ तक कि अनावश्यक भ्रमण से भी बचना चाहिए। आर. विलियम्स ने उल्लेख किया है कि हेमचन्द्र ने दूसरी प्रयोजन रहित क्रियाओं को जोड़ा है, जिनसे अपने को बचाना चाहिए जैसे- नृत्य देखना, नृत्य का प्रदर्शन करना या नाटकों में उपस्थिति या उत्सुकता पूर्वक खुशी से संगीत सुनना, कामसूत्रों को पढ़ना, जलक्रीड़ा, फूलों को एकत्रित करना, मुर्गों की लड़ाई देखना आदि।

आचार्य समन्तभद्र ने अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार बतलाए हैं- 1. कन्दर्प- अशिष्ट भाषा में लगे रहना, जिससे काम भावना जागृत हो या अपने या दूसरों के प्रति मूर्च्छा हो। व्यक्ति को हँसी, दिल्लगी, घृणा और भाषा छोड़ देना चाहिए। 2. कौत्कुच्य- घृणास्पद कार्य में लगे रहना, जो कि बुरे विचार, वाणी और क्रोध से उद्भूत हों। 3. मौखर्य का अर्थ है- फूहड़, अभिप्राय रहित तथा व्यर्थ की बातों में लगे रहना। 4. अतिप्रसाधन- अधिक वस्तुयें इकट्ठा करना; जिनकी कि आवश्यकता है। श्वेताम्बर ग्रंथों के अनुसार यह अतिचार संयुक्ताधिकरण कहलाता है, जिसका अर्थ होता है, संयुक्त रूप से प्रतिदिन की आवश्यक क्रियाओं जैसे कृषि आदि में संलग्न होना।

4. असमीक्ष्याधिकरण का सम्बन्ध व्यर्थ की मानसिक या शारीरिक क्रियाओं से है, जैसे- पढ़ना, पद्यों का उच्चारण करना, जो कि क्रोध को बढ़ाए तथा इस प्रकार की कथाओं को कहना, जिनसे मानसिक शांति भंग हो तथा अनावश्यक आन्दोलन करना जैसे- वस्तुयें उठाना या फेकना या दौड़ना इत्यादि।

3. भोगोपभोग परिमाण- इस व्रत का सम्बन्ध उन भोग विलास की वस्तुओं के प्रयोग में कमी करना, जो कि सीमित हैं। जैसे- तेल का अत्यधिक प्रयोग, साबुन, फूल, पान-सुपारी, पत्तियाँ, खाद्य पदार्थों और पेय पदार्थों का प्रयोग; ये सब वर्जित हैं।

इस व्रत के दो प्रकार हैं- 1. एक का नाम नियम है, जिसके अनुसार व्यक्ति को प्रयोग तथा त्याग करते समय विशेष पेय और खाद्य पदार्थों की समय सीमा निश्चित करनी होती है। 2. दूसरा यम कहलाता है जिसमें जीवन में मनोविनोदों की वस्तुओं को छोड़ने की अपेक्षा होती है। इस व्रत के अन्तर्गत भक्त प्रतिदिन की एक या दो वस्तुओं का त्याग किसी विशेष दिन या सप्ताह के लिए करता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति मिठाई का प्रयोग करना छोड़ सकता है या विशिष्ट दिनों के लिए वाहन का प्रयोग करना छोड़ सकता है। इससे इच्छा शक्ति तथा आत्मसंयम बढ़ेगा।

इसके पाँच प्रकार के अतिचार हैं- अ. विषयविषतोअनुप्रेक्षा- जिसका अर्थ है विषय रूपी विष के प्रति प्रेम करने से रोकने में अनुत्तीर्ण होना। विषयों में आनन्द लेने से किसी व्यक्ति की प्यास इसके लिए बढ़ती है तथा इससे शरीर की शक्ति और मन की शुद्धि क्षीण होती है। अतः व्यक्ति को इसके लिए घृणा का विकास करना चाहिए। ब. अनुस्मृति-किसी व्यक्ति के मन में पूर्वकाल में भोगे गए भोगों की स्मृति होना। स. अतिलौल्य- अत्यन्त लोलुपता से या अधिकता से विषय भोगों में संलग्न होना। द. अतितृष्णा का अर्थ है भविष्य में विषयों के प्रति अत्यन्त पिपासा को बढ़ावा देना। ई. अनुभव एक मानसिक स्थिति का सन्दर्भ देता है, जिसके अनुसार कोई व्यक्ति विषय भोग के विचारों में आनन्द मानता है, जबकि तथ्यात्मक रूप में यह कुछ नहीं होता है।

सोमदेव के अनुसार जिन तीन व्रतों का ऊपर विवेचन किया गया है, वे प्रारंभिक रूप में आत्म संयम की रूपरेखा बनाते हैं, जिससे नैतिक शुद्धता सुरक्षित रहे तथा मन की शान्ति सांसारिक वस्तुओं के सम्बन्ध में स्थिर रहे। इसके लिए भक्त को अपना भोजन और प्रसन्नता की नियमितता की अपेक्षा रहती है। वे अहिंसा महाव्रत के पूरक होते हैं तथा भक्त को समस्त जीवों के प्रति प्रेम और स्नेह विकसित करने की शक्ति देते हैं।

शिक्षाव्रत- कार्य, भोजन तथा आमोद-प्रमोद; जो कि गुणव्रतों का उद्देश्य है, वह स्वयं अपने आप में मन की शुद्धि में पर्याप्त नहीं होता है तथा व्यक्ति की आत्मिक वृद्धि में योगदान करने में पर्याप्त नहीं होता है। यदि जीवन को अर्थपूर्ण होना है तो सम्यक्त्व तथा दीक्षा धारण करने का लगातार अभ्यास होना चाहिए। जब तक एक व्यक्ति की नैतिक और आत्मिक उत्तमता, लगन तथा कार्य दोनों में उत्तम है तब तक सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में वृद्धि नहीं हो सकती है। पाँच अणुव्रत प्रतिदिन के जीवन की बुराईयों का हल निकालते हैं तथा इसे विचारों तथा क्रियाओं की शुद्धि के साथ तीन गुणव्रत क्रिया, भोजन तथा प्रतिदिन के जीवन के आनन्द को रोकने का पाठ सिखाते हैं। शिक्षाव्रत मन को विस्तृत करते हैं तथा आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि के लिए निरन्तर अवसर प्रदान करते हैं। व्रतों का अभ्यास आध्यात्मिक प्रशिक्षण तथा अनुभव में एक पाठ हैं। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पर्याप्त होने में हमारे विश्वास को दृढ़ करता है। यह व्रतधारी को पवित्र जीवन तथा त्याग की शिक्षा देता है तथा एक संन्यासी के लिए कठिन जीवन की तैयारी की प्रेरणा देता है।

आचार्य समन्तभद्र ने चार शिक्षाव्रतों के क्रम का इसप्रकार वर्णन किया है- 1. देशावकाशिक 2. सामायिक 3. प्रोषधोपवास, तथा 4. वैयावृत्य[37]। जैन योग से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र तथा पं. आशाधर जी को छोड़कर समस्त आचार्यों ने सामायिक को शिक्षाव्रतों में पहला स्थान दिया है।

1. देशावकाशिक- इस व्रत की प्रकृति से मुझे यह प्रतीत होता है कि यह दिग्व्रत का एक दूसरा पहलू होगा। यथार्थ में आचार्य उमास्वामी तथा आचार्य वसुनन्दी ने इसको गुणव्रत के रूप में माना है। इस व्रत में एक व्यक्ति को अपने घर में घूमने या उसके भाग में घूमने या गाँव में घूमने अथवा कस्बे में घूमने की सीमा निर्धारित करनी होती है। इस व्रत के पालन करने का काल एक दिन से कुछ दिन, कुछ माह या वर्ष रहता है। दिग्व्रत और देशावकाशिक व्रत का मूल विचार यह है कि एक मनुष्य अपने घूमने की स्वतंत्रता को कम करता है। वह छोटा हो या बड़ा उसके अतिरिक्त समस्त क्षेत्र में अनुपस्थिति निर्धारित करता है। इसका अर्थ यह होता है कि जितने क्षेत्र की उसने सीमा निर्धारित की है उसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में न जाने से उसका महाव्रत फलता है; जो कि किसी संन्यासी का कठोर व्रत होता है[38]। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार यह व्रत किसी समय के विशेष बिन्दु के मध्य रखा जाता है जबकि किसी व्यक्ति को निश्चित ग्राम, बाजार, गली या घर के बाहर नहीं जाना चाहिए[39]। आचार्य समन्तभद्र

का कहना है कि कोई व्यक्ति जो अणुव्रत का पालन करता है उसे केवल प्रत्येक दिन का समय ही कम नहीं करना पड़ता किन्तु जो उसने क्षेत्र निर्धारित किया है उसको भी सीमित करना पड़ता है। वे इस बात से सहमत हैं कि काल और क्षेत्र को इस प्रकार कम कर देने से एक अणुव्रती को अवशिष्ट स्थान में न जाने से महाव्रत का पालन होता है। उन्होंने इस व्रत के पाँच अतिचारों का निर्देश किया है-

1. प्रेषण का अर्थ एक सेवक को, मित्र को और पुत्र को भेजकर जो सीमा निर्धारित की है उसके बाहर भेजना। किसी से कहकर नियम को तोड़ने से सीमा से बाहर रहने वाले जीवों की हानि होती है।

2. जो सीमा निर्धारित की है उसके बाहर शब्द बगैरह कर सीमा का उल्लंघन करना।

3. आनयन - जो सीमा निर्धारित की है उसके बाहर किसी व्यक्ति को भेजकर सीमा को पार करना सम्मिलित है।

4. रूपाभिव्यक्ति- चिह्न या संकेतों के द्वारा बाह्य क्षेत्र में दूसरों से सन्देश भिजवाना।

5. पुद्गलक्षेप - से तात्पर्य कुछ स्पृश्य वस्तुओं को फेकना जैसे पत्थर, ईंट, मिट्टी का ढेला ताकि दूसरे व्यक्ति का ध्यान खींचा जा सके; जो कि सीमा से बाहर है।

2. सामायिक - इस व्रत के पालन करने का अभ्यास करने पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ने जोर दिया है ताकि मन में समता हो तथा यथार्थ आत्मा के स्वभाव का ध्यान हो। आचार्य समन्तभद्र ने मन से पूरी तरह पाँचों पापों का हटाना, वचन से तथा मन से भी इन पापों को हटाना जो निश्चित समय के लिए होता है; वह बतलाया है[40]। उनके अनुसार यह एक मन्दिर, मकान, बाग और किसी शान्त स्थान पर जहाँ पर कि मन शांतिपूर्ण तथा प्रसन्न हो सकता है। यह या तो कायोत्सर्ग आसन में होता है या पद्मासनआसन में बैठने से होता है। इस व्रत का पालन करने से पंचअणुव्रतों का पालन पूर्ण होता है क्योंकि उस समय गृहस्थ समस्त क्रियाओं (औद्योगिक या शारीरिक) से मुक्त होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि व्रत का अभ्यास उस मन से; जो कि समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम और घृणा से शुद्ध हो गया है तथा ध्यान से जो समता से युक्त हो गया है वह आत्म साक्षात्कार की ओर बढ़ता है इसका अभ्यास प्रातः काल और सायंकाल होना चाहिए यद्यपि इसका अभ्यास दूसरे समय में करना लाभप्रद है। वहाँ के

अभ्यास के द्वारा ममता की प्राप्ति का फल पाप पूर्ण कार्यों से अलग होना है। सामायिक का यदि निरन्तर अभ्यास किया जाय तो इससे मन की समता तथा मानसिक रूप से आत्मा के प्रति केन्द्रित होता है।

कोई व्यक्ति जो व्रत को पूर्ण करना चाहता है उसे किसी से डरना नहीं चाहिए, किसी से विवाद नहीं करना चाहिए या किसी का कर्ज नहीं लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई उत्सुकता का कार्य नहीं होना चाहिए जिससे कि किसी दिशा में उसका मन विचलित न हो। उसे साधु के समान पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों का पालन करना चाहिए तथा समस्त सावद्य वचनों से अपने को दूर हटाना चाहिए तथा किसी वस्तु को उठाते, रखते समय उसे प्रतिलेखना को नजरंदाज नहीं करना चाहिए तथा कोमल पीछी से सावधानी से फर्श को साफ करना चाहिए, उसे फूंकना नहीं चाहिए तथा अपने नाक का मैल नहीं निकालना चाहिए।यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे जमीन के एक टुकड़े को अच्छी तरह जाँच कर साफ कर लेना चाहिए[41]। वह श्रावक जो कि सामायिक के अभ्यास में लगा हुआ है वह वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान प्रतिभासित होता है। आचार्य सोमदेव ने सामायिक के विचारों को विस्तृत किया है जैसे अर्हत् की पूजा मूर्ति सहित या मूर्ति रहित। पवित्र श्रुत की गाकर पूजा करना तथा सरस्वती का स्तवन करना और ध्यान करना। सामायिक का अभ्यास करने वाले को जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करना चाहिए तथा अपने आप को आत्मध्यान में लगाना चाहिए। समन्तभद्र तथा अमृतचन्द्र ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि सामायिक का अभ्यास तब करना चाहिए जबकि सामायिक करने वाला पूरी तरह से उपवास कर रहा हो या आंशिक उपवास कर रहा हो। उसे संसार का कारण विचारना चाहिए तथा मुक्ति के मार्ग पर ध्यान लगाना चाहिए। इस व्रत के अतिचार दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में एक जैसे ही हैं। इनका उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने किया है-

1. वाक्दुष्प्रणिधान- जब कोई व्यक्ति सामायिक कर रहा हो तो उसका घर के मामलों में बातचीत करना।

2. कायदुष्प्रणिधान- शरीर का उस प्रकार हलन-चलन करना जिससे आत्म संयम प्रभावित हो। हरिभद्रसूरि का कहना है कि व्रत का यह अतिचार तब घटित होता है जब सामायिक करने वाला जमीन को साफ करने में असफल रहता है।

3. मनोदुष्प्रणिधान- जब मन क्रोध, माया, मान, लोभ और ईर्ष्या से विचलित हो रहा हो। इसमें सांसारिक कार्य के प्रति उत्सुकता कारण होती है।

4. अनादर- यह उत्साह की कमी है तथा सामायिक करते समय सही उत्साह की कमी इसका नाम अनवस्थित करण है; क्योंकि व्रत का अभ्यास करते समय पूरी तरह से औपचारिकताएं निभाने में असमर्थ होता है।

5. अस्मरण- पद्यों का उच्चारण करते समय भूल जाना या ध्यान की कमी होना। इस व्रत का उद्देश्य मन को सांसारिक कार्यों से दूर हटाना है। सांसारिक कार्य जैसे चिन्ताएँ, प्रेम और घृणा मन की समता की प्राप्ति तथा ध्यान के समय किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित होना या एकचित्त होना। कुछ लेखकों ने इसमें पूजा और दूसरे क्रियाकलाप जोड़े हैं।

3. प्रोषधोपवास- जो तप निर्धारित किये गये हैं उनमें अनशन अधिक सुस्पष्ट है। जैनों ने इसे एक कला के रूप में विकसित किया तथा इसमें उल्लेखनीय पूर्णता तक पहुँचे हैं[42]। प्रत्येक पक्ष में अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए। दिगम्बर ग्रन्थ यह कहते हैं कि उपवास पहले दिन के दोपहर से प्रारंभ होना चाहिए तथा व्रत के दूसरे दिन मध्याह्न काल तक होना चाहिए। इस प्रकार यह पूरा 48 घण्टों का होता है। अधिकांश श्वेताम्बर लेखकों ने उपवास का समय 24 घण्टे बतलाया है। उपवास घर में, मन्दिर में या जहाँ पर साधुओं ने इसे रखा है वहाँ पालन करना चाहिए। उपवास के दिन समस्त प्रकार के आमोद इन्द्रिय सम्बन्धी आमोद-प्रमोदों को छोड़ देना चाहिए तथा व्यापार सहित समस्त घर के कार्य छोड़ देना चाहिए। दिन ध्यान पूजा तथा शास्त्रों के अध्ययन में व्यतीत होना चाहिए। सायंकाल तथा रात्रि सामायिक तथा शास्त्रों के अध्ययन में व्यतीत होना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र का कहना है कि उपवास का अर्थ होता है भोजन, पान, स्वाद तथा लेह्य; इन सब पदार्थों का छोड़ देना। उपवास के तीन भेद हैं। पहला भेद-पूर्ण उपवास है या उपर्युक्त रीति से कहे गये भोजन को छोड़ देना है। मध्यम वह है जिसमें पानी पीने की छूट है। जघन्य उपवास वह है कि दिन में एक बार आहार ग्रहण करना। श्वेताम्बर शास्त्रों में कहा गया है कि उपवास के दिनों में आहार, देहसत्कार, मैथुन तथा व्यापार को श्रावक की सामर्थ्य के अनुसार पूरी तरह से या आंशिक रूप से किया जा सकता है[43]। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक के पाँच अतिचार कहे हैं-

1. गृहणातिचार- पूजा के पात्रों को बिना निरीक्षण किये तथा पूरी चिन्ता के साथ में किये जाने पर होता है।

2. निसर्गातिचार- पात्रों को रखना या किसी व्यक्ति का अपने शरीर को बिना किसी देखभाल किये फर्श पर रखना ।

3. अस्तरणातिचार- बिना सावधानी के किसी के बिस्तर को फैलाना, उसको देखना, उसका निरीक्षण करना तथा धीरे से जगह साफ करना।

4. अनादरातिचार- उपवास करते हुए किसी प्रकार का उत्साह नहीं दिखाना।

5. अस्मरणातिचार- इसका सम्बन्ध शास्त्र के अध्ययन करते समय या ध्यान करते समय भूल जाना है।

4. वैयावृत्य- इस व्रत को अतिथि संविभाग व्रत के नाम से भी जाता है। इसमें साधु को उसकी हथेलियों में आहार दिया जाता है। इसके अन्तर्गत उनके चरण दबाना तथा उनकी बीमारियाँ दूर करना है। इस प्रकार की सेवा उनकी तपस्या और दीक्षा के मार्ग में आए हुए विघ्नों को दूर करना है। इस व्रत का अभ्यास धर्म के प्रति कर्त्तव्य के रूप में करना चाहिए।

बिन्दु, जिस पर विचार करना अपेक्षित है, वह यह है कि व्रत का पूरी तरह से पालन किया गया है या नहीं ? वे बिन्दु हैं- 1. पात्र- लेने वाला साधु होना चाहिए, जो कि त्याग का जीवन व्यतीत कर रहा हो तथा सबसे विनय का व्यवहार रखता हो।

2. दातृ या देने वाला गृहस्थ हो, जो कि बारह व्रतों का अनुसरण करता हो तथा उन्नतिशील होकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक बढ़ने का अभ्यास कर रहा हो। 3. दातव्य या द्रव्य से तात्पर्य शुद्ध भोजन, दवा, पुस्तकें भोजन से है। 4. दानविधि- दिगम्बरों के अनुसार नवधा भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए। प्रतिग्रह-एक साधु का स्वागत, दिखाई देने पर स्वागत वचन बोलना- नमोऽस्तु -आपको नमस्कार हो। कृपया ठहरिए (तिष्ठ), अनन्तर एक आदर का स्थान देना (उच्च स्थान), विनय के साथ उनके चरण धोना (चरण प्रक्षालन), अनन्तर पुष्पों से उनकी पूजा करना, आरती उतारने के साथ पूजा करने में संलग्न होना (अर्चना) तथा उन्हें प्रणाम करना (प्रणाम) अनन्तर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक (त्रियोग शुद्धि)। देने वाले के पास श्रद्धा, भक्ति, सन्तोष, उत्साह, भेदज्ञान, अपेक्षा से रहित गुण होना चाहिए।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दान के विषय में पाँच शर्तें होती हैं- 1. देश या स्थान-क्या उस स्थान में चावल, दाल, गेहूँ उत्पन्न होता है? 2. काल- क्या यह समय अकाल का है? 3. श्रद्धा-देने वाला मन शुद्धि और श्रद्धा से युक्त हो 4. सत्कार- अतिथि को आदर और सावधानी पूर्वक लेना 5. क्रम-आदर के साथ भोजन देना चावल या खीर पहले दी [45] जाती है। चार प्रकार के दान दिगम्बरों को देना, श्वेताम्बरों

को वस्त्र, कम्बल, आहार लेने का कटोरा, जग इत्यादि दिए जाने हैं। जहाँ वे ठहरे हैं, वहाँ उनसे सम्पर्क किया जाता है, घर पर आमंत्रित किया जाता है, उनको आदर योग्य आसन दिया जाता है तथा भोजन पान दिया जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि साधुओं को दान का फल कर्मों को नष्ट करना है तथा अच्छे कुल में धन, सौन्दर्य तथा प्रतिष्ठा से युक्त हो जन्म लेना है। श्वेताम्बरों ने दान के वैशिष्ट्य में अगले जन्म में दान का कोई विशेष योग इस प्रकार नहीं माना है, ऐसा प्रतीत होता[46] है।

किसी को अपनी सम्पत्ति में से कितना दान करना चाहिए, इसके विषय में देवसेन ने कहा है। उनके अनुसार धन के छह भाग करना चाहिए। प्रत्येक भाग को क्रमशः धर्म, कुटुम्ब, भोज, सेवकों को बनाए रखना तथा दो भाग पूजा के लिए रखना चाहिए। हेमचन्द्र के अनुसार एक महाश्रावक या आदर्शगृहस्थ को सात क्षेत्रों में दान देना चाहिए। ऐसा दयाभाव से युक्त हो, उन लोगों के लिए करना चाहिए, जो कष्ट में हों। सात क्षेत्र हैं- 1. पूजा के लिए जैन प्रतिमाओं की स्थापना 2. जैन मन्दिरों की मरम्मत या निर्माण 3. पवित्र ग्रन्थों की प्रतिलिपि करना तथा उन्हें विद्वान् साधुओं को देना 4. साधुओं को भोजन देना 5. साध्वियों को भोजन देना 6. गृहस्थों को दान देना-जैसे विश्राम गृहों का निर्माण,औषधालयों का निर्माण इत्यादि, तथा 7. श्राविकाओं को उपर्युक्त प्रकार से दान देना[47]। यह उल्लेख के योग्य है कि साधु, साध्वियाँ, श्रावक तथा श्राविकाओं से जैनसमाज के चार स्तम्भों का निर्माण होता है। वैयावृत्य के पाँच अतिचारों का उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने किया है। वे हैं-1. हरित विधान भोजन को हरित् पत्ती, फूल या दूसरी सचित्त वस्तुओं से ढकना 2. हरितपिधान- सचित्त पत्तियों में भोजन रखकर देना 3. अनादरातिचार-भोजन देते सयम आदर नहीं दिखाना 4. अस्मरणतिचार- दान की पद्धति को भूल जाना या अपने निजी कार्य की वजह से भूल जाना। 5. मात्सरित जब दूसरे साधु को दान कर रहे हों, तब ईर्ष्या करना।

यह देखा जायगा कि जैन नीतिशास्त्र का आधार अहिंसा का सिद्धान्त है तथा समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम रखना है। एक गृहस्थ को जैनधर्म के प्रति बौद्धिक श्रद्धान रखना चाहिए। उसके प्रतिदिन के व्यवहार में अहिंसा तथ सत्य अवश्य झलकना चाहिए। अपने व्यवहार में उसे दान का अभ्यास करना चाहिए तथा सांसारिक वस्तुओं में अपरिग्रह का प्रयोग करना चाहिए। उसे स्वयं अपने तथा कर्त्तव्य समाज के प्रति जागरूक रहना चाहिए। एक गृहस्थ के रूप में उसका जीवन आत्म साक्षात्कार के यथार्थ लक्ष्य को

पाना है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का होना अकेले सिद्धान्त का ही मामला नहीं होना चाहिए, अपितु लगातार उसके प्रतिदिन के व्यवहार में भी प्रतिलक्षित होना चाहिए।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. जे.एल.जैनी : आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 23
2. हर्मन जैकोबी : स्टडीज इन जैनिज्म, जैन साहित्य संशोधक कार्यालय, अहमदाबाद।
3. आर.विलियम्स : जैन योग, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, पृ. 37-38
4. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 498 (जीवराज गौतमचन्द्र की टीका के साथ) जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
5. आर.विलियम्स : जैन योग, पृ. 19
6. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 51
7. अमृतचन्द्रसूरि : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक- 44, पं. अजितप्रसाद जैन की अंग्रेजी टीका सहित, द सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ।
8. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र 4, आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका के एस.ए.जैन कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित।
9. अमृतचन्द्रसूरि : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44 तथा 45
10. समन्तभद्र आचार्य : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 54
11. आर.विलियम्स : जैन योग, पृ. 70-71
12. एस.ए.जैन : रीयलिटी, पृ.195
13. वही, अध्याय-7, सूत्र 11
14. हाण्डीकी : के.के.यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 264 जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
15. एस.ए.जैन : रीयलिटी, अध्याय-7, सूत्र- 14
16. समन्तभद्र आचार्य : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 55
17. एस.ए. जैन : रीयलिटी, अध्याय-7, सूत्र 5
18. के.के. हाण्डीकी : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 265-266
19. आर.विलियम्स : जैन योग, पृ. 72
20. वही, पृ. 75-77
21. अमृतचन्द्र सूरि : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 102-6
22. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 265
23. समन्तभद्र आचार्य : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 58
24. आर.विलियम्स : जैन योग, पृ. 79-80
25. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 59
26. आर. विलियम्स : जैन योग, पृ. 85
27. अमृतचन्द्रसूरि : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 107-9

28. जैन योग, पृ. 91
29. वही, 93
30. वही, 86
31. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 267
32. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र 17
33. आर.विलियम्स : जैन योग, पृ. 93
34. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 66
35. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 362
36. वही, पृ. 262-263
37. रत्नकरण्ड श्रावकाचार,श्लोक 91
38. जैन योग, पृ. 140
39. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 136
40. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 97
41. जैन योग, पृ. 132
42. स्टडीज इन जैनिज्म, पृ. 33
43. जैन योग, पृ. 143
44. वही, पृ. 153
45. वही, पृ. 150
46. वही, पृ. 161

❑❑❑

अध्याय-14

गृहस्थ के जीवन में उन्नति के सोपान

हम देख चुके हैं कि सामान्य व्यक्ति जो व्रतों का अभ्यास करना चाहता है, उनका उद्देश्य मन और क्रिया को शुद्ध करना है। श्रीमती स्टीवेन्सन ने कहा है कि बारह व्रत सभी के सुनिश्चित विचार के अनुसार है; जो कि कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं कि कुछ नहीं करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है[1]।

यह नीतिशास्त्र का बहुत बड़ा विचार है कि यह चाहता है कि एक साधारण व्यक्ति केवल अपने में अच्छा नहीं हो, अपितु दूसरों का भी अच्छा करे। उसका जीवन में स्वयं चारित्र ऐसा हो कि वह अपने प्रेम और स्नेह से सभी को प्रिय बनाए। वह अपने अपरिग्रह व्रत से समाज की अच्छाई के लिए वस्तुओं को योगदान दे। चारित्र के नियम व्यवहारिक हैं। वे इस प्रकार लागू किये गये हैं कि जीवन में व्यक्तिगत और सामाजिक संघर्षों से बचा जा सके।

एक सामान्य व्यक्ति जो कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में बहुत ऊँचाई पर पहुँचने का इच्छुक है, वह अपने जीवन के मार्ग को नियमित करे; ऐसा कर सकता है। प्रतिमा शब्द एक गृहस्थ के जीवन में नैतिक उन्नति को लाता है। उन्नति के मार्ग पर चलते हुए उसकी आत्मा शुद्धता प्राप्त करती है तथा आत्मिक उत्थान के लिए सामर्थ्य प्रदान करती है। ये सब सोपान गुणव्रत और शीलव्रतों से सघन रूप से जुड़े हुए हैं। जैन श्रावक के जीवन का अणुव्रत मूल है। यद्यपि प्रतिमाओं के वर्णन में श्वेताम्बर और दिगम्बरों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। पूर्ण उन्नति के क्रम में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। ये प्रतिमाएं एक सीढ़ी के पाये के समान ग्यारह हैं। एक सामान्य व्यक्ति जो कि उन्नति का इच्छुक है उसे उन्नति के सोपान पर तब तक चढ़ना होता है जब तक वह ऊँचाई तक न पहुँच जाय। यह एक सामान्य व्यक्ति के लिए अंतिम सोपान है।

1. दर्शन प्रतिमा- गृहस्थ को अपना रवैया सदा ठीक रखना चाहिए तथा उसे भ्रान्त विचारों से रहित होना चाहिए। उसका सम्यक्त्व समस्त अतिचारों से रहित होना चाहिए तथा प्रत्येक प्रकार के सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति से रहित होना चाहिए। उसे पंच परमेष्ठी का भक्त, पुजारी होना चाहिए तथा जिन उपदेशों का जिनों ने प्रचार किया है, उनके प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिए। इस प्रकार का गृहस्थ दर्शन प्रतिमाधारी है।

2. व्रत प्रतिमा- श्रावक 12व्रतों का पालन करता है। वे 12 व्रत हैं, 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत। इनमें से प्रत्येक का कोई अतिचार नहीं होना चाहिए। इन व्रतों का अभ्यास तीन शल्यों से रहित हो-1. माया, 2. मिथ्या, तथा 3. निदान। जो व्यक्ति इस ढंग से व्रतों का पालन करता है वह व्रती कहलाता है।

3. सामायिक प्रतिमा- श्रावक चारों दिशाओं में मुड़ता है और नमस्कार करता है। वह शरीर से जुड़ा हुआ नहीं रहता है तथा सांसारिक सम्पत्ति को नहीं चाहता है। वह दो में से एक आवृत्ति को अंगीकार कर ध्यान लगाता है तथा अपने क्रियाकलापों की शुद्धता को बनाये रखता है। यह वह सोपान है जिसमें श्रावक सामायिक का अभ्यास करता है। उस पद्धति से अभ्यास करता है जो कि शास्त्रों में निर्धारित की गयी है। वह आत्म शुद्धि के लिए आत्मनिरीक्षण करता है और ध्यान लगाता है। समन्तभद्राचार्य ने इसमें यह जोड़ा है कि इसका आरंभ प्रार्थना तथा नमस्कार के अभ्यास के साथ किया जाता है। प्रार्थना तथा नमस्कार जिनों का होता है तथा यह प्रतिदिन तीन बार किया जाता है। श्वेताम्बरों का मानना है कि आत्मा की शुद्धि के उद्देश्य से अभ्यास को आगे बढ़ाता है।

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा- इसका विस्तृत रूप से वर्णन पहले से ही किया जा चुका है। एक माह में चार दिन उपवास करना चाहिए। उपवास पहले दिन मध्याह्न से प्रारंभ करना चाहिए और अंत आगे के दिन के मध्याह्न तक करना चाहिए। सारा समय प्रार्थना, श्रुताराधना, ध्यान तथा धार्मिक उपदेशों को सुनने में व्यतीत करना चाहिए।

5. सचित्तत्याग प्रतिमा- एक दयालु श्रावक को जड़ें, फल, तरकारियाँ, कंद, हरी पत्तियाँ,अंकुर तथा बीज; जो कि पकाये गये नहीं है, उनका खाना छोड़ना चाहिए। उसे इस प्रकार के खाद्य पदार्थों को दूसरों को भी नहीं देना चाहिए। संक्षेप में उसे कोई बिना पकाई हुई या अच्छी तरह न पकायी गयी खाद्य सामग्री का खाना छोड़ना चाहिए। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार प्रतिमाओं में यह व्रत सातवाँ आता है। बिना गर्म

किया हुआ जल तथा तरल पदार्थ जिसमें कि नमक निहित हो उसका भी त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति इस सोपान तक पहुँच गया है उसे सचित्त त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

6. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा- इस प्रतिमा के आकांक्षी को इस श्रेणी में रात्रि में कोई भी वस्तु या पेय पदार्थ खाना मना है। वह रात्रि में भोजन जल, पान तथा पत्तियाँ नहीं खाता है। आशाधर इसमें दिवा भुक्ति को सम्मिलित करते हैं वे ऋतुकाल को छोड़कर किसी भी प्रकार का मैथुन सेवन का निषेध करते हैं। ऋतुकाल के बाद बच्चों के उत्पादन के लिए मैथुन की छूट देते हैं।

श्वेताम्बरों के अनुसार छठा सोपान अब्रह्मवर्जन प्रतिमा से संबंधित है। श्रावक को न केवल यौन सम्बन्ध छोड़ना होता है अपितु अपनी पत्नी से अलग होना होता है तथा उससे वार्तालाप भी नहीं करता है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा- गृहस्थ जो इस सोपान पर पहुँच चुका है उसे केवल पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन ही नहीं करना होता है अपितु वह उसी समय विचार करता है कि अशुद्ध मानवीय शरीर यौन संबंधी क्रियाओं में संलग्न होता है। उसे समस्त यौन इच्छाओं का भी अंत करना है। उसे अलग रहना है यहाँ तक कि पत्नी के साथ भी अलग रहना है। एवं भूतकाल के भोगों से युक्त जीवन का वह मन से भी स्मरण नहीं करता है। उसे ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए जो उसकी यौन इच्छाओं को पुष्ट करे या शक्ति दे । वह इस प्रकार की वेशभूषा तथा इत्र वगैरह का भी प्रयोग नहीं करता है जो कि स्त्रियों के ध्यान को आकर्षित करने लगता हो। उन्हें इस प्रकार की पुस्तकों को भी नहीं पढ़ना चाहिए जो कि अनैतिक स्त्रियों की कहानियों से युक्त हो। नृत्य के प्रदर्शन में भी उपस्थित नहीं होना चाहिए ताकि मानसिक शुद्धता प्रभावित न हो। इस प्रतिमा का आकांक्षी ब्रह्मचर्यप्रतिमा धारी कहलाता है। जैसा कि पहले छठी प्रतिमा में कहा जा चुका है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार अब्रह्मवर्जन प्रतिमा छठा सोपान है जिसमें किसी (सभी) प्रकार के यौन जीवन पर रोक है।

8. आरंभत्याग प्रतिमा- समस्त क्रियाएँ जैसे कृषि, वाणिज्य, व्यापार तथा सेवा इनसे बचना चाहिए। श्रावक को अपने परिग्रह का परिमाण रखना चाहिए तथा अपने लिए वही रखना चाहिए जो कि उसके सरल जीवन के लिए आवश्यक हो। यदि उसके बच्चे हों तो उनके समस्त भाग अवश्य दे देना चाहिए। उसके साथ में इतना ही रहे जो कि उसके रहने के इस्तेमाल के लिए काफी हो तथा दूसरों के कष्ट में उनको राहत पहुँचाने के लिए दान देना चाहिए। उसे रागात्मक विचारों को छोड़ देना चाहिए तथा

उसका मन शुद्ध और सन्तोषी होना चाहिए। श्वेताम्बर ग्रन्थ उन समस्त क्रियाओं को जो कि प्रतिनिधि के द्वारा परोक्ष रूप से किये गये हों या जीवनयापन के लिए सेवक रखे गये हो उन पर रोक नहीं लगाते हैं। गृहस्थ जो कि इस सोपान तक पहुँचा है वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी या आरंभविधि व्रत श्रावक कहलाता है।

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा- यह सोपान समस्त प्रकार के राग को छोड़ने तथा इस बात की दृढ़ प्रतीति करने पर आता है कि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे गृहस्थ अपनी कह सके। उस व्यक्ति को दश प्रकार का परिग्रह छोड़ देना चाहिए-क्षेत्र, घर, चाँदी, सोना, पशु, अनाज, कपड़े, कुप्य, दासी तथा दास। यहाँ तक कि वस्तुयें जैसे-भोजन, आश्रय, कपड़े छोड़ना चाहिए। उसे किसी वस्तु के प्रति उत्सुकता नहीं होना चाहिए। इसी विचार से गृहस्थ को सन्तुष्ट होना चाहिए कि प्रत्येक चीज कर्म के अनुसार होती है। उसे अपने साथ साधारण तथा ठीक कपड़े रखने चाहिए तथा एक कमरे में या एकान्त स्थान में सोना चाहिए। उसे खाना, कपड़ा तथा दवा इत्यादि स्वीकार करना चाहिए जो कि उसी के व्यक्तियों द्वारा दिए गए हों तथा उन्हें स्वयं अपनी आवश्यकता पर विचार करना चाहिए। यदि संभव हो तो उसे अपना समय मन्दिर में बिताना चाहिए। उसे सदैव शास्त्र पढ़ने में लगा रहना चाहिए। अपनी पूजा समाप्त कर मध्याह्न के समय भोजन लेना चाहिए। यह स्तर ग्यारहवीं प्रतिमा की तैयारी के लिए है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसे प्रेष्यत्याग प्रतिमा कहा है जो कि इसके स्तर को बतलाती है। इसमें अपेक्षा की जाती है कि आकांक्षी सांसारिक जीवन के भार को कम करे तथा सेवक तथा प्रतिनिधि के क्रियाकलापों को रोके। वह अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करता है तथा अंतिम मुक्ति की इच्छा करता है।

उसे अपने आपको भाग्यशाली अनुभव करना चाहिए; क्योंकि वह भय, प्रेम और लोभ से मुक्त रहेगा, जो कि कर्म के कारण हैं। उसे अपना आचरण ऐसा बनाना होगा, जैसे वह समस्त भौतिक परिग्रह से मुक्त हो गया हो। इस प्रकार का गृहस्थ परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

10. अनुमति त्याग प्रतिमा- एक गृहस्थ; जो कि इस सोपान तक पहुँच चुका है, उसे व्यापार तथा कृषि आदि समस्त क्रियाओं को छोड़ देना चाहिए। सम्पत्ति के प्रति लगाव तथा परिवार के कार्यों से सम्बन्ध छोड़ देना चाहिए। उसे जो भोजन परोसा गया है,उसकी पसन्द तथा नापसन्द का अनुभव उसे नहीं करना चाहिए। उसे अपने परिवार के किसी सदस्य के द्वारा किए गए कार्यकलाप की न तो सहमति देना चाहिए, न असहमति। इस प्रकार के व्यक्ति को अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा- इस स्तर पर गृहस्थ अपना घर छोड़ देता है तथा किसी साधु के पास व्रत ग्रहण करने के लिए जाता है। उसे जो भोजन दिया गया है, उस पर (सन्तोषपूर्वक) साधु की तरह रहता है। उसके गुप्तांग के चारों ओर वस्त्र का एक छोटा सा (लँगोटी) टुकड़ा रहता है । वह परिवार बन्धन को छोड़ देता है। वह नंगे सिर और नंगे पाँव रहता है। जो वह अपने भोजन को माँगता है, तो उसे पूरी शान्ति रखनी पड़ती है। उसे भोजन के लिए निमंत्रण स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो भोजन विशेष रूप से उसके लिए बनाया गया हो, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे दिन में एक बार हथेली पर भोजन लेना चाहिए तथा यह सूचना मिलने पर कि भोजन में कोई आपत्तिजनक चीज है, उसी क्षण उसे भोजन लेना छोड़ देना चाहिए। उसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपवास और तप करना चाहिए।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में उद्दिष्ट त्याग दसवीं प्रतिमा है। ग्यारहवीं प्रतिमा श्रमणभूत प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारक उस भोजन से अपने को बचता है, जो कि स्वयं के लिए बनाया गया है। वह नंगे पाँव चलता है। वह अपने सिर को मुण्डित रखता है या बाल उस्तरे से बनाता है। वह भोजन रखने के लिए कटोरा रखता है तथा रजोहरण रखता है। वह अपने रिश्तेदारों से भी भोजन ले सकता है तथा उन्हीं वस्तुओं को खाता है जो कि साधु के लिए अनुमन्य हैं।

यह एक गृहस्थ के लिए अनुशासन की सबसे ऊँची सीढ़ी है। वह अपना पारिवारिक मकान छोड़ता है तथा वह अपने से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु छोड़ देता है। वह अपने संन्यासी गुरु से व्रतों को ग्रहण करता है तथा वन या किसी एकान्त स्थान में शरण जाता है। वह मात्र केवल एक लंगोटी धारण करता है तथा जो भोजन भिक्षा में प्राप्त होता है उसी से संतोष करता है।

एक आदर्श गृहस्थ ग्यारह प्रतिमाओं को धीरे-धीरे पार करता है। वह व्रतों को स्वीकार करता है तथा अनुशासन के नियमों पर दृष्टि रखता है, जो कि प्रत्येक प्रतिमा के लिए निर्धारित किए गए हैं। उसे अपने मन को कठोर निरीक्षण में तैयार करना होता है, जब तक कि दूसरी सीढ़ी तक आगे नहीं बढ़ता है। अतः वह उस उन्नति का अनुसरण करता है, जिसे एक गृहस्थ प्राप्त कर सकता है। उसे अंतिम रूप से अपनी धारणाओं और विश्वासों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो कि जैनदर्शन में हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से जीवन में कोई शीघ्र परिवर्तन नहीं हो सकता है, जिससे कि भौतिक अनुराग से प्रव्रज्या तक पहुँचा जा सके। अनुशासन की ग्यारह प्रतिमायें, जो कि कठोर मानसिक और

आध्यात्मिक तपों से संलग्न हैं, वे पूरी तरह से व्यावहारिक हैं तथा प्रत्येक आकांक्षी के अनुभव के योग्य हैं।

गृहस्थ जो कि ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँच चुका है, उसकी दो कक्षायें होती हैं-1. क्षुल्लक तथा 2. ऐलक । उनमें से कोई भी उस भोजन को ग्रहण नहीं करता है, जो कि विशेष रूप से उसके लिए बनाया गया है। पहला उस स्थिति में रह सकता है, जब तक कि वह भिक्षु की श्रेणी में नहीं पहुँचता है, जबकि दूसरा उसके समान है, जैसे कि एक संन्यासी के परीक्षण काल में हो। दोनों भोजन की याचना करते हैं किन्तु ऐलक प्रायः साधु के बाद खाता है, जिसके साथ वह रह रहा है। दोनों साधु की संगति करते हैं तथा उसकी पूरी सेवा करते हैं, जैसे-वैयावृत्य में की जाती है। क्षुल्लक एक लंगोटी पहनता है तथा तीन गज की एक चादर जो कि एक ही अर्ज होती है, पहिनता है। ऐलक अपने केशों का लोंच करता है, क्षुल्लक स्वयं बालों की कटिंग करता है। दोनों को सदैव एक माह में चार प्रोषधोपवास करने होते हैं। उनसे यह आशा नहीं करना चाहिए कि वे पर्वत के शिखर पर कठोर तप करने में संलग्न रहें। या वर्षा के दिनों में नदी के किनारे वृक्ष के नीचे भी तप नहीं करते हैं। ऐलक को अपने हाथ की हथेलियों में भोजन करना होता है। फर्श को साफ करने के लिए मयूर पंख की पीछी का प्रयोग करता है। जब वे सोते हैं या बैठते हैं। क्षुल्लक को यह आज्ञा है कि भिक्षा के लिए कटोरे का प्रयोग करने के लिए अपनी इच्छानुसार निर्णय ले। वह चाहे तो बैठकर भोजन ले सकता है।

एक गृहस्थ का अंतिम सोपान मुनिपने की तैयारी करना होता है। गृहस्थ के अनुशासन अंतिम बिन्दु तक होता है जब वह अपनी छोटी-बड़ी सभी चीजों का त्यागकर देता है। व्यावहारिक रूप से वह समस्त तपों को तपता है तथा अपनी दीक्षा को संन्यास रूप में परिणत होने की प्रतीक्षा करता है।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि ग्यारह प्रतिमाओं पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है। श्रेणी के अनुसार एक के बाद एक सोपान पर चढ़ना होता है। जब गृहस्थ सुनिश्चित हो जाता है कि पहले के कदम ठीक रखे गए हैं। सम्यग्दर्शन के साथ चढ़ाव होता है। उन्नति तभी होती है जब वह अधिक कठिन व्रतों के नियमों को ग्रहण करने की तैयारी करता है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. श्रीमती सिंक्लेयर : हर्ट ऑफ जैनिज्म, पृ. 222 हम्फ्री मिल फोर्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

❑❑❑

अध्याय-15

दस धर्म या दस उत्तम गुण

Virtue is an activity, and lith not in doctrine and theory, but in practice and conduct, co-ordinating potencies into energy.....the preferential imitation of right action is THE HABIT OF VIRTUE.....

-The testament of Beauty, by Robert Bridges, Book IV, Lines 623-28

अर्थात् गुण एक क्रिया है तथा यह सिद्धान्त पर निर्भर नहीं है, अपितु अभ्यास और चारित्र पर निर्भर है, जिसका सहयोग सामर्थ्य को ऊर्जा में बदलता है। सही क्रिया का वरीयता से अनुसरण गुण की प्रकृति या आदत है।

- द टेस्टामेण्ड ऑफ ब्यूटी, राबर्ट बिज्र, पुस्तक-4, पंक्ति 623-28

विश्व के धर्मों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की कोई कमी नहीं है। आज विश्व की जो आवश्यकता है वह उन सिद्धान्तों का प्रतिदिन के जीवन में सच्चा अभ्यास करना है। पुजारियों के हाथों में प्रत्येक धर्म एक क्रियाकाण्ड हो जाता है। अज्ञानी व्यक्तियों के साथ यह अन्धविश्वासों का पिण्ड बन जाता है। इस प्रकार यह अपने वैज्ञानिक आधार को खो देता है। जैन विचारकों ने इस बात को देखने की परवाह की कि धर्म तक की स्पष्ट धारा के साथ जीवन का एक मार्ग हो जाता है ताकि यह बना रहे। उसकी व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति को प्रतिदिन के जीवन के दस धर्मों पर दृष्टि को ढीला नहीं करना चाहिए। परम्परागत रूप से दस दिन दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। प्रतिदिन एक धर्म का चिन्तन किया जाता है। दिगम्बर इस पर्व को भाद्रपद शुक्ल पंचमी से दस दिन तक मनाते हैं, श्वेताम्बर इसे पर्यूषण पर्व कहते हैं। यह आषाढ़ मास की पूर्णिमासी से मनाया जाता है। इन दिनों उपवास, ध्यान, शास्त्र स्वाध्याय तथा जिसमें विशेष रूप से तत्त्वार्थसूत्र का आयोजन किया जाता है, इन सब कार्यों में समय व्यतीत किया जाता है। इसका

उद्देश्य मन को शुद्ध करना है तथा कर्मों के उपवास का प्रयास करना है। इन धर्मों का एक संक्षिप्त सन्दर्भ दिया जा चुका है। जबकि कर्मों की संवर और निर्जरा के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। ये 10 धर्म तत्त्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय के 6वें सूत्र इस प्रकार गिनाये गये हैं-''उत्तमक्षमामार्दवआर्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशधर्मः।''

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम,तप , त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य; ये धर्म के 10 प्रकार हैं। दस धर्म मन की क्रिया को नियमित करने के लिए हैं। मन, वचन, काय की क्रिया को नियमित करने वाले हैं। उनके पालन करने से व्रत धारण करने वाले को समस्त बुराईयों को दूर करने की दिशा मिलती है तथा हानिकारक क्रियाओं पर रोक लगती है। प्रत्येक धर्म के साथ में उत्तम शब्द लगाना , पढ़ा जाना चाहिए। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इन धर्मों का अभ्यास सर्वोच्च प्रकार का या पूर्वमानक के साथ होना। किसी भौतिक पुरस्कार की इच्छा नहीं होनी चाहिए। यह उचित होगा कि हम जिस क्रम में उनको कहा गया है उनके विषय में विचार करें।

1. उत्तम क्षमा- उत्तम क्षमा एक दैवीय गुण है। जीवन में बहुत सारे ऐसे अवसर आते है जबकि मन की शांति दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार या परिस्थितियों के दबाव से; जिसके साथ दुर्व्यवहार या अपमान होता है, वह व्यवधान से युक्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कमजोरियाँ होती हैं। कोई व्यक्ति दूसरे की अनुभूतियों को चोट पहुँचाने की चेष्टा करता है या दूसरों के द्वारा उसे चोट पहुँचती है। बुद्धिमानी इसी में है कि मन की शान्ति को मानसिक व्यवधान हुए बिना बनाए रखा जाय। इसे कहते हैं क्षमा। एक साधु के लिए इसप्रकार की परिस्थितियाँ हो सकती हैं। जब उसे गाली दी गयी हों, अपमानित किया गया हो या किसी व्यक्ति के द्वारा फटकार दिया गया हो; जो उसके रहने के जीवन के तौर तरीके या नग्नता के विरुद्ध हो। उसे प्रत्येक बात को शान्ति से वरदास्त करना चाहिए तथा अपने आप में सोचना चाहिए। क्रोध का प्रदर्शन अज्ञान के कारण होता है। साधु जीवन की महत्ता नियम पालन करने में हैं। साधु को उन सभी को क्षमा कर देना चाहिए जो कि उसे मानसिक या शारीरिक दुःख देने में कारण बनते हैं। भगवान् महावीर से उनके किसी शिष्य ने एक बार प्रश्न किया कि भगवन्! क्षमा का अभ्यास करने से आत्मा क्या प्राप्त करता है? उन्होंने उत्तर दिया क्षमा के द्वारा मन शान्त मनुष्य शान्ति तथा दया की प्रकृति प्राप्त करता है। दयालू प्रकृति सभी जीवधारियों के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। स्नेह की प्रकृति से मन शुद्ध तथा भय रहित होता है[1]।

क्रोध आत्मा का प्रमुख शत्रु है। प्रसन्नता, आत्मसंयम तथा विरक्ति ये सब आत्मा के गुण है। क्रोध इन सब गुणों का विधान कर देता है तथा आत्मा के गुणों को उत्पन्न नहीं होने देता है।

क्रोध मन को नियंत्रित नहीं करने देता है तथा कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि एक व्यक्ति जो कि अपने मन का सन्तुलन बिगाड़ता है वह गर्मी के क्षणों में ऐसा करता है। अधिकांश बुरे कार्य तथा आपराधिक कार्य तभी किये जाते हैं जब व्यक्ति क्रोध से भरे होते हैं। क्रोध मानवीयता के वसन्त को सुखा देता है। एक व्यक्ति क्रोध में जंगली क्रिया कर सकता है और इस प्रकार मन तथा हृदय के अच्छे गुणों को खो देता है। क्रोध से युक्त शब्द विपरीत मन वाले की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के शब्द दूसरों के कष्ट का कारण होते हैं। क्रोध को शान्ति के द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है जो कि बुद्धि और क्षमा का परिणाम है। संस्कृत में क्षमा पृथ्वी को भी कहा जाता है। पृथ्वी मनुष्यों के द्वारा लादे गये समस्त भारों को शान्ति से सहन करती है वह समस्त प्राणियों को सुरक्षा प्रदान करती है और फल देती है।

क्रोध से घृणा उत्पन्न होती है। घृणा से शत्रुता होती है। शत्रुता समस्त सम्बन्धित पक्षों के लिए कष्ट को पोषित करने वाली है। शान्ति और क्षमा अहिंसा का पालन करने से ही प्राप्त की जा सकती है। क्षमा एक दैवीय गुण है। जब जीसस क्राइस्ट को फांसी पर चढ़ाया गया तो उन्होंने कहा था पिता उन्हें क्षमा करो; क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं ? महात्मा गांधी ने मृत्यु से पहले मारने वाले के प्रति क्षमा के शब्द कहे थे। इस प्रकार क्षमा से प्रेम होता है और क्षमा से मन को शान्ति मिलती है। इससे नये कर्मों का आस्रव रुकता है तथा पुराने कर्मों का परिष्कार होने में मदद मिलती है। प्रसन्नता और शान्ति मनुष्य की स्पृहणीय सम्पत्ति हैं, वे क्रोध से खो जाते हैं किन्तु क्षमा से पुनः प्राप्त किये जाते हैं। क्षमा मनुष्य का अत्यधिक शक्तिशाली हथियार है। कर्म का सिद्धान्त कहता है कि "जैसा बोओगे वैसा काटोगे।" क्रोध तथा हिंसा युद्ध तथा दुःख के प्रारंभिक कारण हैं। मनुष्य अहिंसा और क्षमा के द्वारा शान्ति को स्थापित कर सकता है। वे गुण सही आत्मा के प्रकाशन हैं। अतः उनका जीवन में अभ्यास करना सबसे बड़ा धर्म है। जो क्षमा को धारण करता है। वह अपने धर्म को जानता है तथा पाप से मुक्त होता है; क्योंकि उसने सम्यक्त्व का बहुत बड़ा पाठ सीखा है।

2. उत्तम मार्दव या उत्तम नम्रता- मार्दव या कोमलता का मतलब है शब्द आदि के कार्य में नम्रता। यह अहम्मन्यता से मुक्ति लाता है तथा मनुष्य को उसके हृदय

में प्रकृति से दयालु और नम्र बनाता है। नम्रता सही शिक्षा है और शिक्षा से जन्म लेती है। अभिमान या अहम्मन्यता यथार्थ ज्ञान, दर्शन और समझ की बहुत बड़ी शत्रु है।

अभिमान या अहम्मन्यता आठ प्रकार की है- अपनी जाति तथा परिवार जिसमें जन्म लिया है का मद, व्यक्तिगत शारीरिक सौन्दर्य का मद, ज्ञान (जो कि किसी ने प्राप्त किया है) का मद, अत्यधिक सांसारिक प्राप्तियों का मद, शारीरिक शक्ति का मद, अपने द्वारा उपार्जित अत्यधिक धन का मद किसी ने आगम का जो ज्ञान प्राप्त किया है उसका मद, इनमें से कोई भी एक मनुष्य के जीवन में दृष्टिकोण को विपरीत बनाने में समर्थ है। इससे रूखापन और बुरा व्यवहार जन्म ले सकता है। एक घमण्डी व्यक्ति प्रायः कर दूसरे के द्वारा किये गये अच्छे कार्यों के प्रति असहिष्णु और अन्धा हो जाता है। जब कोई व्यक्ति इन कारणों में से किसी कारण से मद युक्त हो जाता है तब वह अपनी चापलूसी और दूसरे का तिरस्कार करने में लग सकता है वह उनको कुछ भी महत्त्व नहीं देता है तथा क्रोध और घृणा को आमंत्रित करता है अभिमानी व्यक्ति निष्फल विवादों में पड़ जाता है तथा दूसरों को अपने वचनों की कठोरता और व्यवहार से शत्रु बना लेता है। नम्रता दया का स्रोत है जबकि अहम्मन्यता इसे सुखा देती है। जो व्यक्ति नम्र होता है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री वह किसी भी साथियों के समूह में हीरों की तरह चमकता है। जबकि मार्दव बड़े-बड़े महात्माओं के प्रति विनय को बढ़ाता है तथा साधुओं और ज्ञानियों के प्रति नम्रता लाता है। यह दूसरे व्यक्तियों के प्रति प्रशंसा और आदर उत्पन्न करता है। यह समस्त गलत फहमियों तथा मिथ्या ज्ञान को नष्ट करती है तथा सही ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए प्रयास उत्पन्न करती है। उस व्यक्ति का मन पक्षपातों से रहित होता है तथा वह किसी को न पसंद भी नहीं करता है, विचारों की पवित्रता को प्राप्त करता है तथा क्रिया की शुद्धि भी करता है। यह किसी के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा को जोड़ता है। प्रत्येक वस्तु जो मन की पवित्रता को नष्ट करती है तथा विचारों की शुद्धि को नष्ट करती है वह बुरे कर्म का फल है। इसी प्रकार का अभिमान है। अतः उन कमजोरियों को दूर करने के लिए समस्त प्रयत्न करना चाहिए। सही आत्म मूल्यांकन से पुनः कर्मों का आना रुकता है। नम्रता सम्यग्दर्शन का एक पहलू है। यह सही ज्ञान का अरुणोदय है। जो जीवन के सही मूल्यों को तय करता है (सींचता है)। एक व्यक्ति जो इस प्रकार के ज्ञान से युक्त है वह समस्त वस्तुओं का आदर करता है जैसे सांसारिक अस्तित्व के विविधचरणों को पाकर रहा हो और अनुभव करता है कि किसी भी प्रकार का गर्व करने का कोई कारण नहीं है। मदों में से कोई भी मद आध्यात्मिक अच्छाई और उग्रगामिता को प्रेरित नहीं कर सकता। वह समस्त वस्तुओं का उसी

प्रकार अनादर करता है जैसे वे भौतिक जीवन के लिये निस्सार हों। मद आत्मा की उन्नति को कम करते हैं। किसी व्यक्ति को लगातार समस्त अहमन्यताओं से मुक्त होने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए तथा उस प्रकार दर्शन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे कि एकत्रित कर्मों का उपवास हो।

3. उत्तम आर्जव - चारित्र में उच्चता प्रत्येक अच्छे व्यक्ति का प्रभाव चिह्न है। प्रत्येक अच्छा व्यक्ति अपने विचारों, शब्दों तथा कार्यों में ठीक है तथा बुरे व्यक्ति के लिए यह मामला उल्टा है। ठीक होना एक अच्छा गुण है और ठीक नहीं होना बुरा है। सत्यवादी ही अकेला ऐसा व्यक्ति है जो सही धर्म का अभ्यास कर सकता है; क्योंकि धर्म उससे आकांक्षा करता है कि वह स्वयं में ईमानदार हो और दूसरों के साथ में भी ईमानदार हो, सरल होना चालाक होने से मुक्त होना है। दोगला होना, अनिश्चित होना, विचारों में कपटी होना तथा शब्दों और कार्यों में भी यही होना, इनसे सरल व्यक्ति बचा रहता है सामान्यपने से वह क्रियाओं में विचारों और वाणी में उच्च होगा तथा वह सत्यवादी होगा और उससे वह नियम का अभ्यास करेगा। ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है[2]। व्यवहार में सरलता सांसारिक जीवन की सफलता की कुंजी है। यह दूसरों में विश्वास बढ़ाता है। यह बुद्धिमत्ता और विचारों की शुद्धता को प्रेरित करता है। यह विचारों और क्रियाओं के उद्देश्य में सच्चाई की ओर ले जाता है। ऐसे व्यक्ति का मन सदैव शांतिपूर्ण होगा। उसके पास क्रोध का कोई अवसर नहीं होगा जो कि भौतिक और मानसिक बीमारियों का मूल कारण है। किसी को धोखा देने से नये कर्मों का आस्रव होता है क्योंकि इससे मन और विचार खराब होते हैं। जब उनका पता लगता है तो उनसे व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की हानि एवं अप्रतिष्ठा होगी। सरल व्यक्ति दूसरों से लड़ाई नहीं करता तथा उसका मन कषाय और लोभ से रहित होता है। वह अपने पापों का परिष्कार करने के योग्य होता है तथा नये कर्मों का आस्रव रोकता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करेगा तथ किसी व्यक्ति के ऊपर आक्रमण करने का कोई अवसर नहीं देगा।

4. उत्तम सत्य या पूर्ण सत्यता- सत्य का प्रकरण अणुव्रतों के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है। यह तथ्य कि इसे पुनः 10 धर्मों में जोड़ा गया है, इससे यह द्योतित होता है कि जैनधर्म दूसरों को बहुत अधिक महत्त्व देता है। यह प्रत्येक दिन के जीवन के अभ्यास तथा जीवन पवित्रता की कुंजी है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन का मूल आधार माना है। सत्य और अहिंसा एक ही

सिक्के के दो पहलू हैं। हमारे अस्तित्व का नियम सत्य है। महात्मा गांधी सत्य के बहुत बड़े खोजी थे तथा इसे पाने के लिए तत्पर थे। उनके लिए सत्य और ईश्वर एक थे। सत्य वही है जो कि आपकी अन्तरात्मा कहती है; ऐसा गांधी जी कहते थे। जिसमें नम्रता नहीं है, वह सत्य का अनुभव नहीं कर सकता है। जहाँ पर सत्य नहीं है, वहाँ पर सही ज्ञान नहीं हो सकता है। सुख के समान सत्य नित्य है। सत्य से प्रेम, नम्रता और दया उत्पन्न होती है। सत्यव्रत पालन करने वालों को धूलि की तरह कोमल होना चाहिए। सत्य का पालन करते हुए उसकी नम्रता[3] बढ़ती है।

सत्य शुद्ध होने का गुण है। यह सरल है तथा कठोरता से रहित है। यह असत्य की कमजोरी या मुद्दे से मुसीबत में नहीं पड़ता है। एक सच्चा व्यक्ति सदैव सज्जन होता है। वह सुनिश्चित भी होता है, वह अपनी वाणी में कभी नहीं काँपता है क्योंकि वह सभ्य या क्रोध से रहित है।

सत्य सदैव विजयी होता है। यह दूसरों का विश्वास तथा आत्मविश्वास जीतता है । यह संसार में समस्त अच्छे कार्यों का आधार है। इसके बिना व्यक्ति की या समाज की वास्तविक उन्नति विस्तृत रूप में नहीं हो सकती। सत्य वचना बोलना छोड़ना चाहिए जहाँ पर कि दूसरे की हानि होने की संभावना हो। इससे वहाँ भी बचना चाहिए जहाँ यह दूसरों के दुर्भाग्य का कारण हो। वे व्यक्ति जो सत्य बोलते हैं उन्हें मधुर वचनों का प्रयोग करना चाहिए जिससे दूसरे क्रुद्ध न हों।

उत्तराध्ययन सूत्र भाव सत्य, कारण सत्य तथा योग सत्य के विषय में कहता है जिसका क्रम से मतलब होता है। मन की नियमितता, धार्मिक कर्तव्यों का ईमानदारी से पालन तथा कर्तव्य परायणता। विचारों की सच्चाई का सत्य पूर्णतः मन को शुद्ध करता है तथा व्यक्ति को पूर्ण रूप से धर्म का अभ्यास करने में मदद करता है[4]। विचारों की ईमानदारी से किया हुआ अभ्यास किसी व्यक्ति के इकट्ठे किये हुए कर्मों से मुक्त करता है तथा नये कर्मों के आस्रव को रोकता है। सत्यपूर्ण क्रियायें प्रसन्नता और प्रेम को जन्म देती हैं।

5. उत्तम शौच या उत्तम शुद्धता- शुद्धता मन को सजावट और लोभ से शुद्ध करती है तथा सन्तोष और समता प्रदान करती है। आन्तरिक शुद्धि हुए बिना बाह्य शरीर की स्वच्छता से कोई उद्देश्य हल नहीं होता है। आन्तरिक शुद्धता प्रायः क्रोध, मान, माया और मोह से आच्छादित है। आत्मा की वास्तविक शुद्धता इन कमजोरियों से छुटकारा पाना है जो लोक में समस्त दुःखों का स्रोत है। आत्मा शरीर से भिन्न है तथा

इन्द्रियों की सजावट को कभी भी आत्मा की शुद्धता को मलिन करने की आज्ञा नहीं देना चाहिए।

मन और विचरों की शुद्धता के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आवश्यक हैं। इनके बिना अस्तित्व, इन्द्रियाँ, शरीर तथा आमोद, प्रमोद हमें सही मार्ग से भटका सकते हैं। शुद्धता तब तक नहीं प्राप्त की जा सकती है, जब तक इन पर नियंत्रण न हों और ये दबा नहीं लिए जाँय। अहिंसा,सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य तथा राग रहितता से गिरने का फल आत्मा का अपवित्र होना है। इससे नए कर्मों का आस्रव शीघ्र होता है। अतः पाँच व्रतों का पालन आत्मा की शुद्धता की अनिवार्य शर्त है।

सामान्य जीवन में मनुष्य धन की प्राप्ति में व्यस्त रहता है; क्योंकि वह विचार करता है कि वह जीवन के भोगों की प्राप्ति में उसकी मदद करेगा। सांसारिक आमोद-प्रमोद इसका हेतु हैं। ऐसा करने में उसे उन क्रियाकलापों में संलग्न रहना है, जो कि उसे काषायिक तथा अशुद्ध विचारों में संलग्न करते हैं। वह हानि की ओर ध्यान नहीं देता है। वह अपने स्वार्थिक अन्त की प्राप्ति का कारण होता है। वह दूसरों से घृणा आमंत्रित करता है तथा कठोरता का सृजन करता है। जीवन एक विक्षोभ हो जाता है तथा वह संघर्ष में मन का संतुलन खो देता है। वह दूसरों के विषय में बुरा विचारता है तथा दूसरे लोग उसके विषय में बुरा सोचते हैं।

रहने के इस प्रकार के मार्ग लगातार बुरे कर्मों के आस्रव के स्रोत बन जाते हैं तथा मानवीय अस्तित्व के उद्देश्य का निषेध कर देते हैं। मनुष्य जन्म बड़ा कठिन है तथा इस अवसर का उपयोग अच्छाई के लिए करना चाहिए, कर्मों के उपशम तथा आत्म साक्षात्कार के लिए करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को दीर्घ नहीं बना सकता है तथा गलत सिद्धान्तों से चिपकने से आत्मा अनेक संसार भ्रमण के जाल में फँसती है तथा जीवन और मरण में अधोगमन करती है। केवल एक मात्र सुरक्षा गुणों की प्राप्ति तथा जीवन के उद्देश्य के प्रति जागरूकता बनाए रखने में है।

हम जीवन के उद्देश्य को जीवन की शुद्धता की प्राप्ति में अनुभव करते हैं। इसके लिए आत्म संयम तथा इच्छाओं पर विजय तथा का सहारा लेना चाहिए, ताकि शरीर आत्मा की शुद्धि के लिए मात्र एक उपकरण हो।

6. उत्तम संयम या पूर्ण आत्म संयम - हिंसात्मक विचारों से छुटकारा तथा ऐन्द्रियिक विचारों से मनोविनोद को छोड़ना तथा विषयजन्य सुख का त्याग आत्मसंयम है। इससे नए कर्मों का आस्रव रुकता है। यह अच्छे चरित्र का आधार है। आत्मसंयम

के साथ व्यक्ति अपने पर आधिपत्य कर सकता है तथा समस्त कषायों पर नियंत्रण करता है।

विचार, वचन तथा कर्म पर नियंत्रण आत्मसंयम है। यह शुद्ध जीवन तथा धर्म का आधार है। आत्मसंयम को प्राप्त करना कठिन है। इसमें धर्म पर विश्वास की आकांक्षा होती है तथा अन्त में नैतिक चारित्र पर विश्वास अपेक्षित है। यदि अच्छे व्यक्तियों का संग हो तथा घर पर अच्छी नैतिक परम्परा हो तथा तत्काल का वातावरण हो तो आत्म संयम की प्राप्ति सरल हो जाती है। आज हमें सूचना मिलती है कि हम समाज के मध्य रहते हैं। जहाँ पर विचारों में तथा कर्म में कमी दिन का क्रम है। कोई व्यक्ति जो जीवन में आत्मसंयम की वकालत करता है, उसका उपहास एक रूढ़िवादी व्यक्ति के समान होता है। मूल्य बदले हुए प्रतीत होते हैं; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र जीवन के प्रति प्रेम है। यह निषेध नहीं किया जा सकता है कि भारतीय संस्कृति ने इस बात पर सदैव जोर दिया है कि शान्तिपूर्ण जीवन के लिए दूसरे व्यक्ति का संयम आवश्यक है। यदि स्वत्रन्त्र जीवन की प्रवृत्ति पर समय पर अंकुश न हो तो कोई भी व्यक्ति सरल और इन्द्रिय सुख की ओर उन्मुख हो सकता है। तब आत्मसंयम की प्राप्ति एक असंभव कार्य होता है।

इस प्रकार के जीवन का त्याग करने के लिए मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा तथा महानता का त्याग करना होता है। मन वैषयिक विचारों से भर जाता है तथा इसकी समस्त शक्ति विनष्ट हो जाती है। तब विचारों के सन्तुलन तथा चारित्र की शुद्धता को प्राप्त करना कठिन होता है। एक व्यक्ति जो इस प्रकार की स्थिति का शिकार होता है, वह कभी भी अपने मन और बुरे कर्मों का उपशम करने के योग्य नहीं होता है, ताकि उन कर्मों का उपशम कर दे जो अभी तक उसके कष्ट और संसार भ्रमण का कारण है तथा उस घटना में कोई मनुष्य जन्म का अवसर पुनः प्राप्त नहीं कर सकता है, जो कि शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करने का एक मात्र अवसर है। सांसारिक जीवन के सुख निः सन्देह क्षणिक हैं, किन्तु कोई यह भविष्य वाणी नहीं कर सकता है कि किस स्थिति तक एक मनुष्य का पतन हो सकता है। इससे पहले कि वह जागृत हो, जैसे कि पतंग रोशनी से आकर्षित होकर उसका स्पर्श करता है और उसका परिणाम मृत्यु है। उसी प्रकार से एक मनुष्य ऐन्द्रियिक सुख के प्रति आकर्षित होने के कारण शारीरिक और नैतिक पतन का कारण बनता है।

त्याग कम हो या अधिक वह आत्मसंयम की सीढ़ी है। एक व्यक्ति के लिए संसार में प्रत्येक इन्द्रिय के लिए बहुत आनन्ददायक सुख हैं। जो व्यक्ति सुखों और

भोगमय जीवन से परिचित है, उस व्यक्ति की जागरूकता उसे इस पतन से बचा सकती है, यदि वह सत्य पथ पर चलने के लिए सजग है।

बिना आत्मसंयम के एक व्यक्ति अंधे रूप में अपने अच्छे भाग्य का होकर रह रहा है, जो कि उसे मनुष्यत्व के रूप में मिला है तथा एक चमकते हुए काँच के टुकड़े के लिए जीवन का अमूल्य हीरा खो रहा है। बिना आत्म संयम बुद्धि और शरीर आत्मिक उत्थान की प्राप्ति के लिए कार्य नहीं करेगा। चाहे भले ही सबसे धीमी सम्भावित पद्धति क्यों न हो।

यह बात प्रमाणित है कि विचारों तथा मन के ऊपर पूरे नियंत्रण बिना कोई व्यक्ति सही त्याग नहीं कर सकता। बिना आन्तरिक शुद्धि के उपवास और तप व्यर्थ हैं। आत्मनिरीक्षण तथा प्रायश्चित सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन,सम्यज्ञान में जड़ जमाए हुए हैं जो कि अकेले आत्मा की विभिन्न कर्मों से मुक्त होने में मदद कर सकते हैं।

7. **उत्तम तप** - रुके हुए कर्मों को नष्ट करने में अपने को तपाना तप है। बाह्य तप छह प्रकार के होते हैं तथा आन्तरिक तप भी छह प्रकार के होते हैं। उमास्वामी के अनुसार बाह्य तप में 1. अनशन 2. अवमौदर्य 3. वृत्ति परिसंख्यान 4. रस परित्याग 5. विविक्त शय्यासन, तथा 6. कायक्लेश[5]। हम पहले ही देख चुके हैं कि जैनधर्म में उपवास को बड़ी महत्ता दी गई है; क्योंकि यह आत्मसंयम को प्रोन्नत करता है तथा बँधे हुए कर्मों को नष्ट करता है। यह एक समाधि का अवसर है, श्रुताध्ययन तथा आत्मिक उत्थान का अवसर है। केवल अच्छे स्वास्थ्य के लिए ही खुराक पर नियंत्रण अच्छा है, अपितु आत्म संमय के विकास के लिए भी अच्छा है, सन्तोष तथा जीवन की स्वाध्यायशीलता के लिए भी यह अच्छा है। आहार ग्रहण करने के साधुओं के लिए हेतु घरों की संख्या पर भी नियंत्रण है। अच्छे और सुस्वादु भोजन को छोड़ना भी संयमी जीवन के लिए आवश्यक है। यह इन्द्रियों की उत्तेजना को मोड़ता है तथा यौन संयम पालन करने की सुविधा प्रदान करता है। एक संन्यासी को एक निवास का चयन करना होता है, जो कि एकान्तमय हो ताकि वह ब्रह्मचर्य की व्यवधान रहित जीवन बिताने की ओर अग्रसर कर सके। ध्यान का अध्ययन, शरीर पर नियंत्रण भी उनके लिए है, जो तप करते हैं, प्रमाद ताकि वे राग तथा भोगों से स्वतंत्र हो सकें तथा आत्मध्यान कर सकें।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान; ये आन्तरिक तप हैं। ये मन को प्रशिक्षण देने के लिए हैं। पुराने पापों पर पछतावा; जो कि प्रमाद से किए गए हैं या कषायों के प्रभाव से किए गए हैं, प्रायश्चित्त है। साधुओं के प्रति विनय तथा

उन्हें लाभदायक सेवा प्रदान करना दूसरे मानसिक अनुशासन हैं, जिनका इरादा मन को पवित्र करना है। एक दूसरा आन्तरिक तप आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति है। अहंकार पर नियंत्रण त्याग है। आत्मस्वभाव पर समस्त विचारों का केन्द्रीकरण ध्यान है।

तप का पालन करना आत्मिक शक्ति या महानता की प्राप्ति की सीढ़ियों का पत्थर है। किसी व्यक्ति को ऐन्द्रियिक सुख के जीवन से अपने आपको हटा लेना चाहिए तथा भौतिक पदार्थों से विराग धारण करना चाहिए। आन्तरिक तप बाह्य विराग पूर्ण होना चाहिए। मनुष्य तब अच्छी तरह नहीं रह सकता जब तक कि आत्मा कुछ हद तक कर्मों को हटाकर अग्रगामी न हो। जीवन में सबसे बड़ी कठिनाई मोह से मुक्ति है; क्योंकि कषायें आत्मा को विपरीत परिणमित कर देती हैं। तप कषायों से छुटकारे का पूरा साधन है। तप की सर्वोच्च दशा तक पहुँचने से ही यह संभव है कि महान् आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया। प्रत्येक व्यक्ति तप का सम्भव हद तक अभ्यास कर सकता है। किसी व्यक्ति की मानसिक और आत्मिक शक्ति को मन में रखना चाहिए।

जैनधर्म तप को सबसे अधिक महत्त्व देता है। आत्मा के गुणों को समृद्ध करना वास्तविक तप है। तप से व्यक्ति एकत्रित कर्मों को नष्ट करता है तथा मन और विचारों की शुद्धि प्राप्त करता है[6]।

8. उत्तम त्याग - यह व्यवहार में एक कठिन गुण है। इस संसार में मनुष्य की सामान्य पहचान उसके धन से होती है, शक्ति तथा स्थिति से होती है। धन की प्राप्ति के समस्त रूप कुछ तराशने से प्राप्त किये जाते हैं, यदि लोभ न हो। इस गुण पर ध्यान देने का पहला गुण है कि प्राप्ति के लिए विरुद्ध कठोर इरादा रखा जाय। दूसरा सोपान है अच्छे कार्य के लिए दान,त्याग के रूप में किया जाय। जैनधर्म का मानना है कि प्रत्येक गृहस्थ को भोजन देने, शरण देने, औषधि देने तथा ज्ञान देने की आवश्यकता उन लोगों के लिए है जो चाहते हैं।सभी या कुछ प्रकार का दान प्रतिदिन देना चाहिए। दान से उन दोनों को ही लाभ होता है जो देता है और जिसको दिया जाता है। वह जो अपना सारा समय इकट्ठा करने में लगाता है वह कषायों, लोभ तथा कलह में लगा रहता है, वह आत्मा के विषय में कोई विचार नहीं रखता है तथा कर्म के जंजाल से मुक्त होने के विषय में भी विचार नहीं करता। दान के विचार के बिना लगातार आकांक्षा अशुभ कर्मों का आश्रव कराने में अग्रगामी होती है। एक डंक मारने वाला व्यक्ति अपकीर्ति और द्वेष की वस्तु होता है। एक दान देने वाले व्यक्ति का आदर समाज में होता है तथा वह संतोष का जीवन व्यतीत करता है क्योंकि वह न तो डरता है और न लोभ करता है

जिसके कारण उसके मन की शान्ति में व्यवधान पड़े। यह स्मरण किया जाना चाहिए कि संसार अच्छे मनुष्यों के दान पर निर्भर करता है। हमें हर देश में धनी मनुष्यों की अपेक्षा निर्धन मनुष्य अधिक मिलते हैं। अतः यह सामाजिक दायित्व है कि कुछ न कुछ दान करना चाहिए, उसमें से जो उसके पास है, जबकि इस सामाजिक और नैतिक दायित्व को उदार दान से भरते हुए दान देने वाले को अभिमान नहीं करना चाहिए, उसे कोई बात ऐसी नहीं करना चाहिए जो कि लेने वाले को चोट पहुँचे या किसी प्रकार निरादर हो। देते समय मन प्रसन्नता से भरा होना चाहिए तथा संकीर्ण विचारों से पूरी तरह से मुक्त होना चाहिए ताकि जो कुछ वह दे रहा है वह उसका अपना हो। तथ्य यह है जो कुछ हमने दिया है वह अपना पीछा छोड़ चुका है। वह इस संसार से विदा होते समय दूसरे का हो जायेगा। अपरिग्रह के विषय में पाँच अणुव्रतों के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है तथा इस विषय में जो कुछ कहा गया है वह समान रूप से त्याग के विषय में लागू होगा।

9. उत्तम आकिंचन या पूर्ण अपरिग्रह- जिसके पास कुछ नहीं है वह अकिंचन है, अकिंचन के भाव को आकिन्चन्य कहते हैं। इस संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे कोई अपना कह सके। यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं है क्योंकि आत्मा स्वतंत्र है। धर्म के अभ्यास के लिए शरीर एक उपकरण है। यह नष्ट होने वाला है इस गुण का प्रयोजन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह से विश्वास और यथार्थ सत्य को अच्छी तरह से जानना चाहिए कि आत्मा के पास कुछ नहीं है जिसे कि हम अपनी कह सकें। उसके पास अनन्तज्ञान और सुख है। प्रत्येक वस्तु जैसे शरीर, रिश्तेदार, जाति तथा वंश आदि, इन सबका शरीर के साथ सम्बन्ध है। यह इस प्रकार के विचार के पोषण से हो सकता है कि वह जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। अहम् को दबाना बहुत कठिन होता है तथा सामान्य मनुष्य के लिए यह असंभव होता है। एक व्यक्ति का जीवन लगातार मैं के विचारों से पोषित होता है। मैं, मेरा और हमारा; इस प्रकार के विचार सांसारिक अस्तित्व के लिए उत्कृष्ट हैं तथा हमारे कर्मों के फल के लिए यह यथार्थ है। अकिंचन मन में तथा प्रयोग में धीरे-धीरे विकसित होता है और यह सर्वोच्च धर्म का ही सुनिश्चित पथ है, यह अच्छाई की प्राप्ति के लिए पहला पाठ है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य- पाँच अणुव्रतों के विषय में जब हम विचार कर रहे थे तो इस विषय का वर्णन हुआ है। आत्मा के प्रति या ब्रह्म के प्रति लगातार जागरूकता जो कि विषय-भोगों के प्रति सांसारिक अस्तित्व से ध्यान भंग करती है उसका नाम ब्रह्मचर्य

है। यौन की भावना, मन की स्थिरता को नष्ट करती है। कषाय किसी भी प्रकार की हो; वह आत्मिक उन्नति के लिए खतरनाक है। विषय भोगों के प्रति आसक्ति यदि अनियंत्रित हो तो वह समस्त प्रकार के पापों में लगा देती है। दूसरी समस्त बुराइयों के समान यह गुप्त रूप से की जाती है। इसे आच्छादित करने के लिए बहुत सारे कार्य जो नैतिक रूप से निंदनीय हैं; किए जाते हैं। उनके कारण व्यक्ति अपराध कर बैठता है। पापों के बन्धन से बचाना गुणों का प्रयोग करना है। ये दश प्रसिद्ध गुण जैन नीतिशास्त्र को रूप देते हैं। यह प्रायः कर कहा जाता है कि गुण अपने-आप में एक पुरस्कार है। इसका साधारण सा अर्थ यह है। कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष के प्रति इस प्रकार के गुण में का आदर करता है या नहीं ? गुणों का परिष्कार या अभ्यास आत्मा को उठाएगा तथा उसके सामाजिक कल्याण में योग देगा। मन का बुरा झुकाव मुड़ जाता है तथा बर्बाद कषाएं नष्ट हो जाती हैं। एक व्यक्ति जो इन गुणों को प्राप्त कर चुका है वह अपना पुरस्कार अपनी आत्मा को आत्मिक उन्नति के रूप में प्राप्त करता है। वह अज्ञान और कषायों से रहित होता है और निश्चित रूप से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है तथा समस्त चालाकियों को जीतता है। प्रत्येक आत्मा की विशेषताओं में ये समस्त गुण छिपे हुए हैं। जो कुछ छिपा हुआ है उसे समझना चाहिए और अनुभव करना चाहिए।

जैन नीति शास्त्र का यह प्रयोजन है। ये निषेधात्मक नियम नहीं है। यद्यपि वे निषेध में संलग्न हैं जो अच्छा नहीं है और जो स्वयं के लिए तथा सोसायटी के लिए हानिकारक है। वे मानवीय क्रिया के प्रत्येक पहलू को आच्छादित करते हैं तथा निर्देशन के लिए बहुत व्यावहारिक नियम स्थापित करते हैं। अच्छाई की बुराई पर जीत है। यह विचार मुख्य रूप से रेखांकित करने योग्य है कि लोक आत्माओं और पुद्गल से बना है। और उनका मिलन विभिन्न प्रकार के जीवों के रूपों की सृष्टि करता है। एक दूसरे में नहीं बदल सकता। जीव चैतन्य है। एक जीव के लिए यह संभव है कि वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो और पूर्णता को प्राप्त करे। कर्मों को नष्ट किया जा सकता है तथा नये कर्मों के आस्रव को रोका जा सकता है। जैनधर्म के समस्त भौतिक नियम बहुत बड़ी आवश्यकता के प्रति जागरूकता पैदा करने तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिये हैं ताकि चारित्र आन्तरिक अच्छाई का प्रगटीकरण हो या आत्मा में जो सत्य और अच्छाई है उसका सुस्पष्टीकरण हो।

दशधर्म दश न बुझने वाले दीपक के समान हैं जो जीवन के पथ को प्रकाशित करते हैं जब इन धर्मों का अभ्यास किया जाता है तो समस्त अंधकार या चालाकी टूट

हो जाती है तथा इससे यात्रा सुगम बनती है। समस्त प्राणियों को क्षमा कर दो ताकि आपकी सदैव के लिए क्षमा हो जाय। नम्रता का अभ्यास करो ताकि तुम उससे भी अधिक जान सको जो कि आँखों से देखकर जाना जा सकता है।

सरल बनो तथा तुम्हें किसी व्यक्ति से डरने का अवसर नहीं रहेगा। मन और विचारों की शुद्धता जीवन को सदैव जागरूक रखेगी। सत्य की सदैव जीत होगी। आत्म संयम एक अपराजेय शस्त्र है। तप, आन्तरिक शक्ति के लिए न हारने वाली कुंजी है जबकि त्याग तथा अपरिग्रह सदैव व्यक्ति के जीवन को गड्ढे में गिरने से बचाते हैं। ब्रह्मचर्य कुछ नहीं है अपितु आत्मा को जानने की मजबूत प्रेरणा है। यह अपरिणीत कषायों के द्वारा आत्मा को घसीटने से रोकती है ताकि निम्न जीवन के रसातल में न गिरे।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-29,सूत्र 18, पृ. 305,सम्पादिका-साध्वी चन्दना, वीरायतन पब्लिकेशन, आगरा-2
2. सेक्रिड बुक ऑफ दि ईस्ट : जैन सूत्र, जिल्द-45, सूत्र-18,पृ.169 हर्मन जैकोबी द्वारा अनुवादित भाग-2, डोबर पब्लिकेशन आई.एन.सी. न्यूयार्क।
3. मैसेज ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 7-8 संकलन तथा सम्पादक-यू.एस. मोहनराय, पब्लिकेशन डिवीजन मिनिस्ट्री ऑफ इनफारमेशन, न्यू दिल्ली।
4. सेक्रिट बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जैन सूत्राज, जिल्द-45,पेज 160 तथा 169 सेक्शन नं. 2 (ऊपर)
5. रीयलिटी, अध्याय-9, सूत्र-19 तथा 20, सम्पादक-श्री एस.ए.जैन
6. सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जैन सूत्राज, जिल्द-45, व्याख्यान-29, सूत्र-28

❑❑❑

अध्याय-16

साधु का नीतिशास्त्र

पृथ्वी पर मनुष्य जीवन प्राप्त करना कठिन है। जब इसे एक बार प्राप्त कर लिया गया तो हमारा उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के लिए कर्म को नष्ट करना हो। जाता है। मशीन तथा भौतिक आमोद-प्रमोद जो कि इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, जिस पर हमारा धन, स्थिति या शक्ति हमारी आज्ञा पर उपस्थित रहती है; उस पर हमारा ध्यान नहीं जाना चाहिए।

ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त सरल व्याख्यान है; जो कि एक गृहस्थ को पालन करना चाहिए। इसमें ऊपर उठने की एक स्नातकीय योजना है जो कि संन्यास के मार्ग की ओर ले जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्यक् चारित्र के लिए जो नियम बनाये गये हैं वे कठोर और श्रम साध्य हैं किन्तु वे एक संन्यासी के जीवन की तैयारी है कि उस संन्यासी को अंतिम सोपान तक पहुँचना है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक समय आता है और एक समय आयेगा जो कि सम्यग्दर्शन से प्रभावित होगा; जबकि वह उसको नियंत्रण करने में तथा अंगीकार करने के योग्य होगा। जब तक वह समय आता है तब तक किसी प्रकार की यह अनिवार्यता नहीं है। प्रत्येक के लिए जो आवश्यक है वह है हमारे ही तरह अनुशासन[1] का प्रशिक्षण। एक गृहस्थ से आगे बढ़कर संन्यासी बनने की सीढ़ी में समस्त सांसारिक कार्यों से पृथक्करण निहित रहता है तथा छोटे-बड़े सभी सम्बन्धों की तीव्रता से पृथक्करण आवश्यक है तथा इन्द्रियों व मन पर विजय प्राप्त करना भी जरूरी है अंत में उसका मन पाँच प्रकार के साधनों के आचार में व्याप्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार से युक्त एक बड़े साधु के साथ में सम्मिलित होता है जो कि रहस्यात्मक विशेषताओं से अलंकृत हो। जो गुणों से युक्त हो; जो कि बड़े संघ से जुड़ा हुआ हो, जिसका शरीर आकर्षण करने योग्य हो, जो परिपक्व अवस्था वाला हो तथा जो

मानसिक विक्षिप्तता से रहित हो तथा दूसरे संघ जिसका सम्मान तथा गुणगान करते हों तब उससे दीक्षा के लिए अनुनय करता है[2]।

एक व्यक्ति जो साधु के रूप में दीक्षित हुआ हो वह दीक्षा के समय नग्न हो जाता है। अपने हाथों से केशलोंच करता है तथा महाव्रत का अभ्यास करता है अंतः एक गृहस्थ जो व्रतों और तपों का पालन स्थूल रूप में कर रहा था; साधु होते हुए उससे यह आशा की जाती है कि वह सच्चे विश्वास और दृढ़ता से अभ्यास करे। उसे 28 मूलगुणों का पालन करना चाहिए। वे हैं पाँच महाव्रत-1. अहिंसा 2..सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह, पाँच समितियाँ- 6. चलते समय सावधानी रखना चाहिए (ईर्या) 7. बोलते समय सावधानी रखना चाहिए (भाषा) 8. भोजन ग्रहण करते समय सावधानी रखना चाहिए (एषणा) 9. वस्तुओं को उठाते एवं रखते समय सावधानी रखना चाहिए (आदान निक्षेपण) 10. सावधानीपूर्वक मलमूत्र का विसर्जन करना चाहिए (प्रतिष्ठापन) पंचेन्द्रियनिरोध- 11. स्पर्शन 12. रसना 13. सूँघना (घ्राण) 14. देखना 15. सुनना; इन सब पर वह नियंत्रण रखे। इसके अतिरिक्त उसे छह आवश्यकों का पालन करना होता है। 16.आलोचना, 17.प्रत्याख्यान, 18. प्रायश्चित्त, 19.प्रतिक्रमण, 20. शरीर के प्रति निर्ममत्व, 21.कायोत्सर्ग। इनके बाद विशेषण गुणों का पालन करना होता है- 22. केशलोंच, 23. नग्नता, 24. अस्नान, 25. दंतधावन नहीं करना, 26.खड़े-खड़े भोजन करना, 27.दिन में एक बार भोजन करना, 28. जमीन पर सोना।

एक साधु इस बात के लिए सजग रहता है कि इन मूलगुणों का नियम भंग न करे। यदि वह नियम भंग करता है तो अपने गुरु के पास जाता है। अपने पापों का प्रायश्चित करता है और अपनी भूल सुधारता है। प्रमाद सबसे बड़ा शत्रु है अतः साधु हमेशा सजग रहता है। केवल वह राग ही नहीं रखता अपितु संसार से पूरी तरह से निर्लिप्त रहता है और उसके प्रलोभनों से भी दूर रहता है। उसकी आँख मुक्ति पर लगी रहती है अतः वह लगातार मन के शुद्ध व्यवहार को बनाये रखता है तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पालता है। उसके उपदेश तथा दूसरी क्रियायें वृद्धि की ओर लगी रहती हैं। एक निर्ग्रन्थ होते हुए भी वह कोई व्यापार नहीं करता है। मुनि के समान कठोरता करना नारी के लिए संभव नहीं है; क्योंकि उनकी स्वाभाविक अयोग्यताएं होती हैं। वे दीक्षा ले सकती हैं लेकिन उनका पालन मध्यम रीति से या कुछ कम कठोरता से होता है[3]।

पाँच व्रतों के नाम हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, जिन्हें एक गृहस्थ एक छोटे स्तर पर (स्थूल रूप में) पालन करता है। उस साधु से यह अपेक्षा

की जाती है कि उनका पालन पूर्ण रीति से करे। उनके लिए किसी प्रकार का अतिचार लगाने की अनुमति नहीं है जिन अतिचारों की सूचना पहले ही दी जा चुकी है; जबकि पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया जा रहा था। यह काफी नहीं है कि एक साधु केवल किसी स्थावर या त्रस जीव की हिंसा को छोड़ दे, अपितु उसे मन, वचन और काय से भी व्रत का पालन करना चाहिए, ताकि वह सजगता की सर्वाधिक उच्च स्थिति का पालन कर सके एवं अपने चलने,विचारों, भोजन और पेय में सजगता रखे। सत्यव्रत उसे क्रोध, लोभ, भय और मोह से मुक्त रखता है; ताकि जो कुछ वह कहता है वह दोष या किसी प्रकार की अपवित्रता से मुक्त हो। अस्तेय या अचौर्य का व्रत केवल उस वस्तु को नहीं ग्रहण करने से नहीं है; जिसे दिया नहीं गया हो अपितु अपने आप पर आरोपित सीमाओं के पालन करने से है, जैसे-भोजन माँगना, भोजन और दान को अधिक शुद्धता से ग्रहण करना, आवश्यकता से कम तादाद में ग्रहण करना तथा रहने के स्थान का चयन; चाहे वह वन में हो या निश्चित स्थान पर हो। ब्रह्मचर्य व्रत संबंध केवल यौन मैथुन छोड़ने से ही नहीं, अपितु उसके मन में काम की भावना ही न आए। उसे ऐसा भोजन नहीं लेना चाहिए जो उसकी विषय वासना को उत्तेजित करे। उसे ऐसी स्त्री के विषय में विचार नहीं करना चाहिए, जिससे कि अपने में विषय वासना जागृत हो या स्त्री में जागृत हो। उसे पूर्व में ही गई रति का स्मरण न हो। अपरिग्रह से तात्पर्य केवल बाह्य परिग्रह या सम्पत्ति के त्याग से ही नहीं है, अपितु शरीर के राग का त्याग या शारीरिक आवश्यकताओं के त्याग से है। उसे अपनी इच्छायें त्याग देनी चाहिए। उसे अपने साथ संलग्न शरीर को भी अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, इसे धर्म पालन का ही एक उपकरण मानना चाहिए तथा त्रिरत्न की अनुभूति का साधन मानना चाहिए। उसे शास्त्र (ज्ञानोपधि), मयूर पंख की पिच्छी तथा कमण्डलु (शौचोपधि) के प्रति आकर्षण नहीं होना चाहिए। संक्षेप में उसका परिग्रह के त्याग का दृष्टिकोण होना चाहिए।

पाँच महाव्रतों के अतिरिक्त, जहाँ पाँच अणुव्रत के विषय में वर्णन किया जा रहा था, उसे पाँच प्रकार की समितियों (सावधानीपूर्ण व्यवहार) का पालन करना चाहिए। इनका उद्देश्य मन तथा चारित्र को प्रशिक्षण देना है, ताकि उनकी दूसरे व्रतों के साथ सुनिश्चितता हो सके। वे हैं-

1. ईर्यासमिति- ऐसे रास्ते से जाना; जो कि मनुष्यों, जानवरों तथा गाड़ियों आदि से कुचला गया हो तथा भूतल पर जाते हुए सावधानी रखना ताकि जाते समय किसी जीवित प्राणी की मृत्यु न हो।

2. भाषा समिति का सम्बन्ध सज्जन, नमस्कारयुक्त, मधुर और सही कथन से है।

3. एषणा समिति का अर्थ है 46 दोषों से रहित भोजन ग्रहण करना; जो कि शास्त्र में कहे गए हैं।

4. आदान निक्षेपण समिति- आदान निक्षेपण समिति का सम्बन्ध धार्मिक अभ्यास के लिए आवश्यक वस्तुओं को सावधानी से उठाना, रखना।

5. उत्सर्ग समिति- प्रासुक भूमि पर मल-मूत्र का क्षेपण करना[4]। जैकोबी ने इन्हें प्रवचन मातृका कहा है। इनसे आत्मसंयम में वृद्धि होती है, जिससे कषायों का उपशम होकर आध्यात्मिक विकास होता है। समितियों का पालन अत्यधिक सावधानी से करना चाहिए तथा इनसे प्राणि रक्षा में सहायता मिलती है।

अच्छे अनुशासित साधु का गमन चार रूपों में शुद्ध होना चाहिए- 1. कारण शुद्धि 2. काल शुद्धि 3. मार्ग शुद्धि 4. प्रयत्न शुद्धि। कारण शुद्धि है-सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र। गमन का कोई उद्देश्य होना चाहिए। उसे उद्देश्य रहित तथा असावधानी से नहीं घूमना चाहिए। उसके गमन का समय दिन का समय ही है। मार्ग; जो कि वह चुनता है, वह घास तथा अन्य वनस्पतियों के कारण बुरा नहीं हो। उसे चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना चाहिए। जब वह अपने गमन में जागरूक हो तो उसे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय का त्याग करना चाहिए। उसे आपत्ति रहित तथा संक्षिप्त बोलना चाहिए। जब वह भोजन के लिए निकले तो उसे भोजन करते समय के दोषों को दूर करना चाहिए। प्रयोग के पात्र तथा निवास के दोषों को भी दूर करना चाहिए[5]।

मल-मूत्र वगैरह का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जो न तो मुक्त हो तथा लोगों के दृष्टिपथ में न आए। जो उसके आत्मसंयम में विघ्न न करे। जो घास और पत्तियों से आच्छादित न हो। जो अचित्त तथा अवकाश युक्त हो, जीव और बीजों से रहित हो। इस प्रकार समितियाँ सावधानी से अभ्यास करने हेतु हैं। इसमें प्रत्येक प्रकार के गमन के नियम हैं, ताकि दूसरे जीवों की हिंसा से बचा जा सके।

गुप्ति का लक्षण किया गया है- भली प्रकार मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध-"सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः।" गुप्तियाँ तीन होती हैं- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। विषय भोगों के जंगल में मन को भटकने से रोकना मनोगुप्ति है। एक साधु को अपने मन को वश में करना चाहिए। उसे ऐसे विचारों का प्रवेश नहीं कराना चाहिए, जो दूसरे जीवों को दुर्भाग्य लाए या दूसरों का विनाश करे। वचन गुप्ति वचन पर नियंत्रण

करने के लिए है, जिसमें झूठ या झूठ मिले हुए वचन न बोले। वह गाली देने वाली भाषा न बोले या ऐसी भाषा न बोले जो दूसरों के लिए हानिप्रद हो। उसे शान्ति रखना चाहिए तथा दूसरों से बुरे वचन नहीं बोलना चाहिए। वह शरीर के हलन-चलन करने में, खड़े होने में, लेटने में इस प्रकार प्रवृत्ति करे, जिसमें किसी प्राणी को कष्ट न हो और उसकी हिंसा न हो। बुरे कार्य, विचार या शरीर की प्रवृत्ति के लिए कोई अवकाश का स्थान न हो। साधु की सारी क्रियायें अपने और दूसरे की भलाई के लिए हो। आगे हम पाँच इन्द्रियों पर नियंत्रण करने हेतु आते हैं; वे पाँच इन्द्रियाँ हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्ण। जीव और पुद्गल के निर्देश के मध्य में सुसंगत संघर्ष है। यदि हम पुद्गल का पोषण करते हैं तो उससे हमें संसार मिलता है। इसके अतिरिक्त यदि हम जीव का पोषण करते हैं तो हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। योगेन्दु देव ने प्रभावात्मक रूप से इस बात का कथन किया है कि किस प्रकार एक या अधिक इन्द्रियों की अधीनता विनाश की ओर अग्रसर करती है। एक सुन्दर पतंगा जो कि लैम्प से लाइट के सौन्दर्य को अंगीकार करती है वह मृत्यु को प्राप्त करती है। एक हिरण जो कि शिकारी के द्वारा शब्द से आकर्षित हो जाता है वह उसके बाण का शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। एक हाथी जो ठंड के लिए एक तालाब में गिर जाता है वह गुलामी में ठकेल दिया जाता है। भौंरा, जो कि कमल की सुगन्धि के प्रति आकर्षित है वह इसमें बन्द हो जाता हैं तथा जब सूर्यास्त होने पर कमल बन्द हो जाते है तब वह मर जाता है। एक मछली जो सुन्दर खाद्य पदार्थ के साथ धीवर के द्वारा जाल फेंकने से उस जाल में फँस जाती है और पकड़ी जाती है। इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियाँ यदि आत्मसंयम के द्वार संयमित नहीं हैं तो वे मुक्ति की आशा के बिना मृत्यु के मुँह में फेंक देती हैं। इस कारण से एक साधु को अपनी इन्द्रियों पर पूरी तरह से संयम रखना चाहिए।

छह आवश्यक कर्तव्य जो कि आत्मिक भलाई की बढ़ोत्तरी के लिए आत्मा के सन्दर्भ में किये जाते हैं उन्हें प्रतिदिन निरन्तराय करना चाहिए। वे लगातार साधु को यह याद दिलाती हैं कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द ने उनकी गणना नियमसार में इस प्रकार से की है-1. प्रतिक्रमण, 2. प्रत्याख्यान, 3. आलोचना, 4. कायोत्सर्ग, 5. सामायिक, 6. परमभक्ति।

1. प्रतिक्रमण- प्रतिक्रमण एक पछतावा है या आत्म निरीक्षण है। यह मन की समता के लिए तथा सम्यक्चारित्र के लिए आवश्यक है। वह व्यक्ति प्रतिक्रमण को धारण करता है जो व्यक्ति प्रतिक्रमण का पालन करता है। वह वाणी की क्रियाकलाप

को छोड़कर तथा मलिन विचारों से छुटकारा प्राप्त कर अपने निजी आत्मा के स्वभाव पर ध्यान लगाता है। मलिन विचार की क्रिया क्रोध, राग आदि है। यह मलिन विचार की क्रियाओं के दोहराने से रोकती है तथा चारित्र के नियमों के अतिचारों को रोकती है। उस व्यक्ति को समस्त गलत मार्ग तथा गमन को छोड़ना पड़ता है तथा उस मार्ग पर जाना होता है जो जिनों ने दिखलाया है। वह सीखता है कि वह काय, मन और वचन पर नियंत्रण रखता है। वह केवल सद्विचारों को प्रविष्ट करता है तथा समस्त दुःख पूर्ण और बुरी लेश्याओं को छोड़ता है। इस प्रकार समस्त बुरे मार्ग को छोड़कर वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पाता है। वह आत्मा की सर्वोच्चता का अभ्यास करता है तथा अपने आपको आत्मिक विचारों में लवलीन करता है। संक्षेप में वह अपनी भूलों की पुनः गणना करता है तथा सम्यक्चारित्र तथा विचारों के नियमों तथा अतिचारों पर हुई भूल को फिर से देखता है तथा शुद्धआत्मा की अनुभूति में मन को लगाता[7] है।

2. प्रत्याख्यान- समस्त सांसारिक विचारों से संन्यस्त होता प्रत्याख्यान है। वह अपने आपको समस्त कषायों से मुक्त करता है तथा समस्त प्रलोभनों का बहादुरीपूर्वक सामना करता है तथा अपने आपको अशुभ विचारों से दूर करता है जो कि संसार भ्रमण के कारण हैं। वह बुरे कर्मों के गड्ढे में गिरने से बचने के लिए दृढ़ इरादा करता है। वास्तविक त्याग में आत्मा अपने शुद्ध विभाव की शरण जाता है तथा दूसरे विचारों को अपने को ग्रसित करने की अनुमति नहीं देता है जो कि अपने से संबंधित नहीं है। इस प्रकार के त्याग में एक साधु अपने आपको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सुखी मानता है। वह स्वयं शुद्ध (चैतन्य की अनुभूति करने वाला होता है।) चैतन्य को आरोपित करने वाला होता[8] है।

3. आलोचना- आलोचना अपना दोष स्वीकार करना है। यह उस साधु में होती है जो आत्मध्यान में लीन रहता है तथा कर्म और नोकर्मों से मुक्त हो रहा होता है तथा अप्राकृतिक गुणों और पर्यायों से रहित होता है, जिसे प्रायः कर सांसारिक आत्मा प्राप्त करती है[9]। दोष स्वीकार करने के पाँच भेद हैं- 1. आलोचना 2. आलुंचन (दूर करना) 3. अविकृतिकरण (विकार नहीं करना) 4. भाव विशुद्धि (विचारों की शुद्धि) आत्मा की अनुभूति (करना समता की प्राप्ति है)। समता की प्राप्ति आलोचना है।आलुंचन समस्त कर्मों को दूर करने की शक्ति की प्राप्ति है। जो व्यक्ति गुणों की प्राप्ति तथा समता के द्वारा अपनी आत्मा की अनुभूति करता है तथा कर्मों को नष्ट करता है वह अविकृतिकरण का अभ्यास करने वाला होता है। भावशुद्धि विचारों की शुद्धि है, जो

कि विषय-वासना, चोरी और लोभ पर विजय प्राप्त कर प्राप्त की जाती है। यह चार प्रकार के आलोचना का अभ्यास है जिससे कि एक साधु यथार्थ आत्मिक उन्नति प्राप्त कर सकता है तथा कर्मों के बंधन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। 5. प्रायश्चित्त- (पाप शोधन करना)। पाँच व्रत, पाँच समितियाँ, आत्म नियंत्रण तथा इन्द्रिय संयम के पालन करने से होता है जबकि यथार्थ में पाप शोधन आत्मध्यान से होता है जिसमें कि समस्त मन और वचन की अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा आत्मा के गुण ध्यान के द्वारा प्रकट होते हैं[10]। एक सन्त को क्षमा के द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। नम्रता के द्वारा अभिमान को जीतना चाहिए। ऋजुता के द्वारा माया को जीतना चाहिए और संतोष के द्वारा लोभ को जीतना चाहिए। प्रायश्चित्त का अभ्यास करने का मुख्य उद्देश्य व्रतों के पालन के अन्तर्गत हुए दोषों को तथा तप के पालन करते समय हुए दोषों के विषय में निरीक्षण करना है, ताकि सम्पूर्ण रूप से चारित्र मोहनीय कर्म पूरी तरह से रुक जाय; जो आत्मा को मलिन कर रहा है। एक साधु से यह आशा की जाती है कि वह अपने गुरु से सम्पर्क करे तथा उन्मुक्त रूप से अपने समस्त पापों की आलोचना करे तथा उसके द्वारा जो अतिचार हुए हैं उनकी भी आलोचना करे तथा अकेला अपने पुराने पापों के लिए कष्ट झेलकर अपनी इच्छा से गुरु के पास जाकर उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण करे।

निर्धारित समय के लिए शरीर से आसक्ति नहीं होना कायोत्सर्ग है। शारीरिक अंग कायोत्सर्ग के समय हलन-चलन से रहित होने चाहिए। ऐसे अपेक्षा की जाती है कि जो शुद्ध विचार रखता है वह निद्रा विजयी होता है तथा धार्मिक शास्त्रों को अच्छी तरह से पढ़ा हुआ होता है तथा शारीरिक शक्ति एवं आत्मिक शक्ति को प्राप्त करता है। वह कायोत्सर्ग का अभ्यास कर सकता है; जो कि उसकी आध्यात्मिक यात्रा के लिए उसकी अच्छाई हेतु प्रेरित करती है[11]।

5. सामायिक- यह अनुशासनात्मक व्रतों में एक व्रत है जो कि प्रतिदिन के अभ्यास के लिए आवश्यक है। इसमें एक साधु को कुछ घण्टे दिन में निश्चित करने होते हैं। आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल ध्यान हेतु सामायिक आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि एक साथ जारी रहता हुआ शान्त मन जीवन और मरण के बीच में झालर सहित फ्रेम जैसा है। हानि तथा लाभ, सुन्दर तथा असुन्दर घटनाएँ, मित्र तथा शत्रु, सुख तथा दुःख इन सबकी एक सी स्थिति[12] है। गृहस्थ के जीवन में प्रतिदिन के जीवन में सामायिक का स्थान है किन्तु साधु के मामले में यह

बड़े मूल्य का है। यह दूसरे व्रतों का पूरक है। यह प्रत्येक प्रकर के बुरे विचारों से उसे दूर रखता है तथा उसके मन की शक्ति को बढ़ाता है जो कि गंभीर ध्यान के लिए रीढ़ की हड्डी है।

6. परमभक्ति- परमभक्ति स्तुति और वेदना का मेल है। एक साधु के लिए भक्ति की अपेक्षा है तथा जिनेन्द्र भगवान् के गुणों के प्रति नमस्कार करना, निरन्तर प्रार्थना करना तथा उनके गुणों का चिन्तन करना ये सब सम्मिलित है। इससे साधु की समझ आत्मा के गुणों के प्रति स्पष्ट हो सकती है तथा उसका निजी जीवन अधिक आत्मिक हो सकता है। वह अधिक आत्मिक ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने अभ्यासों में अच्छी तरह अनुशासनात्मक होता है। इसके मूलगुण कुछ निश्चित बाहरी व्यवहारों से संबंधित हैं। नग्नता दिगम्बर सन्त की एक दशा है। सोगानी जी ने कुछ आगम के स्रोतों से संदर्भित किया है कि नग्नता श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी निर्धारित की गयी है किन्तु टीकाकार कहते हैं कि यह जिनकल्पी साधुओं के लिए कही गयी है। नग्नता के विषय में लगातार सन्दर्भ होते हुए भी श्वेताम्बर ग्रन्थों में वस्त्र का भी नियम पाया जाता है किन्तु उन वस्त्रों के विषय में अर्थात् कितने वस्त्र होने चाहिए इसकी अपेक्षा नहीं की गयी है। एक साधु को न तो स्नान करना चाहिए, न अपने दाँतों को साफ करना चाहिए, न उसे जमीन पर सोना चाहिए या लकड़ी के तखत पर उसे दिन में केवल एक बार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिए तथा अपने हाथों की हथेलियों पर लेना चाहिए। उसे अपने ही हाथों अपने केशों का लोंच करना चाहिए। श्वेताम्बर साधु आहार ग्रहण करने के लिए पात्र रखते हैं तथा सोने के लिए लकड़ी की चौकी रखते हैं। सम्प्रदायों के अनुसार तथा क्षेत्रों के अनुसार आने और भोजन को ग्रहण करने में कुछ छोटे-छोटे से अन्तर हैं।

इन मौलिक गुणों का पालन करने के अतिरिक्त उसे समस्त पीड़ाओं को सहन करना चाहिए जो कि एक घूमने वाला साधु सामना कर सकता है, ताकि वह कर्मों के रोकने के मार्ग में इधर-उधर न हो तथा वह उनको दूर करने में या नष्ट करने में समर्थ हो। ये परीषह या कठिनाइयाँ 22 हैं- 1. क्षुधा 2. पिपासा 3. शीत 4. ऊष्ण 5. दंशमशक 6. नाग्न्य 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या 10. निषद्या 11. शय्या 12. आक्रोश 13. बध 14. याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृण स्पर्श 18. मल 19. सत्कार पुरस्कार 20. प्रज्ञा 21. अज्ञान 22. अदर्शन।

पहली पाँच परीषहों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उनका प्रयोग स्पष्ट है। नग्नत्व की व्याख्या का विधान उन लोगों के लिए है जो उस व्रत की महत्ता

और प्रयोग के विषय में अज्ञानी हैं। एक साधु को दूसरे व्यक्तियों का उपहास तथा गालियों का सामना करना पड़ता है। वह सुख और दुःख में निष्कम्प रहता है। यह तभी संभव है जबकि वह असंतुष्टि के अभिप्राय को जीतता है तथा सभी प्रकार के इन्द्रिय सुखों का निषेध करता है, उसे समस्त उत्तेजनाओं तथा काषायिक विचारों को जीत लेना होता; है जो कि आकर्षक और प्रिय स्त्रियों को देखने से उत्पन्न होते हैं। उसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर नंगे पैर जाना पड़ता है, जिससे दुःख तथा आराम न होने का सामना करना पड़ता है। उसको निरन्तर घूमने से इन सभी प्रभावों का सामना करना पड़ता है ? उसे उसी मुद्रा में प्रायः दिन में बैठना पड़ता है। इससे आराम नहीं मिल पाता है, यह स्वाभाविक है। इसी प्रकार उसको बिना हिलेडुले नंगी भूमि पर सोना पड़ता है। कभी-कभी दुःख देने वाले कीड़े-मकोड़े काट लेते हैं। ये एक साधु के जीवन के लिए स्वाभाविक हैं तथा उनसे ही सम्बन्धित हैं। जब वे भ्रमण करते हैं तब उन्हें घृणा, उपहास तथा लोगों के क्रोध का सामना करना होता है। जो नग्न साधु होना चाहता है; वह अकेला ही स्वतंत्रतापूर्वक सड़कों, नगरों और ग्रामों का भ्रमण करता है। उसे इन सब का सामना बिना किसी क्रोध को दिखाए या नापसंदगी को दिखाए सहन करना पड़ता है तथा आत्मसंयम के साथ में निंदा और घृणा को समाप्त करना होता है। कभी-कभी किसी साधु को मार सहनी पड़ती है तथा पत्थरों का प्रहार सहन करना पड़ता है। उसे शांति के साथ चोट सहन करनी पड़ती है। वह सोचता है कि उसके पूर्व कर्मों का उदय है। वे बदमाश लोगों पर भी आरोप नहीं लगाते हैं। उन्हें अपना भोजन नियमों के अनुसार माँगना पड़ता है। यदि वह भोजन प्राप्त नहीं करता है तो वह दयाभाव से किसी के मकान पर नहीं जाता है या दया के लिए तर्क नहीं देता है वह केवल परिणामों को सहन करता है। यह स्वाभाविक है कि एक मनुष्य होने के नाते वह बीमारियों का पात्र होता है। जब वह भ्रमण कर रहा होता है तो उसे काँटों और तृणों की नोकों के स्पर्श से उत्पन्न दर्द को सहन करना पड़ता है; क्योंकि उसे अपने शरीर के प्रति कोई राग नहीं होता है। वह शांतिपूर्वक इन समस्त पीड़ाओं को सहता[13] है। वह किसी भी समय नहाता नहीं है। अपितु वह अपनी पीछी के द्वारा धूलि को मात्र पोंछता है। उसका मुख्य उद्देश्य अपनी आत्मा की शुद्धि है तथा वह अपने मन को प्रत्येक प्रकार की कलुषता से मुक्त रखता है। वह प्रशंसा और निंदा में समान रहता है। वह न तो बहुत बड़े सम्मान में गर्व करता है, न लोगों की उपेक्षा से हताश होता है। वह अपने ज्ञान का गर्व नहीं करता है तथा अपने अज्ञान पर हताश नहीं होता है। उसका जीवन स्पष्ट रूप से मुक्ति का पथिक होता है। वह आगम को पढ़ता है, उपदेश देता है, आत्म विश्लेषण करने में लगा रहता है तथा

अपनी कमियों पर पछताता है। यदि उसमें कोई कमी न हो तो वह सर्वोच्च व्रती के रूप में रहता है तथा अपनी आत्मा की आत्मिक उन्नति में लगा रहता है। वह समस्त बाधाओं को पार करता है तथा अपनी आत्मा की उन्नति के विषय में दत्तचित्त रहता है। वह परेशानियों को चुपचाप सहन करता है तथा सांसारिक भवितव्यताओं के प्रति उपेक्षाभावपूर्वक तथा उदार विचारों के साथ वह भ्रमण करता है। अपने पूरे प्रयोजन- नये कर्मों को वह नष्ट करता है। वह अपने विश्वास को अपनी आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव के प्रति अनुमति नहीं देता है। उसका विचार होता है कि वह समस्त मुसीबतों को झेलने में प्रयत्नशील रहे, शांत रहे तथा आत्म साक्षात्कार की उच्च श्रेणी पर पहुँचने के लिए मुस्कराये। अपने आत्म संयम तथा आत्मज्ञान के साथ वह अपनी आत्मा की शुद्धि, मन की समानता तथा अन्य किसी भी ढंग से व्यवधान उत्पन्न नहीं करता है। उसके लिए पीड़ाएं नियंत्रण के बाहर हैं अतः उनको वह आत्मा की शुद्धि की प्रक्रिया में छिपाए रहता है।

एक साधु को किन गुणों से युक्त होना चाहिए; इसके विषय में पं. आशाधर जी ने विस्तार से 'अनगार धर्मामृत' या साधुओं का धर्मामृत यह ग्रन्थ लिखा है। उन्होंने कहा है कि वर्तमान कालचक्र में कलियुग में बहुत से साधु हैं जो धर्म के बहुत से गलत सिद्धांतों का प्रचार करते हैं। वे अपनी प्रजाओं के कल्याण के विषय में नहीं सोचते हैं। उनकी व्याख्या में ऐसा कुछ नहीं है जो कि मुक्ति का मार्ग दिखलाये? वे दिखावटी होते हैं तथा अपनी आत्मिक उन्नति के प्रति बहुत थोड़ा सा आदर रखते हैं।

उन्होंने निर्ग्रन्थ शब्द की व्याख्या की है। सांसारिक जीवन का विचार जो कि मिथ्यात्व को बढ़ाता है वह ग्रन्थि की रचना करता है, वह व्यक्ति जो पूर्ण रूप से इस प्रकार के विचारों को अपने मन से निकाल बाहर करता है; उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। वह दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार; इन पाँच चारित्रों का पालन करता है। वह अपने शिष्यों को उनका पालन करने की प्रेरणा देता है। निरन्तर तथा धीरे-धीरे अध्ययन के द्वारा वह आगम का ज्ञाता हो जाता है तथा 10 प्रकार के विशिष्ट गुणों से वह युक्त हो जाता है। वह दूसरों की भलाई करने में निरन्तर लगा रहता है तथा निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से दूसरों के सामने सिद्धान्तों की व्याख्या करता है। पं. आशाधर जी ने निम्नलिखित 10 गुणों का उल्लेख[15] किया है-

1. वह तीन गुप्तियों और 5 समितियों का पालन करता है। तीन गुप्तियों का पहले ही कथनकर आये हैं जिसमें मन, वचन और काय को वश में करने का सन्दर्भ है। पाँच समितियों का वर्णन, पददलित हुए मार्ग का प्रयोग , सज्जनतापूर्ण वाणी, 46 आहार के

दोषों से रहित आहार को ग्रहण कर लेना, वस्तुओं को भूमि पर उठाने-रखने में सावधानी रखना तथा सावधानीपूर्वक मल-मूत्र का विसर्जन करना।

2. चार प्रकार के आगम का अध्ययन करना तथा स्मरण रखना। ये चार प्रकार हैं-1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग। पहले के अन्तर्गत महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि आते हैं जो कि मानवीय जीवन का वर्णन करते हुए 63 शलाका पुरुषों के जीवन का वर्णन करते हैं। करणानुयोग में उस प्रकार का आगम आता है जिसमें विश्व के विषय में विस्तृत वर्णन है। लोक यह विश्व है तथा अलोक इसके परे है। त्रिलोकसार और तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों में जिनमें कि संसार भ्रमण के विषय में लिखा गया है उसमें समय की अनिश्चितता चार प्रकार की गतियों में गमन आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में चारित्र का विकास तथा पूर्णता वर्णित है। इन विषयों का वर्णन मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थों में है। द्रव्यानुयोग में छः द्रव्य वर्णित हैं, स्पष्ट ज्ञान के लिए इनका ज्ञान बहुत आवश्यक है। इससे जीवन के सिद्धान्त समझ में आते हैं तथा 9 पदार्थ में जैनधर्म के तत्त्वमीमांसा का पूरा क्षेत्र आच्छादित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन विषयों का वर्णन समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थ में किया है। उमास्वामी ने समस्त सम्बन्धित विषय को अंतिम तीन अनुयोगों में वर्णन किया है। ये चार अनुयोग तथा प्रत्यक्ष रूप से जैनधर्म के सिद्धान्त तथा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के आधार हैं। तीसरा गुण धीरता है जिसका अर्थ होता है शांतिपूर्ण ताकि वह साहसपूर्वक शारीरिक पीड़ाओं जैसे प्यास-भूख आदि को सहन कर सके। यह गुण उसे शांत, दूसरे व्रतों का पालन करने वाला तथा व्यवधान रहित ढंग से ध्यान करना है। चौथे गुण का संबंध सांसारिक जीवों का ज्ञान तथा सामाजिक दशाओं के ज्ञान से संबंधित है ताकि वह अपने धर्म का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्रों और जल, वायुओं में कर सके।

5. वह अपने धर्म का गंभीर ज्ञान करे तथा दूसरे धर्मों का भी उसे ज्ञान हो। इससे उसे अपने दृष्टिकोणों को शक्ति प्रदान करने का बल मिलेगा। यह बुद्धिमत्ता की ओर अग्रसर होगा। यहाँ तक कि भिन्न-भिन्न धर्मों के शिक्षित मनुष्यों के सामने उसका प्रचार हो सकेगा।

6. उसमें व्याख्या करने की शक्ति होना चाहिए ताकि वह अपने भाव को स्पष्ट तथा संक्षिप्त रूप से व्यक्त कर सके। कुछ अवसर ऐसे हो सकते हैं, जब उसे अपने तर्कों को देते हुए दूसरों के सामने, संघर्ष करना पड़े किन्तु यह आवश्यक है कि उनके संदेहों को शक्ति और गंभीर तर्क से स्पष्ट किया जाए।

7. सातवाँ गुण है अच्छे व्यक्तित्व का रखना; जो कि सुस्थिर भाव से स्थिर हो, जिसमें नम्रता और शान्ति की अभिव्यक्ति हो। उसमें तीन गुण होना चाहिए जैसे-1. विस्तृत अध्ययन 2. कठोर तप करने की सामर्थ्य 3. शिष्यों के समुदाय का प्रमुख होने की योग्यता।

8. उसे समस्त धर्मों, शास्त्रों के ज्ञान में विशेषज्ञ होना चाहिए ताकि वह अपने ज्ञान से तथा व्याख्या से दूसरों को सुनिश्चित कर सके। उसे सहिष्णु होना चाहिए तथा उसके आचरण में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निहित होना चाहिए। उसमें दयाभाव, त्यागभाव तथा वस्तुओं के प्रति अनासक्ति हो। उसका बाहरी चारित्र अनुकरणीय हो तथा उसकी क्रियाएँ सदैव आत्मवाद तथा आत्म साक्षात्कार से निर्देशित हों। उसे धर्म का दूत, वाणी तथा चारित्र दोनों के द्वारा होना चाहिए। उसका ध्येय सदैव समस्त प्राणियों की रक्षा करना होना चाहिए तथा हानि से सुरक्षित होना चाहिए जो कुछ वह कहता है उसे वह अत्यधिक शान्ति से करे तथा अपने शिष्यों तथा आज्ञाकारी शिष्यों से पूरा कराये।

10. वह दूसरे में विश्वास उत्पन्न करे ताकि अपने साथियों में वह प्रसन्न हो तथा वह प्रसन्नतापूर्वक उस लगाव के प्रति प्रतिबद्ध हो जबकि सलाह की आवश्यकता हो। उसे संयम के साथ बोलना चाहिए तथा अपनी वाणी में मधुर होना चाहिए वह दूसरों के प्रश्नों के समझने में पूरी सावधानी रखे तथा उनका उत्तर समझदारी व सहानुभूति से दे।

आशाधर जी ने उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी वर्णन किया है। फिर भी यह निश्चित है कि एक साधु के जीवन और चारित्र का आधार आत्म संयम तथा मन और चारित्र की शुद्धि है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के क्रम में उसे बाह्य और आन्तरिक तप करना चाहिए। सभी लेखक; जिन्होंने यति धर्म का वर्णन किया है, उन्होंने उस विषय पर विचार किया है। तप स्वयं आरोपित हैं तथा मुनि या यति दीक्षा के बाद उनका उप सिद्धान्त के विषय के रूप में वर्णन किया जाना है। शरीर विनश्वर होने के कारण तपों का स्वेच्छा से अभ्यास करना है। यह मस्तिष्क को सांसारिक जीवन की बेड़ियों से पूरी तरह वापसी के लिए तैयार करना है। छह बाह्य तप हैं जिनका उमास्वामी ने वर्णन किया[16] है। वे हैं अनशन (उपवास), कम मात्रा में आहार को लेना (अवमौदर्य), वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, काय को क्लेश देना (काय-क्लेश)। इन तपों का प्रयोजन अत्यधिक आत्मसंयम प्राप्त करना है तथा राग का विनाश करना है। इन्द्रियों की उपशान्ति के लिए इन्द्रियों का उपशम अत्यधिक पहिचाना हुआ रूप है। दूसरा तप केवल घरों को सीमित करना है, अपितु केवल भोजन की स्वीकृति तभी है जबकि

निश्चित नियम दशाओं का भी निर्देश है। यह पहले से ही कहा जा चुका है कि साधु को वह भोजन नहीं लेना चाहिए, जो कि उसके लिए विशिष्ट रूप से बनाया गया हो। कम भोजन का उद्देश्य उसे अध्ययन तथा उपदेशों के प्रति जागरूक करना है। चतुर्थ तप रसपरित्याग है तथा उसकी कषायों और इन्द्रियों की उत्तेजना का विनाश हो। अकेले रहना उसके ब्रह्मचर्य के जीवन ध्यान में तथा स्वाध्याय में मदद करता है। अंतिम तप कायक्लेश है। यह तप कष्टों के जीवन और आत्म अस्वीकृति हेतु तैयार करता है।

आन्तरिक तप हैं प्रायश्चित, बड़ों का सम्मान (विनय), कठिनाई में साधु की सेवा करना (वैयावृत्य), शास्त्र का अध्ययन (स्वाध्याय), समस्त परिग्रह का त्याग, जिसमें अहं का त्याग भी सम्मिलित है तथा ध्यान[17]।

इन आन्तरिक तपों का उद्देश्य मन की शुद्धि है। ताकि आत्मा के स्वभाव पर बड़ा ध्यान लगाया जा सके। तब तक सही ध्यान नहीं हो सकता, जब तक मन का सभी विकारों, उदासीनता तथा लापरवाही से छुटकारा न हो सके। पहले तप का सम्बन्ध गुरु के सामने समस्त कमजोरियों, अतिचारों, व्रतभंग तथा चारित्र के नियमों के विषय में निर्भीकतापूर्वक प्रायश्चित लिया जाय। सही पहनावा होना चाहिए, जो कि इस इरादे के साथ हो कि ये कमियाँ, व्रतभंग आदि प्रमाद के कारण या किसी अन्य कारण न किए जाँय। दोष स्वीकृति किसी की चेतना को उभारने के लिए भविष्य में वाणी तथा चारित्र की सजगता के लिए है। यह आत्मनिन्दा के अन्तर्गत गुणात्मक रूप से परिगणित है। यदि गुरु किसी विशेष मामले में पहले से ही सजगता का सुझाव देते हैं तो उसे विनय के साथ स्वीकार करना चाहिए तथा व्यवहार में इसका पालन होना चाहिए। दूसरे तप के लिए नम्रता का विकास, देव, शास्त्र और गुरु के प्रति आदर अपेक्षित है। विनय के बाहरी और आन्तरिक सांसारिक फल हैं विस्तृत पहिचान, मित्रता, आदर तथा गुरुकृपा, जिनाज्ञा के प्रति श्रद्धा, बुरे संकल्प का त्याग; जबकि विनय के आन्तरिक और अलौकिक फल हैं- आत्म संयम, तप, ज्ञान प्राप्ति, आत्मशुद्धि, कृतज्ञता की भावना का प्रकटीकरण, सरलता, दूसरे के गुणों की प्रशंसा, अहम्मन्यता का विनाश तथा मोक्ष प्राप्ति। तीसरा तप दूसरे साधुओं की सेवा करना पहले ही व्याख्यायित किया जा चुका है।

स्वाध्याय स्वयं का अध्ययन है और आगम का अध्ययन है। इससे केवल किसी व्यक्ति का शास्त्र का ज्ञान ही नहीं बढ़ता है, अपितु जैनधर्म की प्रामाणिकता में दृढ़ विश्वास प्राप्त होता है। त्याग आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का होता है- समस्त भौतिक पदार्थों का तथा आन्तरिक कषायों का जिसमें कि अहंकार की अनुभूति होती है।

ध्यान मुक्ति के लिए विस्तृत महत्त्व रखता है। यह चार प्रकार का होता है- 1. आर्त्तध्यान- इसमें पहले जिनके साथ लगाव रहा, जो कष्ट, दुःख और मुसीबतों का कारण था। यह मिथ्यात्वी जीवों तथा ऐसे मन वालों के उत्पन्न होता है, जो व्रतों और तपों में आंशिक रूप से अनुशासित होते हैं। 2. रौद्रध्यान- यह उन साधुओं के उत्पन्न होता है, जिनका मन अब भी कषायों, क्रोध, हिंसा, असत्य, मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचार, पर निन्दा तथा ऐन्द्रियिक भोगों से मुक्त नहीं है। ये दोनों पाप रूप ध्यान हैं। 3. धर्मध्यान कर्मों को नष्ट करने के लिए तथा सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए हैं। आत्मध्यान करने के लिए तथा समस्त विचारों के उपशम के लिए धर्म ध्यान है। 4. शुक्ल ध्यान- ध्यान के अच्छे प्रकारों में से है। इसमें समस्त अपवित्र विचार और इच्छायें नष्ट हो जाती हैं तथा यहाँ कषायों का विनाश होता है, जो कि आत्मा को मलिन करते हैं। यह शुद्ध ध्यान का अभ्यास है, जिससे कि आत्मा मुक्त होता है। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं। अंतिम प्रकार में काय की सूक्ष्म क्रिया में मन और वचन की क्रियाओं को भी सूक्ष्म बनाता है। अनन्तर शरीर की क्रिया को छोड़ने के बाद वह अपने आपको मन और वचन की क्रियाओं में स्थिर रखता है तथा स्थूल शारीरिक क्रियाओं को सूक्ष्म बनाता है। अनन्तर मानसिक और वाचनिक क्रियायें रुक जाती हैं तथा शरीर की सूक्ष्म क्रिया छूट जाती है। अंतिम प्रकार के शुक्ल ध्यान में शरीर की सूक्ष्म क्रिया भी रुक जाती है। अब आत्मा मानसिक, वाचिक और भौतिक कम्पन से मुक्त हो जाती है और शीघ्र ही पाँच वर्णों के उच्चारण जितने समय में शरीर से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेती[19] है।

अंतिम व्रत जिसे एक साधु को पालन करना होता है, वह सल्लेखना है। यह गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए है। अतः इसका स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया गया है।

यह प्रमाण होगा कि चारित्र के तथा तप के नियम जिसे एक साधु को पालन करना होता है, अत्यधिक कठिन चारित्र हैं तथा एक व्यक्ति जो कि मानसिक रूप से त्याग के जीवन के लिए तैयार है वह इस सोपान पर दीक्षा ले सकता है। यह तथ्य कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता है, प्रयुक्त हो सकता है कि एक व्यक्ति किसी भी उम्र में साधु हो सकता है, किन्तु ग्यारह प्रतिमाओं तथा चौदह गुणस्थानों का सिद्धान्त स्थापित होता है कि केवल एक व्यक्ति जो जैनदर्शन का दृढ़ श्रद्धानी हो तथा जिसे आत्मा और पुद्गल, अहिंसा और सभी अपरिग्रह पहलुओं का सम्यक् ज्ञान हो तथा जो तप के लिए तैयार हो; वह सफल संन्यासी हो सकता है।

यह त्याग का जीवन है, जिसमें नग्नता के कारण उत्पन्न हुई समस्त पीड़ाओं को सहना होता है, नंगे पैर चलना पड़ता है तथा जमीन के फर्श पर दिन में एक बार संयमित आहार लेकर सोना पड़ता है। यदि संभव हो तो सारा समय अध्ययन में बिताना होता है। धर्म प्रचार तथा ध्यान ऐसी वस्तु है जिसके लिए एक साधु खड़ा होता है। यह नीतिशास्त्र की पूर्णता में तथा जीवन की आध्यात्मिक आकांक्षाओं में निहित है जिस पर उसकी मुक्ति स्थापित होती है।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. सी.आर.जैन : गृहस्थ धर्म (अंग्रेजी), पृ. 74, आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अंग्रेजी अनुवाद। द जैन पब्लिशिंग हाउस, बिजनौर (उ.प्र.)
2. के.सी. सोगाणी : इथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, पृ. 126 जैन संस्कृति सरंक्षक संघ, शोलापुर
3. ए.एन. उपाध्ये : आचार्य कुन्दकुन्द का प्रवचनसार,अंग्रेजी भूमिका सहित, पृ. 9
4. सेक्रिड बुक ऑफ द ईस्ट, जैन सूत्र, जिल्द-45 पृ. 129, 30 उत्तराध्ययन सूत्र (हर्मन जैकोबी द्वारा सम्पादित)डोवर पब्लिकेशन्स, आई.एन.सी., न्यूयार्क
5. वही, पृ. 131.3
6. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (रीयलिटी), अध्याय-9, सूत्र 4 (आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी अनुवाद), वीर सेवा संघ,29, इन्द्रा बिश्वास रोड, कलकत्ता 31.
7. आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा 83, अंग्रेजी अनुवाद तथा टीका सहित, टीका-उग्रसेन जैन द सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस अजिताश्रम,लखनऊ।
8. वही, पृ. 49
9. वही, गाथा 1073
10. वही, गाथा 113 से 115
11. के.सी. सोगानी : इथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, पृ. 141
12. वही, पृ. 138
13. वही, पृ. 141
14. रीयलिटी, अध्याय 9, सूत्र 9
15. आशाधर : अनगार धर्मामृत, श्लोक 9। पं. खूबचन्द द्वारा हिन्दी में अनुवादित श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, जिला-सतारा (महाराष्ट्र)
16. रीयलिटी - अध्याय 9 सूत्र 19
17. वही, अध्याय 9, सूत्र 20
18. सोगानी : इथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, पृ. 150
19. वही, पृ. 163

❑❑❑

अध्याय-17

सल्लेखना

भगवान् महावीर ने कहा है कि जीवन को मृत्यु के नष्ट करने के दो मार्ग हैं- 1. किसी की इच्छा से मृत्यु तथा किसी की इच्छा के विरुद्ध मृत्यु। अज्ञानी व्यक्ति जो कि प्रसन्नता और आनन्द से युक्त है, धर्म के नियम का उल्लंघन करता है तथा अनधिकार चेष्टा करता है, वह भय से काँपता है, जबकि मृत्यु हाथ में है तथा वह कष्ट में मरण करता है। वह जीवन को अच्छा बनाने के अवसर को खो देता है। गुणी व्यक्ति; जो अपने आप पर नियंत्रण रखते हैं, तथा अपनी इन्द्रियों का उपशम करते हैं, वे शान्तिपूर्ण मृत्यु का सामना करते हैं। इस प्रकार की मृत्यु बहुत से साधुओं की होती है तथा कुछ श्रेष्ठ गृहस्थ की होती है।

सल्लेखना किसी साधु के द्वारा या गृहस्थ के द्वारा इच्छापूर्वक मृत्यु का सामना करना है, जबकि उसका अन्त निकट हो तथा जब धर्म के अनुसार वृद्धावस्था के कारण सामान्य जीवन संभव न हो या असाध्य बीमारी हो, भयंकर दुर्भिक्ष हो[2] तब अपनी समस्त कषायों का उसे शमन करना चाहिए तथा सांसारिक समस्त आसक्तियों को छोड़ना चाहिए एवं समस्त तपों का आचरण करना चाहिए। धीरे-धीरे भोजन तथा जल को छोड़कर शान्तिपूर्वक आत्मा के यथार्थ स्वभाव पर ध्यान लगाते हुए आत्मा को जब तक वह शरीर से निकल नहीं जाती है तब तक ध्यान करना चाहिए। इस व्रत का मूल विचार यह है कि मनुष्य जो कि अपने भाग्य का निर्माता है उसे इस प्रकार से मृत्यु का सामना करना चाहिए जिसमें नये कर्मों का आस्रव रुके तथा आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त हो। जो कर्म अब भी उससे चिपक रहे हैं।

प्रत्येक जीव स्वभावतः शुद्ध और पूर्ण है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से इसका वैशिष्ट्य जाना जाता है। आत्मा कर्म से अनादिकाल से बद्ध है। अतः अनेक रूपों में अस्तित्व का विषय होता है तथा उसकी जन्म और मृत्यु होती

रहती है। धर्म का चरम उद्देश्य कर्मों के बन्धन से आत्मा की मुक्ति मार्ग का प्रदर्शन करना है जो व्रत को तत्काल अंगीकार करते हैं वे आत्म निर्भर, आत्म सृष्टा और आत्म केन्द्रित होते हैं वे व्यक्तिगत विचारों और मुसीबतों में क्रोधित होने से अपने आपको रोकते हैं तथा शरीर को सजाने और उसे पुष्ट करने से परे रहते हैं। आत्मा निराशा और निषेधात्मकता के दलदल से अपने आपको बाहर निकालती है। किसी व्यक्ति को मृत्यु के समय अपने चरित्र को नियंत्रण करने के योग्य होना वह साधु होने का फल[3] है।

इसकी विशद व्याख्या आचार्य समन्तभद्र के द्वारा रचित रत्नकरण्डश्रावकाचार में है, जिनका काल द्वितीय शताब्दी ईसवी माना जाता है। इस व्रत को संन्यास मरण भी कहते हैं। जो इस व्रत को अंगीकार करते हैं उन्हें शुद्ध मन वाला होना चाहिए। मित्रता का त्याग करना चाहिए तथा शत्रुता का त्याग करना चाहिए। किसी का साथ त्यागना चाहिए और परिग्रह त्यागना चाहिए। उसे अपने संबंधियों से क्षमायाचना करना चाहिए। सेवकों तथा साथियों को क्षमा करना चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति से मधुर शब्दों में क्षमा याचना करना चाहिए। उसे मुक्त रूप से अपने गुरु से उसने जो-जो भी पाप किये हैं उनका वर्णन करना चाहिए तथा उन पापों की स्वीकृति करना चाहिए जो उसने दूसरों के प्रति किये हैं या दूसरे के द्वारा किये जाने की अनुमति दी है तथा महाव्रतों को मृत्यु के समय तक धारण करना चाहिए। इस काल में उसे पूर्ण रूप से अपने मस्तिष्क से समस्त दुःख, भय, पछतावा, स्नेह, घृणा और पक्षपात इत्यादि का परित्याग कर देना चाहिए तथा उत्साह की शक्ति से युक्त होकर उसे अपने मन को अत्यधिक रूप से आध्यात्मिक ज्ञान के अमृत के द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए। उसे धीरे-धीरे भोजन का त्याग करना चाहिए और केवल तरल पदार्थ लेने चाहिए जैसे दूध, मलाई रहित दूध इत्यादि। अनन्तर उसे दूध का भी परित्याग कर देना चाहिए तथा केवल गर्म जल लेना चाहिए, पश्चात् उसे धीरे-धीरे अपनी सामर्थ्य के अनुसार गर्म जल का भी परित्याग कर देना चाहिए तथा जब मन नमस्कार मंत्र के ध्यान में लगा हुआ हो तब शरीर छोड़ देना चाहिए।

इस व्रत का पालन करने के मध्य उसे पाँच प्रकार के अतिचारों का त्याग करना चाहिए-

1. उसे यह नहीं अनुभव नहीं करना चाहिए कि यह अच्छा होता कि यदि मृत्यु थोड़ी देर में आती है।
2. उसे तेजी से मृत्यु आने की भी इच्छा नहीं करना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि वह मृत्यु के दर्द को बर्दाश्त करे।

3. उसे मृत्यु के समय अपने रिश्तेदारों और मित्रों का स्मरण नहीं करना चाहिए।

4. अपनी तपस्या के फलस्वरूप उसे किसी विशेष प्रकार के फल की इच्छा नहीं करना चाहिए[4]।

आचार्य उमास्वामी के अनुसार सल्लेखना व्रत अपनी इच्छापूर्वक स्वीकार करना चाहिए; जबकि मृत्यु बहुत करीब हो। एक व्यक्ति जो कि व्रत को अंगीकार कर रहा है वह अपने पापों का प्रायश्चित कर मन की शांति प्राप्त करता है चाहे वे पाप किये हों या उन पापों को करने के लिए किसी को प्रेरित किया हो। जब किसी आचार्य या गुरु से सम्पर्क करना संभव न हो तब व्यक्ति को शान्ति से बैठना चाहिए, पंच परमेष्ठियों पर ध्यान लगाना चाहिए तथा अपने मन को समस्त प्रकार के पापों से रहित करना चाहिए तथा उन अतिचारों को छोड़ना चाहिए जो स्वयं किये हों या किसी ने किये हों, उनको दुष्प्रेरित किया हो। उसे समस्त बुरे विचार छोड़ देने चाहिए। यदि यह कोई मरणासन्न या गंभीर बीमारी से ग्रसित हो तो उसे समस्त दुःख समता पूर्ण भावपूर्वक सहन कर लेना चाहिए तथा किसी प्रकार के दुःख के बिना शान्ति धारण करना चाहिए। उसे अपने आपको दोषी सिद्ध करते हुए यह सोचना चाहिए कि बीमारी भी अपने ही कर्मों का फल है। उसे अपनी समस्त कषायों को बाहर निकालना चाहिए तथा मानसिक कमजोरियों को भी बाहर निकालना चाहिए। मन, शास्त्रों के ध्यान के अमृत से भरा हुआ हो जो कि उसे प्रसन्नता और शक्ति देता है[6]। शरीर की रक्षा तब तक करना चाहिए जब तक वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र की प्राप्ति के लिए लाभदायक हो। शरीर मरणशील है। यदि यह मरता है तो दूसरा शरीर मिल सकता है किन्तु तुम अपने शरीर के लिए यदि अपने धर्म का बलिदान कर देते हो तो तुम अपने धर्म की पवित्रता को पुनः प्राप्त नहीं कर सकते जो कि तुम्हारे आत्मिक अनुभव में सहायक होता है। जब जीवन का प्राकृतिक कारण और किसी आपदा से जैसे बीमारी या शत्रु के आक्रमण से जीवन का अन्त आता है तो यह अच्छा हो कि उपवास ओर ध्यान के द्वारा धार्मिक व्रत तथा अभ्यासों की पूर्णता हेतु सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए[7]।

यह सामान्य ज्ञान है कि जैनियों में साधु साध्वियों, गृहस्थ तथा गृहणियों का अपने सामान्य जीवन में उपवास बहुत सुस्पष्ट है। जैनियों ने इसका विकास एक कला के रूप में किया है तथा इनमें यह उल्लेखनीय पूर्णता को प्राप्त हुआ है[8]। उपवास के समय व्यक्ति को पूरी तरह से राग से रहित होना चाहिए तथा मन में शान्ति रखना चाहिए तथा मन को समस्त प्रकार की कषायों तथा क्रोध, मान, माया और लोभ आदि से रहित

होना चाहिए इसके अतिरिक्त पापों के लिए क्षमा याचना तथा पूरी तरह से आलोचना और प्रतिक्रमण अपने गुरु के सामने करना चाहिए। किसी व्यक्ति को व्रत ग्रहण करने से पूर्व अपने को मानसिक रूप से संतुलित रखना चाहिए। आचारांग सूत्र में तीन प्रकार की सल्लेखना की व्याख्या है-

1. भक्तप्रत्याख्यानमरण 2. इंगिनी मरण 3. पादोपगमन[9]।

1. पहला अच्छी तरह से वश में किये गये तथा निर्देश दिये गये साधु के होता है। उसको कुछ करने, कारण बनने, कार्य करने की अनुमति देने तथा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का निषेध है।

2. दूसरा जो कि बहुत कठिन है उसमें एक साधु से यह अपेक्षा की जाती है कि वह एक स्थान से हलन-चलन न करे तथा शरीर की समस्त गति को रोके।

3. तीसरा उससे भी अधिक कठिन है। साधु को अत्यधिक सावधानीपूर्वक जमीन का निरीक्षण करना चाहिए तथा पूरी तरह से अपने शरीर का ख्याल न रखते हुए विरक्त होना चाहिए। वह जीवन के मोह के बिना आत्मा की स्थायी विशेषताओं पर ध्यान केन्द्रित करे। एक साधु या पवित्र गृहस्थ को बिना किसी आकर्षण के जीवन के अन्त तक पहुँचना चाहिए। उसे शान्तिपूर्वक निर्वाण प्राप्ति हेतु इनमें से किसी एक पद्धति को चुनना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस व्रत के सन्दर्भ में कहा है कि मृत्यु तीन प्रकार की होती है-बालमरण, बाल पंडितमरण और पंडितमरण[10]। बालमरण उसको कहते हैं जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से युक्त है लेकिन अपने ऊपर जैसे पूरा नियंत्रण नहीं है। दूसरे प्रकार का मरण है जिसका एक गृहस्थ सामना करता है जो कि पाँचवें गुणस्थान तक पहुँच चुका है तथा जो एक इन्द्रिय जीव की हिंसा का त्याग करने में असमर्थ है तथा आत्मसंयम के मामले में जो अनिर्णय की स्थिति में है। पंडितमरण साधु के उस मरण को कहते हैं जो निजात्मा का पूरा ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। तीर्थंकर और गणधरों की मृत्यु इसी प्रकार की है।

चूँकि समस्त व्रतों और तपों का मुख्य उद्देश्य आत्मा की कर्मबन्धन से मुक्ति है, सल्लेखना व्रत के उद्देश्य हैं-कर्म आत्मा के छिपे हुए गुणों को आवृत करते हैं अतः मन और शरीर शुद्धता की ओर लगना चाहिए। जबकि उपवास शरीर को शुद्ध करता है, ध्यान तथा आत्मनिरीक्षण आत्मा की शुद्धिकरण में सहायता करते हैं। ऊँचा उठाने तथा अनुभूति करने में भी मदद करते हैं। जो कारण ऊपर कहे गए हैं, उनमें से किसी कारण

शरीर नष्ट होता है तो एक योजनाबद्ध मृत्यु का क्रम वरीयता देने योग्य है। यह विशेष रूप से उनके लिए भी आवश्यक है, जिनके जीवन में धर्म नहीं है। व्रत ग्रहण से पहले साधु या गृहस्थ को अपनी सारी कषायों पर अवश्य विजय प्राप्त करना चाहिए। उसको स्नेह के समस्त बन्धनों से अपने लिए पूरी तरह अलग करना चाहिए तथा समस्त पूर्वाग्रहों तथा बुरी इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। सबके प्रति उत्तम क्षमा भाव रखें। क्षमा माँगते समय मन प्रसन्नता और समता से भरा होना चाहिए। व्रत की स्वीकृति पूरी तरह से ऐच्छिक है जिसमें किसी प्रकार की चापलूसी नहीं है। यह पूर्णता का नियम है। सल्लेखना से प्राप्त मृत्यु आध्यात्मिक विचारों के अनुसार आत्मा की कर्मों, मानसिक दुर्बलताओं और शरीर के ऊपर विजय है। यह सल्लेखना जीवन के सौहार्द्र, दया और धर्म की निश्चित रूप से प्राप्ति है। धार्मिक चारित्र और तप के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वान् सल्लेखना को आत्महत्या या आत्महत्या का रूप मानते हैं। इस प्रकार की दृष्टि वाले उन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक भेदों की उपेक्षा करते हैं जो कि सल्लेखना की विशेषताओं तथा आत्महत्या के बीच में विद्यमान हैं। जो व्यक्ति आत्महत्या करने जा रहा है, उसकी एकाधिक निम्नलिखित विशेषतायें रेखांकित हैं-

1. मरने की इच्छा, जो कि मन में संघर्ष उत्पन्न कर देती है।
2. निराशावाद या सहायताहीन होने की अनुभूति, जो हस्तगत समस्या को सुलझाने की अयोग्यता से युक्त होती है।
3. थकान एक शारीरिक या मनोवैज्ञानिक अनुभूति, उद्विग्नता या दोनों।
4. जब मन खिन्न, तनावपूर्ण, दबावयुक्त, क्रोध से भरा या अपराधी हो या इनमें से किसी एक से पूर्ण हो।
5. मन में अराजकता की अनुभूति तथा शान्ति की स्थापना की योग्यता न हो।
6. मन किसी स्थिति के कारण उत्पन्न क्षोभ के समाधान को ढूँढ़ने योग्य न हो।
7. दिलचस्पी की हानि हो या जीवन का भय हो अथवा उत्तेजना, उद्विग्न या चरम अवसाद हो।
8. आत्महत्या में मृत्यु गुप्त रूप से की जाती है तथा तत्काल आक्रमण के साधन, फाँसी पर लटकना, विष खाना तथा गोली मारने आदि से होती है।

एक साधु या गृहस्थ; जिसने कि सल्लेखना का व्रत लिया है, वह इनमें से कोई भी मन में नहीं रखता है या भावावेश से युक्त तनाव, अवसाद या उद्विग्नता नहीं रखता है। आत्महत्या किसी स्थिति से बचाव के लिए की जाती है, जिससे पीड़ित व्यक्ति अपने

आपको बचाने में असमर्थ होता है। तत्काल अपने जीवन का अन्त किसी हिंसात्मक या आपत्तिजनक साधन से होता है। आत्महत्या का परिणाम परिवार की हानि या कम अधिक उस व्यक्ति को होती है, जो आत्महत्या करता है। जबकि आत्महत्या गुप्त रूप से की जाती है तथा प्रश्नात्मक उद्देश्य में अंगीकृत होती है। सल्लेखना तब स्वीकार की जाती है, जब मन समस्त कषायों से मुक्त हो तथा गुरु की पूर्ण सहमति हो तथा सभी के लिए क्षमाशीलता एवं दया के लिए मन खुला हो। इसमें भक्ति धार्मिक अनुभूति से प्रेरित होती है, जबकि आत्महत्या के मामले में मृत्यु भयावहता या तिरस्कार के साथ की जाती है।

इस प्रकार आत्महत्या और सल्लेखना में इरादा, स्थिति, साधन जो कि स्वीकार किये गये हैं, तथा मृत्यु के परिणामों के विषय में भिन्नता है। जैन विचारकों ने स्वयं इस विषय पर विचार किया है और इस विषय पर प्रबल तर्क दिये हैं कि सल्लेखना आत्महत्या नहीं है। अमृतचन्द्र सूरि ने जिस प्रकार संक्षिप्त रूप से लक्षण दिये हैं कि आधुनिक निर्णायकों को उनका निर्णय तथा लक्षण स्वीकारने योग्य है। जो व्यक्ति कषाय के वशीभूत है वह अपने जीवन का अन्त साँस रोककर या जल में डूबकर, अग्नि में कूदकर,विष खाकर या हथियारों के द्वारा मौत का वरण करता है; वह निश्चित रूप से आत्महत्या करने का अपराधी है[11]। सल्लेखना में समस्त इच्छाओं तथा कषायों का उपशमन किया जाता है तथा शरीर को अपनी स्वेच्छा से किये गये उपवास से कृश किया जाता है। इसमें शरीर को पीड़ा या दुःख नहीं होता है जबकि मन आनन्दित होकर शान्तिपूर्ण होता है। चम्पतराय जैन ने सल्लेखना की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन किया है। तदनुसार तुलनात्मक रूप में सल्लेखना तथा आत्महत्या के विषय में इस प्रकार कहा है। यहाँ पर आत्महत्या करने की सिफारिश करने का कोई प्रश्न ही नहीं है तथा किसी के जीवन का अंत करने का भी कोई प्रश्न नहीं है चाहे वह किसी की सदिच्छा या खुशी से की गयी है, जब जीवन में बोझ जैसा लगता है या जीवन में कोई आकर्षण नहीं होता है। सल्लेखना का सही विचार केवल यही है कि जब मृत्यु का अंतिम चरण हो तो उस समय प्रत्येक व्यक्ति को जानना चाहिए कि कैसे मरण किया जाय अर्थात् किसी व्यक्ति को एक मनुष्य की तरह मरना चाहिए, पशु के समान नहीं कि नीचे-नीचे चलता है तथा जिसे हाँकते समय न बचा पाने योग्य को बचाने का व्यर्थ प्रयास करना पड़ता है। उचित तरीके से मृत्यु को प्राप्त करने में इच्छा का विकास किया जाता है तथा यह भविष्य के आत्मिक जीवन के लिए बहुत बड़ी सम्पत्ति है। यह एक साधारण द्रव्य है तथा शरीर के विछोह और मृत्यु के बाद भी जीवित रहेगा।

जैन सल्लेखना में स्थिति के विषय में पुनः पुनः सोचने का पर्याप्त समय रहता है। क्योंकि जो तरीका प्रमुख रूप से इच्छा को उन्नत करने के लिए विचार किया गया हो वह कुछ दिन के लिए बढ़ाया जाता है तथा मृत्यु तत्काल ही नहीं लाई जाती है[12]।

संक्षेप में आत्महत्या मानसिक रूप से पथभ्रष्ट होने का यह कार्य है। इसके कुछ कारण हैं जिसे जो पीड़ित व्यक्ति है वह नियंत्रित नहीं कर सकता है जबकि सल्लेखना एक भले प्रकार से नियोजित मृत्यु है। जो कि धर्म के अच्छे नियमों से समझायी गयी है तथा आत्म साक्षात्कार के उच्चतम आदर्श से प्रेरित है। यह एक शान्तिपूर्ण मरण है जो कि कर्म के पुनः बन्धन से छुटकारे के लिए है। कर्नाटक राज्य के भिन्न-भिन्न भागों से जो शिलालेख पाये गये हैं उनमें सल्लेखना के सैकड़ों उदाहरण उल्लिखित हैं तथा इसी ग्राफिया कर्नाटक के 12 भागों में इकट्ठे किये गये हैं तथा जिनका प्रकाशन राज्य सरकार ने किया है। सल्लेखना का अंतिम उदाहरण; बहुत बड़े आधुनिक सन्त; जिनका नाम शान्तिसागर महाराज था, उन्होंने इस व्रत का पालन 1955 ई. में महाराष्ट्र राज्य की कुन्थलगिरि की पहाड़ी पर भारत में किया था।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. सेक्रिड बुक ऑफ दि ईस्ट, जिल्द 45, व्याख्यान-5, हर्मन जैकोबी कृत उत्तराध्ययन सूत्र का अनुवाद, डाबर पब्लिकेशन आईएनसी, न्यूयार्क।
2. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पद्य 122, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर
3. चम्पतराय जैन : 'द हाउस होडल्डर्स से धर्म', पृ. 56-58
4. वही, पद्य 129
5. रीयलिटी, अध्याय-7, सूत्र 22
6. वीरनंदि- आचारसार, अध्याय-10, श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बारामती, जिला-पूना
7. आशाधर : सागारधर्मामृत, अध्याय-8, श्लोक-5
8. हर्मन जैकोबी : स्टडी इन जैनिज्म, पृ. 33
9. जैकोवी : सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जैनसूत्र, जिल्द-22 (आचारांग सूत्र), पृ. 76-77, डोबर पब्लिकेशन आईएनसी, न्यूयार्क।
10. कुन्दकुन्द : मूलाचार, हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवाद-जिनदास फड़कुले शास्त्री, अध्याय-10 श्लोक-31, श्रुत भण्डार व ग्रन्थप्रकाश समिति, फल्टन, जिला सतारा, महाराष्ट्र
11. अमृतचन्द्र सूरि : पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक-178
12. सी.आर.जैन : जैनिज्म एण्ड वर्ल्ड प्रोबलम्स , पृ. 178-179, दि. जैन परिषद्, बिजनौर (उ.प्र.)

❑❑❑

अध्याय-18

मुक्ति का पथ

नित्यमपिनिरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥

जो नित्यरूप से कर्मों के लेप से रहित है तथा स्वरूप में स्थित है तथा उपघात से रहित है; ऐसा परम पुरुष आकाश के समान विशदतम देकर परमपद में स्फुरायमान (चमरता हुआ) हो रहा है। वह परमात्मा कृतकृत्य होकर परमपद में समस्त पदार्थों को अपना विषय बनाता हुआ परमानन्द में निमग्न होकर ज्ञानमय होता हुआ सदैव आनन्दित होता है।

जैनधर्म के अनुसार मुक्ति का पथ त्रिरत्नों के अभ्यास की स्वीकृति के माध्यम से गुजरता है जो किसी व्यक्ति को कर्मनष्ट होने में सहायता करता है जैसा कि अध्याय-12 में कहा गया है। कर्मों की प्रकृति तथा उनके विनाश का तरीका आत्मा को धीरे-धीरे आत्मिक विकास की श्रेणी में ले जा रहा है जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

इस संसार में चार चीजें सबसे अधिक कीमती हैं जिन्हें प्राप्त करना एक जीवित प्राणी के लिए कठिन है। वे हैं- मानव जन्म, सच्चा धर्मोपदेश सुनना, आत्मा में विश्वास[1] तथा पूर्णशक्ति (पुरुषार्थ)। वे व्यक्ति जो सम्यग्ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और व्रतों का पालन करते हैं वे रमणीयता को प्राप्त करेंगे[3]।

आत्मा अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का प्रतिरूप है। ये कर्मों के पर्दे से ढके हुए हैं। उन्हें नंगी आँखों से नहीं देखा जा सकता है। अतः आत्मसाक्षात्कार कर इस पर्दे को नष्ट करना तथा आत्मा के छिपे हुए गुणों का अनुभव

करने पर निर्भर होता है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने यह स्थापना की है कि यह योग या ध्यान के द्वारा संभव है कि कोई व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार कर सके। अभी तक जो जैनधर्म के सिद्धान्तों पर विचार किया गया है वे निःसन्देह रूप से इस् बात को प्रकट करते हैं कि यह विश्वासपूर्ण तथा नैतिक नियमों का ईमानदारी से अभ्यास करना है तथा गुणों की पूजा करना है। जीवन में आत्मानुशासन की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। आत्मिक अनुशासन के लिए नैतिक अनुशासन पहले की तैयारी है। पाँच व्रत, 10 धर्म, 3 गुप्तियाँ, 5 समितियाँ 12 भावनाएं (अनुप्रेक्षाएं) तथा विभिन्न प्रकार की पीड़ाओं को वरदाश्त करना, मन और शरीर को नियमित करने के इरादे से बनाये गये हैं तथा ये कर्म बन्धन से आत्मा की शुद्धि करते हैं। सांसारिक अस्तित्व कष्टों और अभावों से भरा हुआ है जो कि हमारी ही निर्मिति है। नैतिक अभ्यास, ईमानदारी और प्रभावशाली क्षेत्र को प्रदान करते हैं। ये केवल उनको मुसीबतें नहीं लाते हैं। इनके साथ समता, विचारों तथा च्रारित्र की समता है। वे कर्मों का उपशम लाते हैं जो कि जीवन भर की यात्रा के मध्य हमें घेर लेते हैं। नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक नियमों को रद्द नहीं करना चाहिए। हमें सामान्य हृदय से यह कल्पना नहीं करना चाहिए कि ये रुकावटें हमारे जीवन के आमोद-प्रमोद को उबाऊ बना देते हैं। उन्हें हमें पूरे विश्वास के साथ स्वीकार करना चाहिए। हम उस अनुभव को; जो कि महान् आत्माओं के विषय में है, रूप दें जिन्होंने प्रसन्नतापूर्वक शान्ति और प्रसन्नता के लिए जीवन के द्वारा खुशी से गमन किया है, ताकि हम मुक्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें जिससे समस्त आत्माएँ प्राप्त करने की प्रतीक्षा करती हैं।

दर्शनावरण तथा ज्ञानावरण कर्म का विनाश तथा रुकावट डालने वाले कर्मों के विनाश से सर्वज्ञता प्राप्त होती है[4]। आवरण कर्म अनुपात में धीरे-धीरे उस हद तक नष्ट किये जाते हैं जब तक कोई व्यक्ति आत्म नियंत्रण को प्राप्त नहीं करता है। जब आत्म नियंत्रण पूरा होता है उस समय लेश्याओं की शुद्धता प्रगट होती है जो कि पाप कर्मों की स्थिति और अनुभाग को कम करती हैं। विचारों की पवित्रता-कषायों के शमन और धीरे-धीरे नष्ट होने पर विचारों की पवित्रता आवश्यक है। कषायें हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। आत्मा के गमन के विषय में पहले का वर्णन जो कि 14 गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है (अध्याय-11), उसमें उन बिन्दुओं पर विचार किया गया है जो कि आत्मा के धीरे-धीरे आरोपण करने के मार्ग तथा आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचने का मार्ग बताती हैं। जब तक आवरण कर्म शेष रहते हैं तब तक आध्यात्मिक उन्नति असंभव है। आध्यात्मिक उन्नति का गुप्त रहस्य चार घातिया कर्मों के विनाश पर

निर्भर है। यह कार्य श्रमसाध्य है किन्तु इसे विश्वास और शुद्धता के साथ करना चाहिए। आत्मा सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकती है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद आत्मा अर्हन्तपने को प्राप्त कर सकता है। जब चार अघातिया कर्म भी नष्ट होते हैं तो शुद्धात्मा सिद्ध होता है और नित्य आनन्द में लोक के ऊपर रहता है। बाहरी तप किसी व्यक्ति को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में मदद करते हैं। वे आत्म नियंत्रण को दृढ़ बनाते हैं तथा आत्मा से कर्म पुद्गलों की शुद्धि करते हैं। आन्तरिक तप हैं- प्रायश्चित्त, विनय, गुरुसेवा (वैयावृत्य), शास्त्रों का अध्ययन (स्वाध्याय) तथा ध्यान एवं शरीर के प्रति राग का त्याग (व्युत्सर्ग)। इन सबका हम वर्णन साधु की नीतिशास्त्र का वर्णन करते समय 16वें अध्याय में कर चुके हैं। इन आन्तरिक तपों का उद्देश्य एक आत्मिक प्रतीक्षारत को जीवन में ध्यान का अभ्यास करने का प्रशिक्षण देना है जबकि बाहरी तप विरक्ति की ओर ले जाते हैं तथा आत्मा को शुद्ध करते हैं। आन्तरिक तप चार घातिया कर्मों का पूरी तरह से विनाश कर देते हैं[5]।

आन्तरिक तपों की योजना में ध्यान का सर्वाधिक महत्त्व है। जैनधर्म दूसरी भारतीय विचारधाराओं के समान ध्यान को सर्वाधिक महत्त्व देता है; यह आध्यात्मिक अनुभूति का साधन है या आत्म साक्षात्कार का साधन है। इसकी शुद्धि के साथ आत्मा का सामर्थ्य आत्मध्यान के विषय में विकसित होता है। उमास्वामी के अनुसार किसी विषय में विचारों को केन्द्रित करने का नाम ध्यान है।[7] यह विचारों को बहुत सारे पदार्थों से लौटने का तथा किसी एक विषय में इसको लगाने का उद्देश्य है। यह एक अन्तर्मुहूर्त या 48 मिनट अधिक से अधिक होता है। एक मायने में यह निषेधात्मक है, इसके लिए दूसरे विचारों को मोड़ देने की आवश्यकता है। वे कुछ कारण है, जो ध्यान में बाधा डालते हैं। उद्देश्य के समझने तथा जनता की अभिरुचि; ये किसी की निजी उन्नति के लिए बाधायें है, कषाएं और इच्छायें भाव और उत्तेजनाएँ जिनके विषय में मन लम्बे समय तक लगा रहने का आदी होता है। ये सब आत्मा और शरीर को उसकी पवित्रता से वंचित कर देते हैं। तथा इसके आराम में भी रुकावट डालते हैं। बुरा शास्त्र आराम की आदत तथा कठिनाइयों को वरदाश्त करने की योग्यता न होना; ये ध्यान से विचलित करने के कारण हैं।[8] खुराक पर नियंत्रण तथा मन और शरीर की क्रियायें समस्त क्रियाओं को मोड़ देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। ये क्रियाएं शारीरिक तथा मानसिक होती हैं तथा एक दृढ़ संकल्प के विकास के मार्ग को आच्छादित करती हैं; जो कि ध्यान की पहली आवश्यकता है।

ध्यान की स्थिरता के लिए आसन का सरल होना आवश्यक है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो आरामदेह न हो; ऐसे आसन में लम्बे समय तक नहीं रह सकता है। आसन के विषय में सामान्य नियम यह है कि व्यक्ति को इस रूप में खड़ा या बैठ्ठा होना चाहिए; जिसमें कम से कम तनाव हो। उसी समय देखभाल करते हुए तप की लगन का बलिदान शारीरिक आराम के लिए नहीं करना चाहिए[9]। प्रचलित आसन हैं- पद्मासन, वीरासन और सुखासन।

जहाँ तक स्थान सम्बन्ध है, ज्ञानार्णव बहुत से स्थानों की सूची देता है, जिनसे बचाव करना चाहिए तथा जिनको ध्यान के अभ्यास के लिए वरीयता देना चाहिए जिन स्थान पर व्यवधान हो, जो अच्छे न लगें तथा जहाँ शोरगुल हो रहा हो, उल्लू, गधे तथा कुत्तों आदि के कारण जहाँ ध्यान सम्बन्धी प्रयत्नों की प्रतिक्रिया हो उन्हें रद्द कर देना चाहिए। पर्वत, गुफायें तथा दूसरे एकान्त स्थान चुनना चाहिए। योगी को अपना आसन लकड़ी के तख्ते, शिला, जमीन या रेतीले स्थान पर निश्चित करना चाहिए[10]।

गहरे ध्यान के लिए शारीरिक तैयारी की अपेक्षा है। भोजन पर नियंत्रण हो, स्थिति आरामदायक हो तथा मध्यम प्रकार की नींद हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मन की सर्वोच्च समता की प्राप्ति के बाद तप करने के परिणाम स्वरूप व्यक्ति को सर्वोच्च ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार की उसे शपथ लेनी चाहिए तथा परमात्मा के स्वभाव पर विचार करना चाहिए। अधिकांश जैन आचार्यों ने यह माना है कि आत्मा तीन प्रकार की होती हैं- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखती है, अन्तरात्मा मानती है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। मुक्तात्मा सर्वोच्च आत्मा है। यह पूरी तरह से तरह-तरह के कर्मों की मलिनता से शुद्ध है। अतः यह ध्यान का विषय है।

उमास्वामी का कहना है कि चार प्रकार के ध्यान हैं। ये मानसिक स्थिति के अनुसार हैं-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान[11]। पहले दो ध्यान पाप रूप हैं।

आर्त्तध्यान वह ध्यान है, जिसमें ध्यान कष्टदायक, दुःखदायक या अवांछनीय वस्तुओं या उद्देश्यों से युक्त विचार एवं व्यवधान युक्त होते हैं। अवांछनीय वस्तुयें जैसे- विष, नोंकदार काँटे तथा हथियार। उनसे कष्ट होता है तथा कोई व्यक्ति का ध्यान मुसीबत के विचारों से व्यवधान युक्त होता है। उनसे छुटकारा पाने के मार्ग में भी व्यवधान होता है। यह चार प्रकार का होता है। किसी दुःखदाई वस्तु की उपस्थिति का

ध्यान तथा उससे छुटकारा पाने की उत्सुकता। इष्ट का वियोग होने तथा उसे प्राप्त करने की उत्सुकता पर आधारित ध्यान। निरन्तर दुःख और बीमारी का विचार तथा उससे छुटकारा पाने की इच्छा तथा जिन वस्तुओं को प्राप्त नहीं किया है, उनके सुख को प्राप्त करने की उत्सुकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों से अनेक अनुभव करता है, चाहे वे सुखदायक हों या सुखदायक न हों। यदि वे सुख करने वाली न हों तो उनसे वह छुटकारा पाना चाहता है, यदि वे सुखकर हों तो उनके निरन्तर आमोद-प्रमोद की इच्छा रहती है। मन को मुसीबतों से रहित होने की सम्बद्धता शान्ति में व्यवधान उत्पन्न करती है। व्यक्ति अपकर्षित होता है और भविष्य की तरह वर्तमान के विषय में चिन्ता को जारी रखता है। व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के दुःख मुसीबत में डाल देते हैं जैसे-सिरदर्द, जाड़ा आदि। वह उनसे छुटकारे का इच्छुक होता है तथा प्रभावशाली राहत देते हुए प्रतीकारों को हरने का इच्छुक होता है। कोई व्यक्ति जीवन में अनेक वस्तुओं से राग रख सकता है। जुड़ाव को जारी रखने की मजबूत इच्छा रहती है तथा उनके प्रति उत्सुकता अलग नहीं की जा सकती है। यह औसतन मानवीय स्वभाव है कि किसी व्यक्ति का अनुभवों तथा वस्तुओं से जुड़ाव जारी रहे तथा उनसे वह विरक्ति रखे। राजाओं और देवों से आशीर्वाद और दान प्राप्त करने की भी इच्छा रहती है। हम प्रार्थना के द्वारा यहाँ और यहाँ के बाद लाभ चाहते हैं। ये चार प्रकार के विचार जो कि मन को व्यवधान से युक्त करते हैं, वे कषाय, घृणा तथा अज्ञान के फल हैं जो निश्चित रूप से, दूसरी वैश्विकता के प्रति अभिप्राय को जागृत करने की अपेक्षा संसार के प्रति राग को बढ़ाते हैं।

रौद्र ध्यान या क्रूर तथा हिंसक ध्यान भी चार प्रकार का होता है; क्योंकि मन हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह की रक्षा में लगा रहता है। उस व्यक्ति में क्रूर विचार आ सकते हैं जिन्होंने कि अणुव्रत धारण किए हों या कोई भी व्रत धारण न किए हों। इस प्रकार के विचारों को मुक्त रूप से प्रविष्ट कराते हुए उत्तेजना पैदा करेगा तथा सम्यग्दर्शन की प्रभावोत्पादकता को प्रभवित करेगा। अत्यधिक क्रोध या दया की चाह में कोई व्यक्ति मारने, चोट लगाने, काटने, बाँधने, जलाने या दाग लगाने की सोच सकता है; जो कि हिंसा के रूप हैं। दूसरों को धोखा देना, झूठी बदनामी करना, फूहड़ भाषा का प्रयोग तथा हानिकारक कार्यों का विचार हो सकता है तथा कोई व्यक्ति झूठ बोलने में आनन्द का अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार दूसरों की चोरी करने या लूटने का इरादा सघन लालच का परिणाम हो सकता है; जो कि दूसरे को चोट लगने का कारण हो सकता है। धन का आनन्द लेने की इच्छा तथा जो अपना निजी नहीं है, उसे प्राप्त करने में निश्चित रूप से लोभ तथा अत्याचार की मानसिक दशा की ओर बढ़ायेगा। इस

प्रकार के विचार ध्यान में व्यवधान उत्पन्न करते हुए द्वेष, राग तथा सांसारिक जीवन के प्रति मोह उत्पन्न करते[15] हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट होगा कि दो प्रकार के ध्यान; जो कि अस्वस्थ विचारों के द्वारा व्यवधान उत्पन्न करते हैं, वे आत्मा की उन्नति में बाधा डालते हैं तथा पाप कर्मों को उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि उन्हें अप्रशस्त या पापकर्म कहते हैं। वे मुक्ति के मार्ग में बाधा पहुँचाते हैं तथा व्यक्ति को जन्म और मृत्यु के चक्र में फँसाते हैं।

धर्म ध्यान वस्तुओं के प्रकाशन, दुर्भाग्य, प्राकृतिक दुःख, कर्मों का परिपाक तथा लोक रचना पर ध्यान लगाने पर निर्भर है। इस प्रकार का ध्यान कषाय तथा आत्मा को दूषित करने वाले दूसरे कारणों से मुक्त है। यह केवल सातवें गुणस्थान में ही सम्भव है। इस प्रकार का ध्यान वस्तुओं के स्वभाव, क्षमा आदि दशधर्म, रत्नत्रय तथा प्राणिरक्षा पर निर्भर है। राग और द्वेष, इन्द्रियों के भोग पर आधारित हैं, जिनसे बचा जाय तथा मन को आत्मा के स्वभाव पर केन्द्रित कर लिया जाय तथा व्यक्ति ध्यान में आनन्द और शान्ति के साथ[16] जाय। आर. विलियम्स ने धर्मध्यान को नैतिक रूप में अनुवादित किया है। इसके चार भेद हैं-

अ. जिनाज्ञा को समझना (आज्ञा विचय)।

ब. विघ्नबाधाओं के स्वरूप को समझना (अपाय विचय)।

स. कर्म के परिणामों को समझना (विपाक विचय)।

द. लोक की रचना को समझना[17] (संस्थान विचय)।

ध्यान के बारे में इन विषयों पर विचारों का केन्द्रीकरण धर्म ध्यान कहलाता है। एक आत्मा के विशेष चिह्न; जो कि इस प्रकार एकचित्तता के लिए योग्य हैं, वह धर्म मार्ग के प्रति स्वाभाविक प्रेम है, जिस विचार की प्रद्धति को उसने चुना है तथा जिसके अन्तर्गत दीक्षा ली गई है। वाचना, प्रतिपृच्छना तथा अनुप्रेक्षा वे दशायें हैं; जो कि मन की इस प्रकार की एकचित्तता का नेतृत्व करती हैं[18]। यह स्पष्ट होगा कि इस प्रकार के ध्यान की प्राप्ति रत्नत्रय और अपरिग्रह के लिए पूर्वापेक्षित है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि इस प्रकार के ध्यान के लिए व्यक्ति को सभी प्राणियों के प्रति मैत्री रखना चाहिए। विद्वानों के प्रति प्रमोद रखना चाहिए, जो आपत्तिग्रस्त हैं उनके प्रति करुणा रखना चाहिए तथा मिथ्यादृष्टियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। इन गुणों से युक्त व्यक्ति आध्यात्मिक दर्जे में ऊँचा उठता है वह समस्त मोह का परित्याग कर देता है तथा सांसारिक अस्तित्व के विषय में समस्त मिथ्या विचारों का त्याग कर देता है।

सत्ता की प्रकृति दुर्बोध होने से तथा विभिन्न दृष्टिकोणों वाली सही शिक्षा की अनुपस्थिति के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विश्व की वास्तविकताओं को जानना संभव नहीं है।

मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञान इतने प्रचलित हैं कि कोई भी व्यक्ति अज्ञान के मायाजाल में आसानी से खो जाता है तथा सत्य से पुनः दूर हो जाता है। अतः इस ध्यान में कोई भी व्यक्ति सांसारिक अस्तित्व, समस्याओं तथा तर्कों के प्रति अभिमुख हो जाता है जो कि जीवित प्राणियों को नरक और मृत्यु के चक्र में फँसा देती हैं। जीवन के सौभाग्य और दुर्भाग्य के विषय में सोचने में किसी व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के कर्मों के खेल में ध्यान लगाना होता है तथा इसके सम्भावित कारणों के विषय में भी ध्यान लगाना होता है। प्रतिदिन के जीवन में दशधर्मों का पालन करना होता है। इससे गुणों के प्रति ध्यान लगाना आदतन विचारों और कार्यों का विषय हो जाता है।

जिनभद्र के अनुसार इस प्रकार का ध्यान शुक्लध्यान पर आरोहण करने का सीढ़ियों का पत्थर है; क्योंकि ध्यान करने वाला बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास में सुप्रसिद्ध होगा। इसी प्रकार लेश्याओं तथा विभिन्न प्रकार के कर्मों के फल का अभ्यास करने में सुप्रसिद्ध होगा। आत्मा की प्रकृति के तथा शरीर के साथ इसके सम्बन्ध में निरन्तर जागरूकता उसे सही मार्ग में रखने को विस्तृत महत्त्व देती है। रत्नत्रय को सही रूप में समझने तथा ध्यान की गहराई में जड़ें जमाने वाला होना चाहिए तथा उसे आगम के निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपने को सुरक्षित रखना चाहिए। इस प्रकार का नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन उसकी कर्मों के विनाश में जो कि आत्मा के साथ लगे हुए हैं, मदद नहीं करेगा, अपितु नए कर्मों के आस्रव को भी रोकेगा। नियमित स्वाध्याय मन को शुद्ध तथा सक्रिय रखेगा। मन बुरे कार्यों की अन्यमनस्कता से मुक्त होगा। मोह तथा अनिर्णय से मुक्त हुआ मन शान्त प्रभावोत्पादकता में एकत्रित या निश्चित रूप से जड़ से तीर्थंकरों के द्वारा निर्दिष्ट पथ में दृष्टि जमाए हुए है। वह संसार के रागों से मुक्त होता है; क्योंकि वह इसके यथार्थ स्वभाव को जानता है, अतः वह राग से मुक्त होता है। वह सांसारिक भोगों के प्रति दिलचस्पी से रहित होता है तथा ध्यान में स्थिर होता है। वह इस प्रकार की शान्ति और एकाग्रता को प्राप्त करता है कि वह या तो भीड़ में रहे या अकेलापन में रहे। उसके लिए देश, काल और आसन की कोई रोक नहीं होती है। इस ध्यान के लिए आगमिक स्वाध्याय, बारह अनुप्रेक्षायें, दस धर्मों का अभ्यास तथा मन, वचन, काय की हानिकारक क्रियाओं से मुक्ति आवश्यक है। काय

और बुद्धि की कोई भी प्राकृतिक कमजोरी कुछ भी हो, किसी एक व्यक्ति को दूसरे के उत्तम ज्ञान तथा स्वाध्याय के विषय में सोचना चाहिए तथा साधुओं के उपदेश; जो कि तीर्थंकरों की शिक्षाओं के विषय में हैं; उसे सुनना चाहिए। आत्मध्यान करना चाहिए तथा आत्मा के स्वभाव का ध्यान करना चाहिए; जो कि राग, द्वेष और कषायों की मलिनता से मुक्त हो[19]।

चौथा और सर्वोत्तम ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। यह ध्यान का सर्वोच्च प्रकार है। इस प्रकार का ध्यान सर्वज्ञ के लिए ही संभव है। यह चार प्रकार का होता है। पहले दो प्रकार के ध्यानों की प्राप्ति उसी के लिए होती है, जिन्हें आगम का पूर्ण ज्ञान होता है तथा उसके द्वारा वे गुणात्मक ध्यान का अनुभव करते हैं।

ये दो भेद पूर्व में घटित होते हैं, जबकि आत्मा आध्यात्मिक उन्नति के सोपान पर चढ़ चुका होता है। उसी साधु के द्वारा ये ध्यान योग्य हैं जिसने कुछ कार्यों का अभ्यास किया हो, जैसे संयम इत्यादि। यह संसार में घूमने से मन को मुक्त करने के लिए है। साधु द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु के ध्यान का अभ्यास करता है तथा आगमज्ञान के सहारे वस्तु, शाब्दिक प्रतीक, शरीर की क्रियायें या बोलने के उपकरणों में अपने विचारों को परिवर्तित करता रहता है। वह अपने विचारों को एक से दूसरे में अनेक बार परिवर्तित करता है। जैसे कोई दुर्बल और कम उत्साह वाला व्यक्ति अपने अस्थिर हाथों से लम्बे समय तक एक वृक्ष को काटता है तथा उसकी कुल्हाड़ी भी अधिक पैनी नहीं होती है, इसी प्रकार साधु मोह कर्मों का या तो उपशम करता है या नष्ट करता है तथा प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान को अंगीकार करता है। इस ध्यान को पृथक्त्व वितर्कवीचार शुक्लध्यान[20] कहते हैं।

एक साधु जो मोहकर्मों को विनाश करने का इरादा करता है, वह अपने मन को शुद्ध क्रिया में लगाता है, जो कि नए कर्मों का आस्रव ही नहीं रोकती है, अपितु ज्ञानावरणीय कर्मों का विनाश करने में भी मदद करती है। वह अपने आगम ज्ञान का सहारा लेता है तथा उसका ध्यान कम्पित नहीं होता है। वह कषाय रहित होता है तथा शुद्ध स्फटिक के सामन भार से रहित होता है। उसके ध्यान में विश्राम नहीं होता है तथा वह चार कर्मों का अपूर्व श्रुतरूप ध्यान अपनी पूर्ण शुद्धता के साथ विकास करता है।

चार प्रकार के शुक्ल ध्यानों का भी जिनभद्र के द्वारा वर्णन किया गया है-

1. ध्यान; जो कि विचारात्मक सोच से विशिष्टता को प्राप्त है तथा वस्तुओं के भेद के पहलुओं की खोज करता है।

2. ध्यान; जो कि एक द्रव्य की एक पर्याय के विचार से विशेषित है। इसमें अन्वेषण का दखल नहीं होता है।

3. ध्यान; जो कि सूक्ष्म शारीरिक क्रिया से युक्त है, जो प्रतिपात रहित है।

4. ध्यान; जिसमें ये सूक्ष्म क्रियायें रुक जाती हैं[21]। पहली दो मन को संगठित और केन्द्रित करती हैं। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का ध्यान करती है और मन, वचन तथा काय की क्रियाओं को रोकने के लिए पृथ्वी पर धरातल का निर्माण करते हैं। इसकी प्राप्ति तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यान द्वारा होती है। वे व्यक्ति जो पहले दो प्रकार के ध्यान में, संलग्न हैं वे चौदह पूर्वों के धारी[22] होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विचारात्मक सोच आगमिक ज्ञान पर आधारित है, जो कि पहले दो प्रकार के शुक्ल ध्यानों के आधार का निर्माण करती है। प्रथम प्रकार में किसी विशेष वस्तु की सत्ता पर ध्यान रहता है; जो कि अनेक स्थिर बिन्दुओं को रूप देता है। इसमें ध्यान एक सत्ता से दूसरी सत्ता पर जाता है। दूसरे भेद में मन किसी एक पृथक् सत्ता पर केन्द्रित रहता है तथा इसमें एक पहलू से दूसरे पहलू पर ध्यान नहीं जाता है। इसीलिए प्रथम ज्ञान पृथक्त्व वितर्क सवीचार कहलाता है, जबकि दूसरे को एकत्व वितर्क वीचार[23] कहते हैं।

तीसरे प्रकार का शुक्लध्यान सूक्ष्म क्रिया निवर्तिन् कहा जाता है; क्योंकि यह सूक्ष्म शारीरिक क्रिया से मुक्त होता है तथा अन्तिम मुक्ति से कुछ पहले स्थापित होता है। इसमें वचन और मन की सभी क्रियायें पूरी तरह रुक जाती हैं। शरीर की स्थूल क्रिया रुक जाती है, यद्यपि श्वास की क्रिया चलती रहती है। आत्मा शरीर की सूक्ष्म क्रिया पर ठहरती है। इस स्तर में कोई विपरीत क्रिया नहीं होती है तथा आत्मा आगे के लिए अपने आप उन्नति करती है।

अंतिम शुक्लध्यान में आत्मा क्रिया रहित होती है। मन, वचन और काय की समस्त क्रियायें रुक जाती हैं तथा जीव अन्तिम मुक्ति प्राप्त करता है। यहाँ तक कि मुक्ति से पूर्व समस्त सूक्ष्म क्रियायें रुक जाती हैं।

इस प्रकार ध्यान का उद्देश्य समस्त कर्मों से पूर्णतया मुक्ति है। आन्तरिक और बाह्य तपों का पालन, त्याग तथा आगम के स्वाध्याय के साथ ध्यान इस साधन को रूप प्रदान करते हैं। जिस प्रकार घने बादल के झुण्ड हवाओं के द्वारा उड़ा दिए जाते हैं, उसी प्रकार कर्मों के झुण्ड कठोर ध्यान के द्वारा उड़ा दिए जाते हैं। कषाय, ईर्ष्या, दुःख; जो कि सामान्य मन की दशायें हैं, वे मन का स्पर्श नहीं करते हैं, जो कि कर्मों से परिष्कृत हो चुका है। ध्यान आत्मिक विकास का आधार है। अतः इसका अभ्यास उन सबके द्वारा

होना चाहिए जो कि यथार्थ प्रसन्नता चाहते हैं। मोहनीय कर्म, ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरण कर्म तथा अन्तराय कर्मों के क्षय से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। आत्मा सर्वज्ञता प्राप्त कर अर्हत् हो जाती है तथा अघाति कर्म भी नाश कर सिद्ध बनती है। इन दो स्तरों को प्राप्त करने के मध्य लम्बा या कम मध्यान्तर होता है। यह प्रत्येक आत्मा का भिन्न-भिन्न होता है, जो कि आयुकर्म के पूरी तरह प्रकट न होने पर निर्भर है। मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब सभी कर्म पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं। जब आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त होती है, तब वह परमात्मा या सिद्ध हो जाती है तथा लोक के अन्त तेक पहुँच जाती है। यह स्मरणीय है कि शुद्ध आत्मा की यह एक छिपी हुई विशेषता है कि उसका ऊर्ध्वगमन होता है। जितनी शीघ्र यह बन्धन या राग से मुक्त होती है, यह अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव को पुनः प्राप्त कर लेती है। इसका उदाहरण यह है कि एक मोमबत्ती की लपट अपने स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है। ऐसा करना इसका स्वभाव है। जब वन की हवा चलती है तो लपट भिन्न-भिन्न तरफ कम्पन करती है। आत्मा जब परमात्मा की स्थिति को प्राप्त कर लेती है तो यह लोक के अन्त तक जाती है तथा वहीं ठहर जाती है; क्योंकि अलोकाकाश में धर्मद्रव्य नहीं है, जिससे गति हो सके। जब एक बार शुद्ध आत्मा या सिद्ध लोक के अन्त तक पहुँच जाती है, तब वह वहाँ सदैव ठहरती है, वह पार्थिव संसार में कभी नहीं लौटती है। वह अनन्त सुख में निवास करती[24] है।

यथार्थ ध्यान आत्मा पर स्वयं ध्यान लगाना है। उस स्थिति में बाह्य परिग्रह जैसे-भूमि, मकान, सुवर्ण तथा धन इत्यादि तथा आन्तरिक रुकावटें जैसे मोह, द्वेष, दुःख, भय, घृणा इत्यादि जो कि मन की शान्ति में रुकावट पैदा करते हैं वे पूरी तरह मानसिक लोक से अप्रकट हो जाते हैं। समस्त विभाग आन्तरिक क्रियाओं से रहित हो जाते हैं तथा आत्मा अपना ध्यान करने के योग्य हो जाती है[25]। ध्यान की सर्वोच्च वस्तु आत्मध्यान है तथा आगम में पूरी तरह विश्वास है एवं समस्त बाह्य क्रियाओं का छोड़ना तथा आत्मा की समस्त बाह्य क्रियाओं को उन्नत आत्मा में लीन[26] करना है।

जैसा कि ज्ञानार्णव के चालीसवें अध्याय के 19वें पद्य में कहा गया है कि वह व्यक्ति जो ध्यान में लीन है, उसे आत्मा को परम आत्मा के साथ पूरी तरह जोड़ना चाहिए, जिससे कि आत्मा स्वाभाविक रूप से परमात्मा के गुणों से अनुप्राणित हो जाय।

आत्मा के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार प्रायः सभी जैन विचारकों का पूर्वाभास रहा है। सोमदेव ने भी शुक्ल ध्यान के चार भेदों का उल्लेख किया है तथा उन्होंने चौथे

ध्यान को निष्क्रिय योग के रूप में पारिभाषित किया है, जहाँ पर कि किसी भी प्रकार की हलन चलन पूरी तरह से अनुपस्थित हो जाती है। इसको 'हान्दीकी' ने लेखक की दृष्टि से किस प्रकार व्यक्त किया है-''परमात्मा बनते समय योगी मन के साथ समस्त जुड़ावों को समाप्त कर देता है तथा विस्तृत रूप से श्वास का अन्त हो जाता है, जबकि वह सर्वोच्च लक्ष्य को तथा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करता है। यह वह स्तर है, जिसमें आत्मा परमात्मा हो जाता है तथा यह मोक्ष है, जो कि घाति तथा अघाति कर्मों के विनाश से होता है तथा जन्म की समस्त सीमाओं से मुक्त हो जाता है। यह वह अवस्था है, जिसमें आत्मा अपने निजी गुणों को प्राप्त कर[27] लेता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को रखता है तथा आत्मा में मनोयोगपूर्वक ध्यान लगाता है, वह कर्मों से मुक्त हो जाता है तथा परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है[28]। योगीन्दुदेव का कहना है कि साधु के कर्म धुल जाते हैं जो कि सर्वोच्च ध्यान के सागर में गहरी डुबकी लगाता है तथा आत्मा शुद्ध हो जाता है। आत्मा; जो कि सर्वज्ञता प्राप्त करता है तथा लोक और अलोक को समझता है, वह पूर्णज्ञान के साथ अर्हत् हो जाता है[29]। आत्मा में लीन होकर आत्मा को आत्मा का पूरी तरह ध्यान करना चाहिए तथा इन्द्रियों के समस्त व्यापार को छोड़ देना[30]चाहिए।

सोमदेव ने यही दृष्टि व्यक्त की है। उसके अनुसार जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास करता है उसे रत्नत्रय, चारित्र के नियम, अनुप्रेक्षायें, सात तत्त्व और भगवान् जिनेन्द्र का भी ध्यान करना चाहिए; किन्तु आत्मध्यान सबसे बड़ा उद्देश्य है तथा भक्त को अपने में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। वह सत्य को जानता है तथा भक्तिपूर्वक आगम में विश्वास कराता है तथा वह बाह्य क्रियाओं को छोड़ता है एवं स्वयं को परमात्मा में विलीन करता है[31]।

ध्यान सभी धर्मों में प्रायः सामान्य है। प्राचीन हिन्दू दार्शनिकों ने एक सिद्धान्त का विकास किया; जिसे योग कहते हैं। योग आत्म साक्षात्कार का साधन है। पतंजलि के द्वारा निर्धारित योग नैतिक तथा शारीरिक अनुशासन का आदर करता है। प्रारंभिक अभ्यासियों के लिए आत्मिक उन्नति अनिवार्य है। जैन आधारभूत सिद्धान्तों तथा इस दर्शन के अभ्यास से सहमत हैं। शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव तथा हेमचन्द्र का योगशास्त्र योग के अध्ययन के लिए महार्घ योगदान है। योग आध्यात्मिक उन्नति का विज्ञान है। जैन साहित्य में हरिभद्र ने योग उसे कहा है; जो किसी आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाय। ध्यान और समाधि योग की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट हैं।

हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार ईश्वरार्पण, आत्मा का परमात्मा में विलय मोक्ष है। चूँकि इस प्रकार के ईश्वर को जैन नहीं मानते हैं। इस विचार के विलीन होने के विषय में कोई अवकाश नहीं है किन्तु आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया चारित्र में एक मालूम पड़ती है किन्तु इसे हिन्दू दार्शनिक ईश्वर साक्षात्कार[32] कहते हैं। आर.डी.रानाडे ने कहा है कि तत्त्वविद्या, नैतिकता तथा रहस्यवाद मनुष्य के सर्वोच्च विकास में अविभाज्य हैं। रहस्यवादियों के अनुसार अतीन्द्रिय अनुभव के लिए अनुभूति एक शाखा है, जो हममें आध्यात्मिक दीक्षा और अभ्यास से आती है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अनुभूति की शाखा का सम्बन्ध हम परिधीय दीक्षा के स्थान पर केन्द्रीय दीक्षा कह सकते हैं। यह बाहरी इन्द्रिय-अनुभव नहीं है, जिसकी गणना होती है। यह वह अनुभव है जो कि आन्तरिक रूप में हमारे अनुभूति परक तरीके में जन्म लेता है। यह ईश्वर के मार्ग का अनुसरण करने वाला तरीका है जो कि विषय होता है। अतः रहस्यवादी अनुभव के विकास में अनुभूति, अतीन्द्रिय अनुभव तथा केन्द्रीय दीक्षा का जोड़ है। रानाडे ने आध्यात्मिक जीवन के प्रोत्साहन के रूप में तीन तथ्यों का उल्लेख किया है -1. जन्म बड़ा है, मानवीय जीवन बड़ा है तथा हमारे जीवन की अच्छाई आदर्श की प्राप्ति है 2. हम अपने पूर्व के जीवन की ओर देखते हैं, जो नित्य जीवन के उन्नत विचार हमें देता है। एक प्रेरणा के रूप में यह हमें आत्मिक जीवन देता है 3. मनुष्य का अपना ऐन्द्रियिक ज्ञान जो कि प्रायः उसे धोखा देता है यहाँ तक कि उसे नष्ट कर देता है। वह एक प्रेरणा देता है कि इन्द्रियों से ऊपर उदित होओ तथा इन्द्रियों का उपयोग उच्च अनुरूप उद्देश्य के लिए करो[33]। उसके अनुसार निर्वाण सुख रूप है जो कि हमारी कषायों तथा इच्छाओं को बुझाने में लगा हुआ है तथा हमें पूर्ण में विलीन कर रहा है।[34]

यह रहस्यवाद की हिन्दू विचारधारा है जो मन के दृष्टिकोण को रेखांकित करता है, जो सीधे, शीघ्र, सर्वप्रथम ईश्वर के अनुभूति परक ज्ञान में लगा देता है। यह पारस्परिक उत्तर का सीधा अनुभव है जो कि मनुष्य और देव के बीच में है तथा जो मानवीय आत्माओं की पहिचान को यथार्थ सत्य अंकित कर रहा है। रहस्यपूर्ण अनुभव में कोई आत्मा मुक्त है और उच्च सुख को प्राप्त करता है, जिस सुख की उसने हर समय कामना की है। जहाँ तक जैनधर्म का सम्बन्ध है कुछ बहुत प्राचीन लेखक साधु जैसे कुन्दकुन्द और पूज्यपाद ने विश्वातीत अनुभवों तथा रहस्यपूर्ण दृष्टि का वर्णन किया[35] है।

जैन रहस्यवाद दो विचारधाराओं के चारों ओर चक्कर लगाता है-आत्मा तथा परमात्मा शब्द ईश्वर के लिए स्थिर है, किन्तु वह सृष्टिकर्त्ता नहीं होता है।

आत्मा और परमात्मा मूल रूप में एक है, किन्तु संसार में आत्मा कर्म की सीमाओं में है अतः उसे अब तक परमात्म पद की प्राप्ति नहीं हुई है। इस एकता की अनुभूति करना रहस्यपूर्ण है। यह अनुभूति आत्मा से कर्म के अलग होने जैसी है। जैनधर्म में परमात्मा का विचार कुछ-कुछ व्यक्तिगत पूर्ण पुरुष जैसा है। आत्मा स्वयं परमात्मा होती है तथा वेदान्त की तरह ब्रह्म में विलीन नहीं होती है। जैनधर्म में आत्मिक अनुभव विभाजित आत्मा जैसा नहीं है, जो कि परमात्मा से एकाकार होती है किन्तु बन्धन में पड़ी आत्मा अपनी दैवीय शक्ति को छोड़ देती है।

जो आत्मा धार्मिक पथ का अनुसरण कर रहा है, वह आत्मिक सोपानों (गुणस्थानों)पर ऊँचा चढ़ती रहती है तथा एक स्तर से दूसरे स्तर तक चढ़ती रहती है, जब तक कि विभिन्न कर्म नष्ट नहीं होते हैं। कुछ गुणस्थान केवल ध्यान के स्तर हैं तथा ध्यान का विषय शुद्ध आत्मा के शक्तिपूर्ण गुण हैं। प्रतीक्षारत व्यक्ति को सूचित किया गया है कि कुछ सिद्धियों से भ्रमित न हो किन्तु आदर्श अनुसरण करते हुए जब तक आत्मानुभूति न हो तब तक[36]आगे बढ़े।

हम अध्याय-छह में जैन ज्ञान मीमांसा में देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं-अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान। केवल केवलज्ञान की प्राप्ति से आत्मा प्रत्येक वस्तु को जान और देख सकती है, इसमें काल और देश की सीमा नहीं होती है। तीर्थंकर आदर्श शिक्षक हैं, जिन्होंने सर्वोच्च आत्मिक अनुभव को प्राप्त कर लिया है। उनके शब्द सर्वोच्च आगम के हैं। जैनधर्म में रहस्यवाद के सभी मौलिक सिद्धान्त हैं। रहस्यपूर्ण दृष्टियों का बौद्धिकतापूर्ण मूल्यांकन करने के लिए कोई माप नहीं है। ये दृष्टियाँ सत्य की गारण्टी को लिए हुए हैं। निःसन्देह रूप से ये दृष्टियाँ उनके पास हैं, जिन्होंने उनका अनुभव किया है। उनकी वैश्विकता सिद्ध करती है कि वे अनुभव के तथ्य हैं। दृष्टि की झाँकियाँ योगीन्दु ने उल्लिखित की हैं। ये प्रकाश या निर्मलबुद्धिमत्ता की प्रकृतियाँ हैं। निष्कर्ष के रूप में यह उल्लिखित किया जा सकता है कि नैतिकता के कानून की कठोरता एक जैन साधु के लिए निर्धारित की गई है, जिससे इस क्षेत्र को अवकाश नहीं रहता है कि इसमें निम्न स्तर का तन्त्रनिहित है।

जीवन का क्रम जो कि जैन साधु के लिए निर्धारित किया गया है, उसमें इस बात की आज्ञा नहीं है कि गृहस्थों के लाभ के लिए, जिनके साथ उसे बहुत कम समय रहना होता है; वह आश्चर्यजनक और जादूभरी शक्तियों का प्रयोग करे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन रहस्यवाद वेदान्त से भिन्न है। व्यावहारिक दृष्टि को ग्रहण करते हुए जैन तीर्थंकर जैसे-ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर

इत्यादि संसार के रहस्यवादी रहे हैं। प्रो. रानाडे ने ठीक ही कहा है जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एक भिन्न प्रकार के रहस्यवादी थे, जिसका शरीर के प्रति निर्ममत्व ईश्वर साक्षात्कार का सर्वोच्च चिह्न है तथा रहस्यपूर्ण जीवन की विस्तृत सूचना देता है। यह उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि ऋषभदेव के विषय में भागवत् में जो विस्तार से वर्णन दिया हुआ है वह आधार रूप में जैन परम्परा के उल्लेखों से मिलता है[38]।

जैन सिद्धान्त के अनुसार सर्वज्ञता प्राप्ति युक्त आत्मा की दीप्ति सूर्य की दीप्ति के समान चमकती है तथा अभिश्रित सुख का अनुभव करती है, जिसके समान दुनिया में कोई नहीं है। जब आत्मसाक्षात्कार हो जाता है तो बहुत बड़ी ज्योति चमकती है जो साथ में ही लोक के असीमित ज्ञान के साथ सुखपूर्ण हो जाती है।

जैन तीर्थंकरों ने अनुसरण करने के लिए व्यावहारिक कदमों का निर्देश किया है, इनसे आत्मा की सही प्रकृति तथा आन्तरिक दृष्टि की प्राप्ति होती है तथा लोक में अनेक द्रव्यों का ज्ञान होता है। आत्मिक दृष्टि के विकास के साथ यात्रा प्रारंभ होती है। एक प्रत्याशी को अपने समस्त जीवधारियों जैसे पत्नी, बच्चे आदि से अभिन्नता को छोड़ने की आवश्यकता का विचार होता है तथा उस प्रकार की गंभीर बुद्धि का विकास करना होता है; जो कि उसके अपने चारों ओर से लोक के प्रति दृष्टिकोण को बदले। आन्तरिक आत्मा को व्रत और तपों द्वारा अनुशासित होना पड़ता है, रत्नत्रय के प्रति भक्ति रखनी पड़ती है तथा जिनेन्द्र भगवान् के प्रति भक्ति रखनी होती है ताकि वे मन तथा शरीर की शुद्धि रखें एवं शरीर कर्मों को नष्ट करने के योग्य हो सके। आत्मिक अनुभव की निम्नतम स्थिति से किस प्रकार आत्मा ऊँची से ऊँची उदित हो सकती है, तथा आत्मिक विकास की उच्चतम स्थिति का अनुभव कर सकती है, इसका पूरे विस्तार के साथ जब हम चौदह गुणस्थानों का ग्यारहवें अध्याय में वर्णन कर रहे थे; तब विचार हो चुका है।

सोगानी ने जैन नीतिशास्त्र की रहस्यात्मक महत्ता का विस्तृत रूप से वर्णन किया है तथा यह बात कही है कि किस प्रकार मानवीय आत्मा कषायों की गुफा से निकलती हुई चैतन्य के घर में विश्राम करती है। बहिरात्मा प्रत्येक वस्तु को अपना स्वीकार करती है, अन्तरात्मा सबका निषेध; दोनों प्रकारों से परे है। आत्मा अज्ञान की स्थिति से आत्मिक विकास की स्थिति का उदय करती है। इससे उसे सिद्धत्व की प्राप्ति होती है; जो कि सबसे पूर्ण मुक्ति की स्थिति[39]है। राधाकृष्णन् ने जो मुक्त आत्मा का विधेयात्मक वर्णन जिस प्रकार किया है, उसे देना संभव नहीं है। यह अत्यधिक रूप से पूर्ण निष्क्रियता

की स्थिति है। जिम्मर ने यह प्रदर्शित किया है कि उस स्थिति में व्यक्तिवाद, पहले के व्यक्तिगत लक्षण वर्षा की बूँदों की तरह रिसने लगते हैं, जो कि स्पष्ट रूप से आकाश से नीचे उतरते हैं, उनका स्वाद नहीं होता है तथा वे दुर्बल बनाते हैं।[40]

आचार्य कुन्दकुन्द ने काफी स्पष्टता के साथ पूर्ण रूप से मुक्त हुई आत्मा की प्रकृति के विषय में कथन किया है। इस प्रकार की आत्मा सिद्धशिला पर निवास करती है, जो कि लोक के शिखर पर है तथा जन्म और मरण से मुक्त है। यह शुद्ध, सर्वोच्च तथा आठ कर्मों से रहित है। यह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वसुखपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है। इसका विभाजन नहीं किया जा सकता है। इसका विनाश नहीं होता है तथा यह अनन्त है। निर्वाण की इस स्थिति में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सुख, पूर्ण शक्ति, पूर्ण प्रत्यक्ष, चेतनत्व, अस्तित्व, स्थितित्व, सुख दुःख से रहित, न चिढ़, न रुकावट होती है। वहाँ न तो मोह होता है, न चमत्कार[41] होता है।

समस्त मानवीय प्रयत्न का यह लक्ष्य है। समस्त धर्म मुक्ति को चरम लक्ष्य निर्धारित करते हैं। इसकी प्राप्ति न केवल आत्मा को जानने से होती है, अपितु समस्त कषायों से छुटकारे से होती है तथा मन और शरीर की समस्त अशक्तताओं से छुटकारे से होती है, जो कि हमारी आत्मिक उन्नति को छिपाते हैं।

जैनधर्म के अनुसार आत्मा का आत्मिक जीवन की ओर गमन सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रारंभ होता है। यही आत्मिक दृष्टि के साथ प्रत्येक व्यक्ति विश्व का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है, जिसमें कि वह रहता है। मुख्य द्रव्य जीव और अजीव की प्रकृति, विभिन्न प्रकार के कर्मों से बन्धन के कारण तथा अभ्यास के व्रत, जिसके कि द्वारा वह कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्त, जिनका उद्देश्य आन्तरिक शुद्धता है तथा राग से विमुक्ति विकास का मार्ग बतलाते हैं, जिनसे आत्मा की शुद्धि की ओर अग्रगामी होते हैं। मन को नियमित करने तथा आत्मा की मुक्ति के लिए सर्वोच्च महत्त्व ध्यान का है।

शुद्ध और उदासी रहित एकचित्तता को प्राप्त करने की कठिनाईयाँ अनुकूल कारणों के साथ जोर लगाती हैं। पसन्द और नापसन्द के सुप्रसिद्ध विचार, घृणा और क्रोध तथा स्वार्थ और लोभ इनसे कम्पन करता हुआ मन प्रायः व्यवधान युक्त होता है। इस प्रकार के विचार की समस्त मलिनतायें; जो कि ध्यान में व्यवधान उत्पन्न करती हैं; उनको धर्मों के अभ्यास, व्रत, तप तथा कष्ट सहन, अन्तर्निरीक्षण तथा प्रायश्चित्त से दूरकर देना चाहिए। यदि उन्नति को प्राप्त करना है तो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान प्रत्याशी

को शक्ति प्रदान करते हैं ताकि आत्मा की संलग्नता पर आकांक्षा युक्त विजय प्राप्त हो, जब तक कि कर्म पूरी तरह से उपर्युक्त ढंग से नष्ट नहीं हो जाते हैं।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. अमृतचन्द्र सूरि : पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य 224
2. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-3 सूत्र-1 (साध्वी चन्दना की हिन्दी टीका), वीरायतन प्रकाशन, आगरा-2
3. वही, अध्ययन 28, सूत्र 3
4. वही, अध्ययन 10, गाथा-9
5. वही, अध्ययन 30, सूत्र 30
6. नथमल टाटिया : स्टडीज इन जैन फिलॉसाफी, पृ. 281, जैन कल्चरल सोसायटी, बनारस-5
7. रीयलिटी, अध्याय-9, सूत्र 27
8. सी.आर.जैन फण्डामेण्टल्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 63-70, वीर निर्वाण भारती, तीरगरान स्ट्रीट, मेरठ-250002
9. वही, पृ. 70
10. के.सी.सोगानी- इथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, पृ. 232-34
11. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-9, सूत्र 28
12. के.के.हाण्डीकी : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 275 जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
13. जिनभद्रगणि-झाणज्झयणं, गाथा 6-10 (अंग्रेजी अनुवाद सहित : एस.के.रामचन्द्र राव) ओरिएण्टल रिसर्च ट्रस्ट,मद्रास
14. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-9, सूत्र 35 (रीयलिटी)
15. झाणज्झयणं, गाथा-19-24
16. डॉ.ए.एन्. उपाध्ये : स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका
17. आर.विलियम्स-जैन योग, पृ. 239-40 आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
18. नथमल टाटिया : स्टडीज इन जैना फिलॉसाफी, पृ. 283
19. झाणज्झयणं, गाथा-29-32
20. रीयलिटी, पृ. 273
21. झाणज्झयणं (अंग्रेजी टीका सहित,टीकाकार- एस.के. रामचन्द्र राव), पृ. 90
22. वही, पृ. 92
23. नथमल टाटिया : स्टडीज इन जैना फिलॉसाफी, पृ. 292
24. झाणज्झयणं, गाथा-102
25. द्रव्यसंग्रह : एस.सी. घोषाल कृत अंग्रेजी टीका, पृ. 55-56 सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा (भारत)
26. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 277

27. वही, पृ. 277
28. समयसार, गाथा-196
29. योगीन्दुदेव : परमात्मप्रकाश, गाथा-189 तथा 196 कन्नड टीका, चन्द्र राजेन्द्र शास्त्री, डी.मन्जय्य हेगडे, धर्मस्थल, कर्नाटक
30. पूज्यपाद : इष्टोपदेश, श्लोक-22 रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई
31. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 277
32. आर.डी. रानाडे : पाथवे टू गॉड इन कन्नड लिट्रेचर, पृ. 2,3 भवन्स पब्लिकेशन, बम्बई
33. वही, पृ. 12-13
34. वही, पृ. 18
35. परमात्म प्रकाश, पृ. 38-39
36. वही, पृ. 40
37. वही, पृ. 40-41
38. वही, पृ. 39
39. इथिकल डाक्ट्राइन्स इन जैनिज्म, अध्याय-6
40. टी.जी. कलछटगी : जैन व्यू ऑफ लाइफ, पृ. 134, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
41. नियमसार : गाथा-176-7, 177, 178, 181, 183

❑❑❑

अध्याय-19

अनेकान्तवाद - स्याद्वाद

एक द्रव्य की प्रधान विशेषता इसका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यत्व है। ये तीनों विशेषतायें एक दूसरे से भिन्न हैं तथा द्रव्य के सिवाय ये कहीं समझी भी नहीं जा सकतीं। ध्रौव्य से तात्पर्य है कि द्रव्य का मौलिक स्वभाव नष्ट नहीं होने वाला है, यद्यपि रूप, देश और काल की अपेक्षा कुछ परिवर्तन होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि नष्ट न होना रूप स्वभाव एक दृष्टि से है, सभी दृष्टिकोणों से नहीं; क्योंकि ऐसा माना जायेगा तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता है।

द्रव्य में अनन्तगुण होते हैं। प्रयोग और आवश्यकता के लिए द्रव्य की कुछ निश्चित विशेषताओं को एक दृष्टि से मुख्यता दी गई है। दूसरी विशेषताओं को प्रधानता नहीं दी गई है; क्योंकि उस समय उनका प्रयोग नहीं होता है। इस प्रकार अस्तित्व रूप गुणों को भी अभिव्यक्त नहीं किया गया है; क्योंकि वे दूसरे रूप में महत्त्व के हैं (अनर्पित)। इन दो दृष्टिकोणों के स्थापन में कोई विरोध नहीं है। उदाहरण के लिए देवदत्त को पिता, पुत्र, भाई , भानजा इत्यादि होने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, पिता की अपेक्षा वह पुत्र है, इसी प्रकार दूसरे संबंधों के बारे में भी समझना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य गुणों की अपेक्षा द्रव्य नित्य है, विशिष्ट पर्यायों की अपेक्षा वह नित्य नहीं है; फिर भी दोनों में विरोध नहीं है।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य जो अस्तित्वमय है, उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह अनेक दृष्टिकोणों के द्वारा अनुशासित होते हैं। यह अपेक्षाकृत बहुवाद है। प्रत्येक अणु अविभाज्य है। जब अणुओं का मेल होता है, तब स्कन्ध का निर्माण होता है। स्निग्ध और रुक्षगुण के निमित्त से परमाणुओं का मिलन होता है, जिससे वे संयुक्त होते हैं। जब पुद्गल के स्निग्ध और रुक्ष गुण होते हैं, तब वे

पुद्गल के मेल के कारण होते हैं। स्निग्ध गुण वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जैसे जल, दूध, घी, तेल इत्यादि।

अतः प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायों से विशेषित होता है[4]। प्रत्येक द्रव्य में अपनी निजी विशेषतायें होती हैं, जो उसको दूसरे सभी से भेद करती हैं। सामान्य दृष्टि से ज्ञान अनिवार्य रूप से आत्मा में है, जबकि रूप आदि पुद्गल के साथ जुड़े हुए हैं।

जैनधर्म के अनुसार; जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं; लोक छः द्रव्यों के मेल से बना है। इनमें से प्रत्येक यथार्थ है तथा इसके अपने निजी गुण हैं। प्रत्येक द्रव्य के सामान्य और विशेष गुण हैं। एक वस्तु के गुणों में परिवर्तन हो सकता है। उदाहरण के लिए एक मनुष्य बालकपन से युवा के रूप में बदलता है। युवा से वह अधेड़ मनुष्य होता है तथा प्रौढ़ावस्था से वृद्ध अवस्थावाला होता है। इन सभी परिवर्तनों में वह अपनी मनुष्य की मौलिक विशेषतायें बनाए रखता है। यह परिवर्तन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होता है । इसी से अनेकान्तवाद का आधार बनता है। इसे अनेक दृष्टिकोण, अपेक्षाकृत बहुत्ववाद भी कहते हैं।

जैनधर्म में ज्ञान का क्रमबद्ध विभाजन है। दार्शनिक दृष्टि की अपेक्षा यह दो नयों में विभाजित है- 1. निश्चयनय, तथा 2. व्यवहारनय । इनमें से पहला वस्तु के मौलिक स्वरूप का वर्णन करता है, जो कि अपरिवर्तनीय रहता है, जबकि दूसरा व्यावहारिक उपयोगिता का वर्णन करता है। यह भिन्न-भिन्न दशाओं और रूपों का वर्णन करता है। यह मिट्टी से बना घड़ा है, यह निश्चय नय का उदाहरण है, जबकि यह घी का घड़ा है, यह केवल व्यवहार नय से सत्य है[5]। यथार्थज्ञान लैम्प के समान स्वयं चमकता है, जबकि वस्तु बाहर होती है। लोक का मानसिक और शारीरिक विश्लेषण यह प्रकट करता है कि यह अनेक रूप वाला है।

जैन दृष्टि यह है कि लोक में अनन्तानन्त जीव हैं। पुद्गल गुणों और तादाद में अनिश्चित है। अणु; जिसकी खोज आधुनिक विज्ञान ने की है; उसके विषय में जैन विचारों को ज्ञान था। अणुओं से भौतिक वस्तुओं की अनिश्चित विविधताओं का उदय होता है। परमाणु संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। काल की भी अनन्त इकाईयाँ होती हैं, इन्हें कालाणु कहते हैं। अणुओं के द्वारा मिनट, घण्टा, दिन, वर्ष आदि का भेद होता है[6]। धर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं तथा अधर्म द्रव्य के भी असंख्यात प्रदेश हैं, जैसे कि एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य गति और स्थिति में सहायक होते हैं। धर्म और अधर्म दोनों द्रव्यों से

पूरा लोक व्याप्त है, जैसे कि तिलों में तेल व्याप्त रहता है। दोनों एक दूसरे में बिना बाधा के व्याप्त हैं; क्योंकि वे आकाश के समान अभौतिक हैं। आधुनिक विज्ञान के शब्दों में उनमें ईश्वर के लक्षण विद्यमान हैं, जिसके विषय में माना जाता है कि उसके द्वारा समस्त आकाश भरा हुआ है तथा समस्त इलैक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगें परिवर्तित होती रहती हैं। अतः यह अनुसृत होता है कि जैनदर्शन के अनुसार समस्त द्रव्य सत् का निर्माण करते हैं तथा उनमें अनेकता[8] है।

यह देखा गया है कि एक अकेला द्रव्य अनन्त पर्यायों से युक्त होता है तथा द्रव्य के अनन्त भेद हैं। पूरी तरह से एक द्रव्य को जानना ज्ञान की वस्तु की पूरी श्रेणियों को जानना है। यह सर्वज्ञ के ही सम्भव है। एक द्रव्य, गुण और पर्यायों से युक्त होता है। यद्यपि द्रव्य वही है, किन्तु यह भिन्न दिखाई देता है; क्योंकि इसकी भिन्न-भिन्न पर्यायें होती रहती हैं। अतः जब द्रव्य के ऊपर कुछ-कुछ कहा जाता है तो कथन के सात प्रकार हो जाते हैं[8]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा लोक अनन्त धर्मों वाले द्रव्य का मिश्रण है। इसको समग्र रूप में देखने के लिए विषयगत और वस्तुगत धर्मों को और इसके विरोधाभास में अन्य विषयों को जैसे 'मैं' और 'मैं नहीं', एक और अनेक, समरूप और विषमरूप, नित्य और क्षणिक, निश्चित और अनिश्चित, पहले का बाद का, कारण और कार्य, अच्छा और बुरा, सुन्दर और असुन्दर; ये किसी बुद्धि के लिए लगभग अशक्य हैं। बुद्धि के द्वारा गृहीत विषय कभी भी सम्पूर्ण नहीं होता है, यह उसका एकदेशीय दृष्टिकोण होता है। यह केवल एक सापेक्षिक सिद्धपुरुष की दृष्टि है, जिसका कि संबंध विश्वासों, पक्षपातों, मनःस्थितियों तथा उद्देश्यों में निहित है।

यह सामान्य ज्ञान है कि लोक के विषय में भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न दृष्टियाँ अपनायी हैं। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं, वे हैं निषेधवाद (शून्यवाद), द्वैतवाद, एकवाद या अद्वैतवाद, भौतिकवाद, नास्तिकतावाद आदि। इनमें से प्रत्येक मत अनेक बिन्दुओं को व्यक्त करता है तथा दृष्टियाँ स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। प्रत्येक दृष्टि किसी निश्चित दृष्टिबिन्दु के अनुसार सही है, किन्तु कोई दृष्टिबिन्दु सम्पूर्ण नहीं है। किसी व्यक्तिगत दृष्टि का विश्लेषण नयवाद का कार्य है। उमास्वामी के अनुसार ज्ञान प्रमाण और नय के साधन से प्राप्त होता है[10]। प्रमाण अपने आपका तथा वस्तुओं का सही ज्ञान करना है, जो कि पहले सिद्ध नहीं हुआ[11]। यह सम्यग्ज्ञान का निमित्त कारण है जो कि संदेह से मुक्त होना चाहिए। इसमें अस्पष्टता और विपरीतता नहीं होनी चाहिए। सत्य

भेदज्ञान की कमी और असत्य मिथ्याज्ञान का कारण है। मानसिक तथा शारीरिक व्यवधान मिथ्याज्ञान की रचना करते हैं। वस्तु में भिन्न-भिन्न विशेषतायें होती हैं, जिनका ज्ञान केवल सर्वज्ञ के द्वारा ही हो सकता है। मानवीय प्रत्यक्ष तथा ज्ञान की अपनी सीमायें हैं, जबकि हम प्रायः वस्तु की आंशिक दृष्टि को ही ग्रहण करते हैं। यह नय है, इसमें किसी विशेष पहलू का ही वर्णन होता है जिसे कि वक्ता अपनी दृष्टि में रखता है। अतः यह दृष्टिकोणों का सिद्धान्त है। नय ज्ञाता के अभिप्राय को कहते हैं-''नयः ज्ञातुरभिप्रायः।''

अतः नय बोलने वाले के विशेष पहलू का ही वर्णन करता है, किन्तु यह शेष गुणों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता है। जब हम सोने के रंग के विषय में कहते हैं तो हम इसके वजन, स्पर्श, रस, गंध और दूसरे गुणों का कथन नहीं करते हैं किन्तु हमारे कथन का यह मतलब नहीं है कि सुवर्ण में रंग के अतिरिक्त दूसरे गुण नहीं[12] हैं।

पूज्यपाद ने नय को एक परिकल्पना के रूप में परिभाषित किया है जो कि एक वस्तु के अनेक गुणों में से किसी एक गुण, एक विशेष दृष्टि से बिना किसी विरोध के विशेषित करता[13] है। यह दो प्रकार का होता है- **1. द्रव्यार्थिक**-जो किसी द्रव्य के सामान्य गुणों का निर्देश करता है तथा उसकी पर्यायों का निर्देश नहीं करता है जो कि द्रव्य में निरन्तर अन्तर्निहित हैं। **2. पर्यायार्थिक-** जो निरन्तर द्रव्य की परिवर्तित दशाओं का निर्देश करता है। आगे नयों का विभाजन इस प्रकार किया है-1 नैगम 2. संग्रह 3. व्यवहार 4. ऋजुसूत्र 4. शब्द 6. समभिरूढ़, तथा 7. एवंभूत। पहले तीन द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं; क्योंकि वे वस्तुओं का वर्णन करते हैं, जबकि अन्तिम चार पर्यायार्थिक नय में आते हैं; क्योंकि उनका सम्बन्ध द्रव्यों की पर्यायों के साथ है।

चूँकि सत् में अनन्त गुण होते हैं, अतः इसे अनन्त रूपों में देखा जा सकता है। जैनदार्शनिकों ने केवल सात नयों का ही वर्णन किया है अतः इनका वर्णन मैं पृथक्-पृथक् रूप से करता हूँ।

1. नैगम नय- यह किसी चीज के उद्देश्य या इरादे को वर्णन में लाता है; जिसे अभी भी प्राप्त करना है या पूर्ण करना है। पूज्यपाद आचार्य ने एक व्यक्ति का उदाहरण दिया है, जो ईंधन, जल आदि इकट्ठा कर रहा है। जब उससे कहा गया कि वह क्या कर रहा है? वह उत्तर देता है-''मैं खाना बना रहा हूँ।'' वह यथार्थ में खाना बनाने में संलग्न नहीं है, किन्तु उसकी समस्त क्रियायें उसके यथार्थ उद्देश्य खाना बनाने में लगी हुई हैं। इसी प्रकार जब हम भूतकाल या भविष्य के कार्यों के विषय में एक स्थायी रूप में कहते

हैं तो हम इस नय का दृष्टान्त लेते हैं। यह भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है। पुनः जब कोई व्यक्ति अपने मार्ग की टिकट कटा रहा होता है तो हमारे पूछने पर वह कहता है- मैं इंग्लैंड जा रहा हूँ।[14] जब यह नय द्रव्यों का वर्णन करता है तो यह द्रव्य के सामान्य या विशेष गुणों को नजरंदाज नहीं करता है। इसमें सामान्य या विशेष में से किसी एक सामान्य या विशेष गुण पर जोर नहीं होता है।

2. संग्रह नय- इसका संबंध एक वर्ग या एक प्रकार की वस्तु के समहू के सामान्य गुणों से होता है। उदाहरणार्थ जब हम द्रव्य शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हम सामान्य रूप से सभी छह द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। यह नय एक कक्षा की विशेषताओं से संबंधित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह नय पूरी तरह विशेष गुणों के विषय में उसके अस्तित्व के नकारने में अन्धा है, जिस मामले में विरोध हो सकता है। उल्लेखनीय केवल एक बिन्दु है कि यह प्रत्येक वस्तु की विशेष विशेषताओं का उल्लेख नहीं करता है, जो कि समूह या वर्ग से संबंधित है।

3. व्यवहार नय- व्यवहार नय विशेष या भेद को विषय करता है। जब हम किसी वस्तु के विषय में पृथक् रूप से इसके भेद के विषय में कहते हैं, तब हम इस नय का उदाहरण लेते हैं। जब हम जीव या पुद्गल के विषय में कहते हैं तो एक विशेष प्रकार के द्रव्य का निर्देश करते हैं तथा उसका उदाहरण इस प्रकार का नय है।

तीन प्रकार के नय; जो कि ऊपर कहे गए हैं वे वस्तु की एकरूपता को देखने के परिणाम हैं। वे द्रव्य के सत् रूप को समझने के प्रयत्न हैं। इन्हें द्रव्यार्थिकनय कहा है। शेष चार नय; जो कि पर्यायार्थिक रूप में कहे गए हैं वे पर्याय या समूह के विश्लेषण के रूप में कहे गए हैं।

4. ऋजुसूत्र नय- यह नय वस्तु के वर्तमानकालीन रूप से संबंधित है। यह इसके भूतकाल या भविष्यत् कालीन दशा से संबंधित नहीं है; क्योंकि अस्तित्व की वर्तमान दशा स्वयं वह है, जो कि अनेक मामलों के विषय में है। इसमें किसी विशेष क्षण की सही दशा का वर्णन होता है या लम्बे समय तक जो सही स्थिति रहती है। पहला भेद सूक्ष्म कहलाता है तथा दूसरा स्थूल कहलाता है। एक आत्मा क्षणिक अच्छे विचार के साथ पहले का एक उदाहरण है, जबकि एक जीव एक मानवीय दशा के साथ जीवनकाल के लिए एक उदाहरण है।

5. शब्द नय- यह शाब्दिक दृष्टि-बिन्दु है जो कि पर्यायवाची के रूप में अनूदित किया गया है। जैन कृतियों में इस नय का उल्लेख करने के लिए दो उदाहरण हैं-कुम्भ,

कलश तथा घट शब्द उसी वस्तु को कहते हैं जो कि घड़े के पर्यायवाची हैं। इसी प्रकार से बहुत से नाम जैसे-इन्द्र, शुक्र और पुरन्दर एक ही व्यक्ति को रेखांकित करते हैं, यद्यपि उनमें से प्रत्येक शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ है। यदि कोई दो शब्द हों जिनका कि अर्थ एक हो तो उनका एक साथ ही उपयोग एक आभास रूप होगा, जो कि शब्द नयाभास है।

6. समभिरूढ़ नय- यह शब्द की व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से है। बहुत से ऐसे शब्द हैं, जो एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, किन्तु उनका जब हम व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हैं तो वे भिन्न संकेत करते हैं। यद्यपि शुक्र और इन्द्र एक ही व्यक्ति को कहा जाता है, किन्तु व्युत्पत्ति रूप में इन्द्र का अर्थ है जो इन्दन क्रिया या ऐश्वर्य से युक्त हो, जबकि पुरन्दर का अर्थ होता है-नगरों को नष्ट करने वाला, चूँकि दोनों के अर्थ में महत्त्वपूर्ण भिन्नता है; क्योंकि भिन्न-भिन्न कार्यों का संकेत करते हैं। जबकि शब्द नय अत्यधिक सामान्य है, जो कि प्रत्येक शब्द का प्रचलित अर्थ कहता है। वर्तमान में प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ गहराई में जाता है, जो कि किसी वस्तु के गुण का प्रतिनिधित्व करता है। शब्दनय उस सिद्धान्त का अनुसरण करता है कि यथार्थ में प्रत्येक वस्तु शब्द के द्वारा वर्णन करने योग्य है। बहुत से शब्द उसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए प्रयुक्त है, जिनका विषय एक वस्तु है, किन्तु तथ्य में जब व्युत्पत्तिपरक रूप में विचार किया जाता है तो प्रत्येक शब्द का संकेत विशिष्ट है, जो कि सामान्य अर्थ से भिन्न है। नयवादी दोनों दृष्टिकोणों में कोई विरोध नहीं देखता है। यह इसलिए है, क्योंकि उसके अनुसार समभिरूढ़नय व्युत्पत्ति परक या व्याकरणात्मक अर्थ का कठोरता से संकेत करता है, जबकि शब्दनय शब्दों की समीक्षा किए बिना प्रचलित या प्रायोगिक अर्थ को ग्रहण करता है[17]।

7. एवम्भूत नय- यह निश्चय नय का रूप है। यह किसी वस्तु की वर्तमानकालीन अवस्था का निश्चय करता है। इस नय के अनुसार एक शब्द का प्रयोग वस्तु के उसी रूप को ग्रहण करने वाला होना चाहिए, जिसका कि वह शब्द संकेत करता है। इस नय के अनुसार पुरन्दर शब्द का प्रयोग तभी किया जायेगा जबकि वह नगरों का विदारण करने में संलग्न होगा। यह समभिरूढ़ की अपेक्षा प्रयोग में अधिक कठोर है। क्योंकि वह वस्तु की सही अवस्था का निश्चय करता है, चाहे व्युत्पत्तिपरक या सामान्य अर्थ कुछ भी हो।

ये सातों नय; जिनका कथन उमास्वामी ने किया है, एक दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि उनका क्षेत्र सूक्ष्म या विस्तार छोटा है तथा इसका परवर्ती नय पहले पर निर्भर है। जबकि

वह क्रम जो कि सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है वह एक द्रव्य की अनेक विशेषताओं को बतलाने की दृष्टि से किया गया है। नयों के बहुत से उपभेद हैं। वे एक दूसरे पर निर्भर हैं तथा उनके मिले जुले यौगिक सम्यग्दर्शन का मार्ग बतलाते हैं। पूज्यपाद आचार्य उनमें से प्रत्येक को सूती धागे के रूप में व्यंजित करते हैं। जब प्रत्येक धागा अच्छी तरह से गुँथा हुआ हो तो उनका वस्त्र बन सकता है, जो कि शरीर को आरामदेह होता है, किन्तु जब प्रत्येक को अलग से या स्वतंत्र रूप से लिया जाय तो उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है[18]। वस्त्र का कार्य प्रत्येक शक्ति रूप से धागे में वर्तमान है; किन्तु यह तभी हो सकता है जबकि वे सम्मिलित होकर सम्यग्दर्शन का सहयोग करें। नयवाद उन दार्शनिकों के लिए सूचना है जो इस बात पर जोर देते हैं कि उनकी पद्धति पूर्ण और विस्तृत है। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का समाधान दिखलाता है तथा समस्त नयों में मेलजोल कराता है। सत् के विषय में भिन्न-भिन्न पहलुओं की सापेक्षता को यह सम्मान देता है।

नय इस प्रकार पूर्ण के एक भाग को प्रकाशित करते हैं तथा उन्हें पूर्ण होने की भूल नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, अतः अनन्त नय होते हैं तथा इन्हें विस्तृत खाके के अन्दर सात, दो या इसी रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे कि अकलंकदेव ने लक्षित किया है- नय ज्ञाता का विशेष अभिप्राय है- ''नयोज्ञातुरभिप्राय विशेषः।'' इन विभिन्न नयों का संश्लेषण व्यावहारिक आवश्यकता है। इसमें प्रत्येक दृष्टिकोण अपना सापेक्ष महत्त्व रखता है तथा इसकी पूर्णता स्याद्वाद के द्वारा होती है[19]।

स्याद्वाद- यह स्पष्ट है कि विश्लेषणात्मक नय केवल आंशिक सत्य को बतलाते हैं तथा यह केवल संश्लेषणात्मक ही मेल है तथा ज्ञान की छिपी हुई स्कीम में सामंजस्य लाएगी। वह संश्लेषणात्मक पद्धति है जो कि स्याद्वाद के सिद्धान्त के द्वारा लागू होता है। बहुत से जैन विचारकों ने सात अन्धों तथा हाथी के दृष्टान्तों द्वारा उदाहृत किया है। एक अन्धा आदमी पैर को छूकर कहता है कि हाथी एक स्तम्भ के समान है। दूसरा उसका शरीर छूता है और कहता है कि यह दीवाल के समान है। तीसरा उसके कान को छूता है और कहता है कि हाथी सूप के समान है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति हाथी के केवल एक अंग के विषय में अनुभव करता है और मानता है कि यह पूरे सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। वह व्यक्ति जो पूरे हाथी को अपनी आँखों से देख सकता है, उसे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक अंधे व्यक्ति का दृष्टिकोण केवल एक आंशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करता है तथा पूर्ण सत्य केवल समस्त दृष्टिकोणों के तार्किक सामंजस्य से समझा जा सकता है। यह पुनः निर्देश करेगा कि प्रत्येक दृष्टिकोण सापेक्ष है और वही व्यक्ति इसे व्यक्त कर सकता है जो छूने के संवेदन का अनुभव करता है।

स्याद्वाद सप्तभंगी के सिद्धान्त को आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय की 14वीं गाथा में व्याख्यायित किया है तथा प्रवचनसार के द्वितीय अधिकार की 22 व 23वीं गाथा में व्याख्यायित किया है। यह निर्देश करना आवश्यक है कि प्रवचनसार के दूसरे अधिकार में ज्ञेयत्व को जानने की योग्यता का वर्णन है। सन्दर्भ; जिसके अन्तर्गत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है वह द्रव्यों की विषय वस्तु से संबंधित है, जिसका विषय अस्तित्व, पर्याय और विनाश है। यह हम जान ही चुके हैं कि समस्त ज्ञान के समूह को सर्वज्ञ के द्वारा ही जानना संभव है। इस सिद्धान्त की आवश्यकता का उदय इस कारण होता है कि पर्यायों का नित्य क्रम, जिसमें द्रव्य विषय है और मनुष्यों की इन्द्रियाँ पूर्ण सत्य को समझने में असमर्थ हैं।

ज्ञान की वस्तु विशाल सम्मिश्रण है; जो कि द्रव्य, गुण और पर्यायों से बना है। जिसका विस्तार तीनकाल में है तथा अनन्त आकाश है, तथा एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का जो विषय है। इस प्रकार ज्ञान की वस्तु को सर्वज्ञ ही समझ सकता है। इन्द्रियाँ ज्ञान का अप्रत्यक्ष साधन हैं और जो कुछ उनके द्वारा ज्ञान होता है, वह सात अन्धे व्यक्तियों द्वारा किए गए हाथी के प्रत्यक्ष जैसा है। सामान्य मनुष्य इन्द्रियों की सीमा से बाहर उदित नहीं हो सकता, अतः उसका सत्य का ज्ञान एकांगी है तथा किसी एक विशेष दृष्टि से हो सकता है। यह जैनों के नयवाद की ओर अग्रसर होता है। जब सामान्य मानवीय ज्ञान एकांगी है तो एक नयी पद्धति जो हमारी पहुँच की मिश्रित सत्यता का कथन करती है; उस पर विचार करना है और वह स्याद्वाद है; जिसे अपेक्षाकृत कथन पद्धति कह सकते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त वस्तु की जटिलता के विषय-वस्तु के ज्ञान में कठोर जागरूकता का प्रत्यक्ष परिणाम है तथा मानवीय समझ और अभिव्यक्ति का परिणाम है। द्रव्य निरन्तर बदलती हुई पर्यायों का विषय है तथा हम उसे एक या दूसरी पर्याय के माध्यम से देखते हैं। चाहे वह पर्याय वर्तमान हो या अनुपस्थित हो। जब हम इसकी वर्तमान पर्यायों को देखते हैं तब हमें भूतकाल और भविष्यत् काल की पर्यायों का निषेध नहीं करना चाहिए। यह विशिष्ट स्थिति हमें सशर्त विधेयात्मकता की ओर अग्रसर करती है। इसमें अपेक्षाकृत निषेध और अवर्णनीयता है; जो अपने मेल से सात वचन प्रकारों को संभव बनाते[20]हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद का संबंध उस ज्ञान से है जो कि इन्द्रियों से निकला है। जब हम नयवाद के विषय में विचार कर रहे थे तब हम दिखला चुके हैं कि सम्पर्क के भिन्न-भिन्न तरीके ग्रसित किए जा सकते हैं और विश्लेषण किए जा सकते

हैं। इन पद्धतियों या पर्यायों का संश्लेषण स्याद्वाद के आधार का निर्माण करता है। स्याद्वाद इस प्रकार नयवाद का ही एक रूप है। नयवाद विश्लेषणात्मक है और स्याद्वाद प्रमुख रूप से विचारात्मक[21] है। यह संश्लेषणात्मक तथा मुख्य रूप से क्रियात्मक है। यह अभिव्यक्ति से समझा जाना चाहिए कि अस्ति और नास्ति का सिद्धान्त विशेष रूप से वास्तविकता के संसार के केवल रूप में ही निश्चित है या संसार में एक वस्तु के रूप में निश्चित है।

यह सिद्धान्त जिन वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है, उनके लिए प्रयुक्त [22]नहीं होना चाहिए।

स्याद्वाद का सिद्धान्त सात अंगों में बनाया गया है-

1. स्यात्अस्ति- स्यात् है।
2. स्यान्नास्ति-स्यात् नहीं है।
3. स्यादस्ति नास्ति च -स्यात्अस्ति भी है और नास्ति भी है।
4. स्यात् वक्तव्यं - स्यात् कथन करने योग्य है।
5. स्यादस्ति च अवक्तव्यं च-स्यादस्ति है और अवक्तव्य है।
6. स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च-स्यान्नास्ति है और अवक्तव्य है।
7. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च-स्यात् है, नहीं है तथा अवक्तव्य है।

एक उदाहरण इन साध्यों को स्पष्ट बना देगा। सात विश्लेषण इन तीन के परिवर्तन और मिश्रण से बनाए गए हैं- 1. अस्ति 2. नास्ति, तथा 3. अवक्तव्य। इन सबमें स्यात् शब्द सामान्य है। जहाँ विधेय साधारण है, वहाँ यह किसी वस्तु से संबंधित है। जहाँ यह मिश्रित है, वहाँ विधेय द्रव्य की विशेषता के सन्दर्भ में संबंधित है तथा द्रव्य के स्थान, समय या देश से संबंधित है। उदाहरणार्थ एक घड़ा; जो कि मिट्टी से बना है, वह वस्त्र के समान दूसरा द्रव्य है।

जहाँ तक प्रथम रीति का सम्बन्ध है; एक घड़ा मिट्टी से बना है। जब हम दूसरी रीति के विषय में विचार करते हैं तब यह सुवर्ण निर्मित या दूसरे धातु का अस्तित्व नहीं है। दूसरी रीति का गौरव प्रथम के संदर्भ में विरोध उत्पन्न नहीं कर रहा है, किन्तु स्पष्ट कर रहा है कि घड़े का अस्तित्व तो है, किन्तु धातु के घड़े का नहीं। तीसरी रीति अस्तित्व और नास्तित्व की एक साथ की अवस्थाओं से संबंधित है। स्पष्ट रूप से कोई कह सकता है कि यह परस्पर विरोधी है, किन्तु इस कथन की तार्किक परीक्षा इस बात को प्रकट करेगी कि इसका संबंध दो कथनों और अस्तित्व की दो दशाओं से है। यह मिट्टी

के बने घड़े के अर्थ में अस्तित्व में है किन्तु सुवर्ण के बने घड़े के अर्थ में नहीं है। सम्मिलित कथनों में कोई विरोध नहीं है। एक भवन के विषय में मानते हुए यह प्रारंभिक रूप में रहने के लिए बनी है किन्तु साथ में गोदाम के रूप में भी प्रयुक्त होती है। एक व्यक्ति कह सकता है कि यह एक घर है, जबकि दूसरा कह सकता है कि यह घर नहीं है, अपितु गोदाम है। कथन का प्रथम भाग जिस उद्देश्य के लिए इसे बनाया गया है उस उद्देश्य की अपेक्षा सही है, जबकि दूसरा भाग उसके वास्तविक प्रयोग की दृष्टि से सही होगा। अतः कथन के तीसरे प्रकार में कोई विरोध नहीं है।

चौथा भंग किसी वस्तु को अवक्तव्य कहता है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है तथा कभी-कभी एक शब्द एक अर्थ से अधिक अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार के मामले में एक शब्द ही शब्दों का कार्य करता है। वह उस विचार पर निर्भर होता है जो यथार्थ रूप में प्रतिपादित होने को है और वह सन्दर्भ जिसके अन्तर्गत वैकल्पिक अर्थ को बतलाने की आकांक्षा रहती है। अवक्तव्यपने की स्थिति शब्द के अपर्याप्त होने के कारण उदित है जिसमें कि सम्पूर्ण विचार का प्रतिपादन करने के लिए किसी वस्तु के समस्त गुणों को समझना होता है। अतः जहाँ पर दो विचारों की एक साथ उपस्थिति होती है; जो कि घड़ा या अन्य कोई वस्तु होती है; तब विधेय अवक्तव्य होता है। इस विधेयात्मकता का तर्क तब स्पष्ट होता है जब हम स्मरण करते हैं कि एक शब्द एक साथ दो अर्थों को कहने में असमर्थ होता है। एक अभिव्यक्ति के द्वारा सत्य की पूरी श्रेणी का प्रतिपादन नहीं हो सकता है अतः विधेय की अवक्तव्यता हो जाती है। उदाहरण के लिए जैसे एक ताड़ वृक्ष का ताजा रस है, हम इसे नीरा कहते हैं। इसे कुछ समय तक रखते हैं तथा यह फेन उगलना प्रारंभ कर देता है, जबकि हम यह नहीं कह सकते कि यह तरल पदार्थ नीरा है या मादक पेय है। केवल तार्किक उत्तर होगा-मैं नहीं कह सकता हूँ, यह अवक्तव्य है तथा तरल पदार्थ का गुण अवक्तव्य होता है। अपने उदाहरण की ओर लौटने के लिए एक प्रयत्न करना होता है कि घड़े में होना तथा न होना एक साथ है। शेष बचे हुए तीन अंग तीन प्रमुख विचारों के मेल हैं। इस मार्ग में ये तीन भंग चार भंगों से मिलकर यहाँ तक वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। समस्त सम्भव या सत्य के वैकल्पिक पहलू, जो कि प्रश्न में वस्तु से संबंधित हैं, समाप्त हो जाते हैं[23]।

पाँचवाँ भंग पहले और चौथे का मेल है। यह अस्तित्व के दो गुणों को विधेयक बनाता है तथा एक साथ अवक्तव्य भी कहता है। घड़ा स्यात् है तथा अवक्तव्य है। इसका अर्थ यह है कि दो विधेयक एक साथ उपस्थित होते हैं। होना अस्तित्व को

बतलाता है जबकि अवक्तव्यता द्रव्य के परिवर्तित भंग की अवक्तव्यता को बतलाती है; जिसका संदर्भ द्रव्य, रूप, काल और क्षेत्र होता है।

छठा भंग स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च है। घड़ा नहीं है और अवक्तव्य है। घड़ा अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है और अवक्तव्य है, क्योंकि दोनों विधेय एक साथ होने की अपेक्षा अवक्तव्य हैं। यह एक साथ तीन विचारों का विधान है।

सातवाँ भंग एक साथ अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य है। घड़ा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा है तथा दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नहीं है। जब दोनों एक साथ कहना होते हैं तो वे अवक्तव्य हो जाते हैं। यह तीसरे और चौथे भंग के मेल से बनता[24]है।

स्याद्वादी के लिए अस्तित्व एक बड़ी जटिलता है। मानव मन अच्छी तरह से इसे समझ नहीं सकता है, न मनुष्य की वाणी ठीक तरह से अभिव्यक्त कर सकती है। इसी प्रकार पूर्ण तथा स्पष्ट कथन न्यायालय से बाहर हैं तथा जहाँ तक विशेष दृष्टिकोण का सम्बन्ध[25] है; सभी कथन सत्य हैं। यह स्पष्ट होना चाहिए कि दृष्टिकोणों के यौगिक सात से अधिक नहीं हो सकते। अतः सैद्धान्तिक रूप से सात ही दृष्टिकोण हो सकते हैं, अधिक नहीं। इस प्रकार सत्यता सात कथनों के लिए खुली है, अधिक नहीं। भंग सात ही हैं, न अधिक हैं, न कम। इसका कारण यह है कि यह विश्वास किया जाता है कि कोई जटिल स्थिति आचरण के लिए इस सात प्रकार की तकनीक उत्तरदायी है। शर्त यह है कि कोई इसका निपुणतापूर्वक प्रयोग करे। इन सात भंगों के अतिरिक्त भंगों को घटाना असंभव पाया जायगा; क्योंकि यदि कोई भंग जोड़ा गया तो पहले से ही वह भंग इन सात भंगों में विद्यमान है तथा यदि इनमें से कोई भंग घटाया गया तो यह आवश्यक अंगों को क्षति पहुँचायेगा[26]। आइंस्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त ने देश और काल के बीच जुड़ाव की स्थिति की स्थापना का प्रयास किया तथा तेज रफ्तार पर पिण्ड को निर्भर बनाया,जिसके साथ यह चला हो। वह सिद्धान्त जिससे आइंस्टीन चले; उसने यह प्रतिपादित किया कि समय और देश का अर्थ भिन्न-भिन्न देखने वाले के लिए भिन्न-भिन्न है। किसी एक देखने वाले को एक-दूसरे से भेद करना सरल है, किन्तु हमें एक दर्शक से दूसरे दर्शक की पहचान की योग्यता नहीं है। कोई ऐसा प्रयोग नहीं है, जिसके द्वारा हम इसका प्रयत्न कर[27] सकें। यह सिद्धान्त अभी तक अपूर्ण माना जाता है। सापेक्षवाद की तुलना में स्याद्वाद अधिक सरल और कम विस्तृत है। इसका कारण पूरी तरह से प्रत्यक्ष है। मानवीय ज्ञान के बन्धन अधिक विस्तृत हो गए हैं तथा विज्ञान की

उपलब्धियाँ कुछ शताब्दियों पूर्व से अधिक विस्तृत हो गई हैं। यथार्थ दृष्टि के लिए स्याद्वाद और सापेक्षवाद का जीवन और उसकी समस्याओं के लिए योगदान के विषय में जब हम विचार करेंगे तो वे परिस्थितियाँ तथा युग जिसमें उनका प्रचार किया गया है, एक जैसी ही हैं[28]। स्याद्वाद मतभेद युक्त विचारों में प्रत्यक्ष रूप से पूर्ण सामंजस्य स्थापित करता है। यह दर्शन के क्षेत्र में बड़े महत्त्व का है। यह संश्लेषणात्मक सत्यता को समझने का विज्ञान है। यह विचारों की वैश्विकता तथा बौद्धिक सहिष्णुता के लिए खड़ा होता है; जिसके लिए जैनधर्म अपूर्व रूप में दो हजार से अधिक वर्षों से खड़ा हुआ[29] है।

फिर भी यह सिद्धान्त बहुत अधिक आलोचना का विषय रहा है। कुछ लोगों ने इसे अनिश्चितता का सिद्धान्त कहा है, जबकि दूसरों ने इसे संशयवाद का ही एक भेद कहा है। कुछ दूसरे लोगों ने इसे विरोधों से घिरा हुआ कहा है। ये दृष्टिकोण अविचारित प्रतीत होते हैं। वे इस सिद्धान्त के संक्षिप्त विचार प्रतीत होते हैं, जो कि यथार्थ में यह द्रव्य की मौलिक विशेषताओं पर निर्भर है। यह प्रदर्शित करने के लिए है कि सत्य में कुछ है, जो सापेक्ष रूप में नित्य होते हुए भी सापेक्ष रूप में बदल रहा है।

स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक आदर्श सत्य प्रामाणिक है; क्योंकि वह गतिशील है तथा सभी सात बिन्दु सत्य की पूरी श्रेणी को आच्छादित करते हैं। प्रत्येक दृष्टिकोण पृथक् है फिर भी वे सभी एकत्रित करने की रीति से विचार किए जाते हैं तो वे विस्तृत संश्लेषण को प्राप्त करते हैं। यह आलोचना कि यह संशयवादी सिद्धान्त है, यह इस तथ्य से अयथार्थ रूप में प्रस्तुत है कि इसका उद्देश्य एक परीक्षा के द्वारा सत्य के सभी पहलुओं को दिखलाना है कि समस्त यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने योग्य है। सत्यता होने और न होने वाले तत्त्वों को हिस्सों में बाँटती है। यह सत् को अपनी प्रकृति में रखती है और असत् को दूसरी प्रकृति में रखती है[30]। यथार्थ में यह जैनधर्म का मौलिक सिद्धान्त है। प्रत्येक सम्प्रदाय/धर्म का दार्शनिक सिद्धान्त इस मौलिक सिद्धान्त के आलोक में परीक्षित होना चाहिए, पृथक् रूप में नहीं। जैकोबी के अनुसार यह अज्ञानवाद को हटाने का प्रसन्नतापूर्ण मार्ग है। य़द्यपि डॉ. राधाकृष्णन् इस सिद्धान्त के कठोर आलोचक हैं। वे कहते हैं- जैन इस बात को स्वीकार करते हैं कि एक वस्तु एक ही काल में स्वयं विरोधी गुण एक ही अर्थ में नहीं रख सकती है। वे कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव जटिल है तथा भिन्नता में भी एकता है। यथार्थ भिन्नता को समझता है और अपने आप समझौता करता है। गुण जो कि संक्षेप में विरोधी हैं वे जीवन और अनुभव में सह अस्तित्व वाले हैं। वृक्ष अपनी डालों में गति कर रहे हैं तथा ये गति नहीं कर रहे हैं;

क्योंकि वे धरातल पर अपने स्थान में स्थित हैं[31]। व्हाइट हैड के लिए संसक्तता का अर्थ होगा कि मौलिक विचार प्रत्येक को पहले से ही मानते हैं। पृथक् रूप में उनका कोई अर्थ नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक दूसरे के अर्थ में परिभाषित करने के योग्य हैं। यद्यपि वे एक दूसरे से प्रासंगिक हैं। कोई भी सत्ता विश्व की पद्धति को पूरी तरह पृथक् करने का विचार नहीं कर सकती है तथा काल्पनिक दर्शन का कार्य इस सत्य का प्रदर्शन है। यह चरित्र इसका संदर्भ है। वह यह भी कहता है कि ज्ञान का रीतिकरण पानी न निकलने वाले डिब्बों से चलित नहीं हो सकता (systematisation of knowledge cannot be couducted in watertight compartments) समस्त सामान्य सत्यों की दशा दूसरों जैसी होती है तथा उनका प्रयोग ठीक तरह से पारिभाषित नहीं किया जा सकता; जब तक कि विस्तृत सामान्य विशेषताओं से उनका पारस्परिक संबंध न हो। यही दृष्टिकोण जैनों का[32] भी है।

स्याद्वादं के निश्चित विचार संभावना के विचार से बहुत निकट प्रतीत होते हैं, जो कि गणनाशास्त्र के उचित आधार की पूर्ति कर सकता है। जैन अवक्तव्य और सम्भावना का विचार इस तथ्य में निहित है कि संभावना के विचार में निश्चित गणनात्मक उपकरण हैं। गणनात्मक तीव्रता तथा दो समान गुणों के मध्य संबंध का विचार आधुनिक गणना संबंधी सिद्धान्त का स्याद्वाद के जैन सिद्धान्त से पृथक्करण करता है[33]। इसी समय यह उल्लेख करना दिलचस्प है कि 1500 से 2500वर्ष पहले स्याद्वाद ने गणना संबंधी सिद्धान्त की तार्किक पृष्ठभूमि को गुणात्मक सिद्धान्त[34] का रूप दिया था। वस्तुओं के संबंध के प्रति जैनदर्शन का जोर तथा यथार्थ के बहुरूपीय पहलू वही प्रतीत होते हैं-जो कि जुड़ाव, सह सम्बन्ध तथा व्याप्ति की भिन्नता आधुनिक गणनाशास्त्र के रेखांकित मौलिक विचार हैं। जैनदर्शन की यथार्थवादी तथा बहुवादी दृष्टियाँ तथा बहुरूपों पर निरन्तर जोर तथा सत्यता के भिन्न-भिन्न पहलू उस स्वीकृति के परिणाम हैं; जो कि विश्व का खुला हुआ विचार है तथा जो अन्त न होने वाले परिवर्तन तथा खोजों के साथ है। इसमें कुछ दिलचस्प समतायें हैं जो कि आधुनिक समय में सत्यता के संभावनात्मक तथा गणनात्मक दृष्टिकोण हैं[35]।

जे.बी.एस. हलदाने का कहना है कि वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सत्य की खोज पूर्ण निश्चितता की ओर ले जाती है, यह पूरी तरह अनिश्चितता की ओर कम ले जाती है, जबकि कोई तार्किक रीति जो निश्चितता और अनिश्चितता के मध्य वैज्ञानिकों में दिलचस्पी पैदा करती है। इसकी इस प्रकार की सबसे पुरानी पद्धति; जो कि मुझे ज्ञात है,

स्याद्वाद है।[36] उन्होंने सात विकल्पों पर गणितीय नुस्खे के द्वारा कार्य किया है। उसने एक उदाहरण दिया है कि वैज्ञानिक खोज में कहाँ पर सप्तभंगी नय का प्रयोग हुआ है, जिसके विषय में उन्होंने सन्देह किया है कि यह उससे अधिक दूर नहीं है, जो कि भद्रबाहु के मन में था। इन्द्रियों के शरीर क्रिया विज्ञान में यह शीघ्र निर्णय करता है। उदाहरण के लिए एक प्रकाश एक निश्चित सघनता से नीचे नहीं देखा जा सकता है या द्रव्य का एक घोल जो कि कठोर रूप से चरखा था, उस पर जब ध्यान लगाया जाता है जो उसे जल से भिन्न नहीं किया जा सकता है, जबकि यह अलग किया जाता है। कुछ प्रयोग करने वाले अपने विषय पर यह कहने की आज्ञा देते हैं कि प्रश्न के विषय में हाँ या न कहना कि क्या यह प्रकाश युक्त है या क्या यह कठोर है? यदि प्रयोग करने वाला इन्द्रिय मनोविज्ञान में दिलचस्पी रखता है तो वह इस विषय में उत्तर देने की अनुमति देगा कि यह अनिश्चित या कुछ बराबर का शब्द समुदाय है[37]। वे इस बात से सहमत हैं कि गणित की दृष्टि कि सप्तभंगी नय आधुनिक गणनात्मक सिद्धान्त के पहले से ही सूचित कर चुका है,[38] सही है।

ये दृष्टिकोण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का मन समस्त अस्तित्व की जटिलता को समझता है, किन्तु पूर्ण रूप से नहीं समझता है, न ही मानवीय वचन इसको अच्छी तरह से व्यक्त करते हैं। अतः सभी कथन केवल तभी सही होते हैं, जितने कि दूर वे गतिशील होते हैं। जहाँ तक बोलने वाले के दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, यह मानवीय समझ के अनुरूप है जो कि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को संभव और तर्कणा के योग्य रूप में विभाजित करती है।

स्याद्वाद का उद्देश्य आधुनिक विचार में दर्शन के क्षेत्र के साथ प्रसन्नता के साथ अनुरूप होता है। जुड़ना, सहयोग करना, सामंजस्य स्थापित करना तथा व्यावहारिक रूप में पूर्णतया संश्लेषण करना है[39]। विभिन्न दार्शनिकों के विचार जो कि हमारे पास हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं तथा धरातल जिस पर वे खोजे जाते हैं, बहुत से हैं। उनमें से किन्हीं को पूरी तरह सत्य नहीं कहा जा सकता है तथा वे पूरी तरह गलत हैं; ऐसा मानकर उनको निरस्त भी नहीं किया जा सकता है। सही ज्ञान; जो कि दर्शन का उद्देश्य है; पूर्ण को जानना है। जब प्रत्येक मार्ग समाप्त हो जाता है तो संश्लेषण के चरम बिन्दु पर पहुँचते हैं। नयवाद का कार्य यही है। जहाँ तक रेखांकित विचार का सम्बन्ध है, यह भिन्न-भिन्न विशिष्ट विज्ञानों का है। जिस प्रकार स्याद्वाद भिन्न-भिन्न नयों से सामंजस्य रखता है, इसी प्रकार आधुनिक दर्शन का उद्देश्य विभिन्न प्रयोगात्मक विज्ञानों के निष्कर्षों में सामंजस्य स्थापित करना है[40]।

जैन दार्शनिक इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि प्रत्येक अस्तित्वमय द्रव्य के पास अनन्त गुण और विशेषतायें हैं जिन्हें अकेले अनुभव से खोजा जा सकता है। मन अन्वेषण का छोटा सा उपकरण है। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि वे ज्ञान और अनुभव पर आधारित हैं। जैनों के केन्द्रीय शास्त्रार्थ का विषय है कि केवल यथार्थ में ही भिन्नता नहीं है, अपितु प्रत्येक अनेकता समान रूप से भिन्न है। परिणाम उचित है कि प्रत्येक यथार्थ में प्रत्येक क्षण अनन्त भंग हैं। यथार्थों की संख्या अनन्त है तथा तदनुसार उनके एक दूसरे के साथ संबंध भी अनन्त हैं। सभी वस्तुयें एक या अनेक रूप में संबंधित हैं तथा संबंध बौद्धिक गुणों को प्रोत्साहित करते हैं जो कि तदनुसार प्रत्येक क्षण तथा पूरे जीवन में भिन्न हो जाता है।

वेदान्ती इस प्रस्तावना के साथ आरंभ करते हैं कि सत्य एक सार्वभौतिक अस्तित्व है। क्षणिकवादी बौद्ध अणुरूप विशेषों में विश्वास करता है, प्रत्येक दूसरे से भिन्न है तथा उनको बाँधने वाला कोई नहीं है। नैयायिक का विश्वास है एक व्यक्ति में दोनों मिले हुए हैं, यद्यपि वह प्रतिपादन करता है कि दोनों चरित्र भिन्न तथा पृथक् हैं। जैन इस सबसे भिन्न हैं तथा उसका कहना है कि सामान्य और विशेष किसी एक वस्तु में केवल भेद के विषय हैं, जो कि भिन्न न होते हुए भी एक[42] हैं।

संक्षेप में दर्शन के कथन के सही मूल्य का हिसाब लगाने में हमारे पूर्ववर्तियों ने तत्त्वविद्या के अन्वेषण के क्षेत्र में पूरी अंतर्दृष्टि को अनिवार्य बनाया है। मनुष्य यह प्राप्त करेंगे कि प्रायः कर विचारों की समस्त भ्रान्तियाँ तथा हम कह सकते हैं कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में जो साहस और विश्वास विद्यमान है, वह अस्तित्व से रुक जायेंगी, यदि वे नयवाद का आश्रय न लें।

यदि वे स्यात् शब्द का प्रयोग करते हैं तो वे पायेंगे कि उनका मन सही दिशा में प्रशिक्षित हो रहा है तथा वे शास्ता के सही दृष्टिकोण को समझ पायेंगे। इससे हमें यह शक्ति प्राप्त हो जायेगी कि बहुत से विरोधी कथनों का समन्वय हो जाय। एक ही धर्म के आगम तथा विभिन्न धर्मों के विश्वासों में समन्वय होगा। यह प्रायः होता है कि कोई कथन जो कि एक विशेष दृष्टि से गलत हो वह दूसरी दृष्टि से गलत न भी हो। एक देखने वाला कह सकता है कि एक जल से भरे एक कटोरे में वायु नहीं है, जबकि दूसरा वर्णन कर सकता है कि इसमें वायु के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ये दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से सही हैं; क्योंकि जल अपने मूल रूप में वायुरूप है, यद्यपि वह तरल रूप में प्रकट हो रहा है। इसमें हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणु मिले हुए[43] हैं।

स्याद्वाद चरित्र में केवल काल्पनिक नहीं है, किन्तु यह सप्तभंगीमीमांसा के हल की एक कुंजी प्रदान करता है। यह दार्शनिक को विचारों में विश्वबन्धुता प्रदान करता है। वह यह निश्चित प्रतीति कराता है कि सत्य पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है; जिसका कि साम्प्रदायिक दीवाल का शुल्क हो। यह धर्म की आशाओं को पूर्ण करता है। इसमें बौद्धिक सहिष्णुता के गुण हैं। यह अहिंसा का एक भाग है; जो कि जैनधर्म का आधारभूत सिद्धान्त है[44]।

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. रीयलिटी, अध्याय-5
2. वही, अध्याय-5, सूत्र 32, पृ. 157-158
3. वही, अध्याय-5, सूत्र 33
4. वही, अध्याय-5, सूत्र 38
5. माणिक्यनन्दि : परीक्षामुखम्, पृ. 147, एस.सी. घोषाल कृत परीक्षामुख, पृ. 147
6. पद्मराजय्य : जैन थ्योरी ऑफ नॉलेज एण्ड रीयलिटी, पृ. 282
7. रीयलिटी, अध्याय-5, सूत्र 8
8. ए.एन.उपाध्ये : प्रवचनसार की प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ. 70-80
9. कामता प्रसाद : रिलीजन ऑफ तीर्थंकराज, पृ. 189
10. रीयलिटी, अध्याय-4, सूत्र-6
11. परीक्षामुख : (अंग्रेजी टीका), पृ. 201
12. वही, पृ. 199-200
13. रीयलिटी, पृ. 41
14. परीक्षामुखम्, पृ. 201
15. एस.गोपाल : आउट लाइन्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 148, विले ईस्टर्न प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली-47
16. परीक्षामुखम् (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. 202
17. पद्मराजय्य : जैन थ्योरी ऑफ नॉलेज एण्ड रीयलिटी, पृ. 323
18. एस.ए.जैन : रीयलिटी, पृ. 45
19. ए.एन.उपाध्ये : इण्ट्रोडक्शन टू प्रवचनसार ऑफ कुन्दकुन्द, पृ. 81
20. वही, पृ. 80
21. वही, पृ. 81
22. ए.चक्रवर्ती : रिलीजन ऑफ अहिंसा, पृ. 51, रतनचन्द्र हीराचन्द, 26 नेपियन सी रोड, बम्बई-6
23. जैन थ्योरी ऑफ नालेज एण्ड रीयलिटी, पृ. 360
24. महालनोबिस (सम्पादक) संख्या, इण्डियन जर्नल आफ स्टेटिस्टिक्स, जिल्द 18, भाग-1 तथा 2, 1957, पृ. 185-186

25. इण्ट्रोडक्शन टू प्रवचनसार, पृ. 85
26. विलियम्स रोज : एन. आउटलाइन आफ मॉडर्न नॉलेज, पृ. 120, विक्टर गोलान्स लिमिटेड, 14 हेनरिएट्टा स्ट्रीट, कोवेण्ट गार्डन, लन्दन।
27. जैन थ्योरी आफ नॉलेज एण्ड रीयलिटी, पृ. 362
28. इण्ट्रोडक्शन टू प्रवचनसार, पृ. 85
29. वही, पृ. 17
30. सत्कारि मुकर्जी : प्रमाण मीमांसा (अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द-1, पृ. 304 एलन एण्ड अनविन, लन्दन
31. एस.राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासॉफी, जिल्द-1, पृ. 304 ऐलन एण्ड अनविन, लन्दन
32. टी.जी.कलघटगी : जैन व्यू आफ लाइफ, पृ. 32, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
33. संख्या : भाग-1 तथा 2, 1957, पृ. 183
34. वही, पृ. 192-193
35. वही, पृ. 193
36. हल्दने जे.बी.एस. : द सिस्टम ऑफ स्याद्वाद ऑफ प्रेडिकेशन इन संख्या एज एट नं. 33, पृ. 195
37. वही, पृ. 197
38. वही, पृ. 199
39. इण्ट्रोडक्शन टू प्रवचनसार ऑफ कुन्दकुन्द, पृ. 85-86
40. वही, पृ. 86
41. एतकारि मुकर्जी : द जैन फिलासॉफी आफ नन एबसोल्यूटिज्म, पृ. 70, द भारती जैन परिषद्, कलकत्ता
42. वही, पृ. 13
43. सी.आर.जैन : द फण्डामेण्टल्स ऑफ जैनिज्म, पृ. 6-7, वीर निर्वाण भारती, 69 तीरगरान स्ट्रीट, मेरठ-2
44. हीरालाल जैन एण्ड डॉ. ए.एन. उपाध्ये : महावीर हिज टाइम्स एण्ड हिज फिलासॉफी आफ लाइफ, पृ. 57-58, भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन, बी 45/47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001

❑❑❑

अध्याय-20

आधुनिक युग में जैनधर्म की प्रासंगिकता

आज हम विज्ञान के विश्व में रह रहे हैं। विज्ञान ने बहुत से पारम्परिक विश्वासों और आदिम अन्धविश्वासों को तितर बितर कर दिया है। इसने अनन्त मनुष्य की अनन्त शक्तियों को वृद्धिंगत कर दिया है। औद्योगिक क्रान्ति ने जीवन के मूल्यों को परिवर्तित कर दिया है तथा कुछ देशों जैसे भारत को संकट में डाल दिया है; जो कि संसाधनों और उत्पादों में कृषि प्रधान थे। हस्तकला का कार्य मशीन के कार्य के सामने बाहर फेंक दिया गया है तथा ग्रामीण कामगारों को नगरों में जाने को मजबूर कर दिया है। औद्योगिक क्षेत्रों में व्यापारिक संघों और हड़तालों को अधिक वेतन पाने की चीत्कार ने नगरों के शान्तिपूर्ण जीवन में व्यवधान उत्पन्न कर दिया है। राज्यों के अच्छे प्रयत्नों के बावजूद भी गरीबी अब भी जारी है। हमारे देश में बहुत से मनुष्य बुरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जनसंख्या निरन्तर बढ़ रही है। यदि वृद्धि की वर्तमान दर जारी रही तो समाज में दो वर्ग हो जायेंगे। वृद्धिंगत जनसंख्या के साथ एक गरीबों का वर्ग तथा एक अमीरों का वर्ग, जिनकी जनसंख्या स्थिर है।

प्रत्येक वस्तु राजनीति में मुड़ जाती है। देश का सामान्य जीवन राजनीतिज्ञों और शक्ति की खोज करने वालों ने अधिकृत कर लिया है। पंचायतें तथा म्युनिसिपल काउंसिल जो कि राजनीतिक शक्तियों के क्रीड़ा क्षेत्र बन गए हैं, उन्होंने जन जीवन में अच्छाईयों की अपेक्षा बुराईयों को ला दिया है। काला बाजारी, व्यभिचार, तस्करी तथा भ्रष्टाचार विभिन्न रूपों में प्रतिदिन का क्रम हो गया है। ईमानदारी का जीवन, यदि मुसीबत का जीवन नहीं हो, अधिक कठिन अवश्य हो गया है। शिक्षण संस्थायें तथा विश्वविद्यालय अनुशासन की समस्याओं का सामना कर रहे हैं। ये समस्यायें नैतिक भी हैं तथा आर्थिक भी हैं। धर्म तथा नीतिशास्त्र यथार्थ जीवन की अपेक्षा चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक मंचों पर अधिक सुनाई पड़ रहे हैं। यह विस्तृत अनुभव है कि हम अपने

इतिहास में एक निर्णायक क्षण में पहुँच गए हैं, जबकि हमें एक आदर्श को चुनना होगा, जो कि वर्तमान जीवन की बुराईयों का हल निकाल दें।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में प्रगति कुछ खतरों का सामना कर रही है। साम्यवाद तथा पूँजीवाद की असंगत विचारधारायें एक दूसरे पर शस्त्र प्रहार करने की उत्कण्ठा से ग्रस्त हैं, यद्यपि वे अच्छी तरह जान रहे हैं कि वे दूसरे अज्ञानी राष्ट्रों के साथ अपने आपको बर्बाद कर लेंगे (यदि मौत के शस्त्र फेंक दिए गए)। भविष्य की शक्ल के विषय में डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है था जिससे हमारा संबंध है, भविष्य हमें वह सब देगा, हमारे सभी संसाधन तथा आदेश पूरे होंगे, हमें वे उपहार प्राप्त होंगे जिनसे हम संलग्न हैं, वे शक्तियाँ प्राप्त होंगी, जिनका कि हम विकास कर चुके हैं, किन्तु हम शान्ति और सुरक्षा के साथ रहने में असमर्थ हैं। हममें ज्ञान और मेधा विकसित हो गई है, किन्तु बुद्धि और गुण विकसित नहीं हुआ है। गुणों की कमी के कारण चीजें निरन्तर संघर्ष के कारण अन्दर बन्द हो गई हैं। कोई भी केन्द्र विश्व को साथ में नहीं लाता है। युग के सामाजिक करुण रस का अनगिनत व्यक्तियों ने विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में स्वार्थ में प्रयोग किया है, जो कि अपने आपको नेता होने की उद्घोषणा करते हैं तथा अपनी मूर्खता को बुद्धिमानी कहते हैं। हम एकदम अनाज बोने के साथ खरपतवार बो रहे हैं।

हम प्रायः ओंधे मुँह गिरने हेतु किनारे पर पहुँच गए हैं। आधुनिक मनुष्य की यह दुःखान्तकी है कि वह आध्यात्मिक मूल्यों का तिरस्कार कर रहा है और तथा धन-सम्पत्ति की पूजा कर रहा है। कुछ वर्षों से धनी व्यक्तियों का अनुसरण, प्रसिद्धि प्राप्त करना तथा इन्द्रियों के सुख सभी प्रदेशों और देशों में बहुत से मनुष्यों का लक्ष्य बन गया है। यह मन को इतना अधिक ग्रस्त करता है कि वह किसी अच्छी चीज के अभिव्यक्त होने का समय ही नहीं रखता है। किसी का अनुसरण करना इतना शक्तिशाली बन गया है कि इतना पहले कभी नहीं था। ऐन्द्रियिक सुख के कारण मन सबसे अधिक वशीभूत हो; यह अनुभव कर रहा है कि उसे सर्वोत्तम प्राप्त हो गया है। अतः वह किसी ध्येय को प्राप्त करने के अयोग्य है। जब इस प्रकार के भोगों से व्यक्ति सन्तुष्ट है तो इससे अत्यधिक चिड़चिड़ापन पीछा कर रहा है, जिससे कि मन में उजड्डपना आ गया है, व्यवधान हो गया है और मूढ़ हो गया है। सम्मानों तथा धनी व्यक्तियों का अनुसरण इसी प्रकार बहुत निगल रहा है, विशेष रूप से यदि इस प्रकार की वस्तुओं को वह अपने लिए ढूँढ़ रहा हो। इन वस्तुओं से उच्चतम अच्छाई की संभावना अधिकाधिक रूप से मानी जा रही है। प्रसिद्धि के मामले में मन अब भी बहुत संलग्न हो रहा है; क्योंकि प्रसिद्धि सदैव-सदैव अपने लिए अच्छी मानी जाती है; क्योंकि अन्त में सभी क्रियाकलाप उससे निर्देशित

होते हैं। पुनः धन की प्राप्ति तथा प्रसिद्धि की प्राप्ति का अनुसरण ऐन्द्रियिक सुख तथा पछतावे के लिए होता है। हम जितना अधिक प्राप्त करते हैं, हमारी प्रसन्नता उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। दूसरी ओर यदि हमारी आशायें उद्विग्न करती हैं तो हम गहरे अवसाद में डूब जाते हैं। प्रसिद्धि की एक और कमजोरी है कि यह अपने पक्ष में मत देने वालों को उनके साथियों के विचारों के अनुसार जीवन व्यतीत करने को मजबूर करती हैं। वे वही चमक करते हैं; जो कि प्रायःकर चमकाते हैं। वे वह खोज करते हैं; जो कि सामान्यतया वे खोजते हैं[2]। ये सभी तथ्य यह स्थापित करते हैं कि हमारी प्रसन्नता या अप्रसन्नता वस्तुओं के गुण पर निर्भर करती है, जिसके लिए हम रहते हैं; उन वस्तुओं पर निर्भर है, जो नष्ट करने के योग्य हैं।

प्रत्येक धर्म यह स्थापित करता है कि सभी मनुष्य समान हैं, किन्तु फिर भी सामाजिक स्तर पर समानता तथा अधिकारों की भिन्न-भिन्न देशों की जनसंख्या के भिन्न-भिन्न वर्गों ने निषिद्ध की है। यद्यपि जेफरसन ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा में कहा है कि सभी मनुष्य समान निर्मित किए गए हैं और वे सृष्टिकर्ता के द्वारा जीवन उदारता और प्रसन्नता के कुछ गुट से रहित अधिकारों से युक्त किए गए हैं, किन्तु वे यह अधिकार कालों को देने का निषेध करते हैं। समाज की पूँजीवादी पद्धति अब भी दासता, नौकरशाही और वर्गभेद को बनाए हुए है। भारतीय संविधान की अनुसूची 17 ने अछूतपने को उखाड़ दिया है तथा घोषणा की है कि किसी अयोग्यता का जोर अछूतपने से उदय को प्राप्त हो रहा है, यह एक कानून के अनुसार दण्ड योग्य अपराध है। किन्तु सामाजिक बुराई अब भी कायम है तथा सामाजिक अयोग्यतायें उन वर्गों के व्यक्तियों के ऊपर जन्म से अब भी व्यवहार में कायम हैं। वह कोई धार्मिक या नैतिक स्वीकृति नहीं है जो कि एक के द्वारा दूसरे को दास बनाए या उसे कम दर्जे का या अछूत रूप में व्यवहार करे।

ये या इसके समान दूसरे मामले आधुनिक मन को आश्चर्य में डाले हुए हैं। सभी वस्तुयें जो कि बड़ी संख्या में लोगों ने अनुसृत की हैं, केवल कोई प्रतीकार ही नहीं लातीं, अपितु हमारे जैसे जीवों को इन्हें बनाए रखने की प्रवृत्ति को जन्म देकर प्रेरित करती हैं, अपितु बाधा के रूप में उच्च विचारों को बाधित करती हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान की पीढ़ी स्वयं में विश्वास खो रही है।

सबसे बड़ा विस्तृत तथ्य मनुष्य की शान्ति और प्रसन्नता के लिए यह है कि वे अपनी शक्तियों में दृढ़ विश्वास रखे हुए हैं। वे व्यक्तियों के मध्य समाज की रचना कर

रहे हैं। यहाँ तक कि स्वयं अपने में स्थायी और अनन्त शक्ति हमारे जीवन को उत्साह से भरे हुए है और स्वादयुक्त कर रही है। वह हमारे विचारों और कार्यों को अर्थवत्ता प्रदान कर रही है। जैनधर्म के अनुसार आत्मा और पुद्गल; दो महत्त्वपूर्ण द्रव्य हैं तथा विश्व स्वयं ही किसी का न बनाया हुआ और नित्य है। लोक में अनन्त आत्मायें हैं। आत्मा के गुण अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान या सर्वज्ञता, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य हैं। आत्मा का कोई रूप नहीं है, यह अपने भविष्य का निर्माता स्वयं है, वह अपने कर्मों का भोक्ता है और सिद्ध है। हम जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, वह हमारी ही निर्मिति है। मुक्ति का मार्ग हैं। तत्त्वों का सम्यग्दर्शन, तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान, आत्मिकगुण और सम्यक् चारित्र जो कि समस्त गुणों का विश्वास और शुद्ध चारित्र का अवलोकन है। यह तिहरा सम्यक् मार्ग मनुष्य को अच्छाई की प्राप्ति की शक्ति देता है जो कि शक्ति आत्मा का निजी स्वभाव[3] है। इस पथ का अनुसरण कर अगणित आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है। यह मार्ग समझने योग्य है तथा सामान्य अभिप्राय की अपील करता है। महान् कवि टेनीसन ने इसी सिद्धान्त को वाणी दी है, जबकि उसने कहा था-

आत्मज्ञान, आत्मिक मान्यता और आत्मसंयम अकेले ही मनुष्य सार्वभौमिक शक्ति की ओर ले जाते हैं।

जो अपने में और अपने भविष्य के विषय में शंकालु हैं, उनका यह दर्शन नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा के गुण हैं तथा सार्वभौमिक सत्य की ओर मत देना, उस स्तर को प्राप्त कर सकता है, जो कि दृष्टि को प्रेरित करने में समर्थ है तथा प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति प्रदान करता है कि वह अपने सही कर्त्तव्य का मार्ग सुनिश्चित करे; जो कि गौरव और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति का मार्ग है। जो कोई भी व्यक्ति अहिंसक जीवन, आत्म संयम और तप की ओर बढ़ता है, वह यहाँ और यहाँ के बाद सुख प्राप्त करता है। यह सन्देश कि प्रत्येक जीवित प्राणी अपने भाग्य का एक वरदान के रूप में निर्माता है, वह उन सभी में नई आशा तथा प्रेरणा भरता है; जिनको कि अनुसरण करने हेतु बौद्धिक धर्म का अनुसरण करने की आवश्यकता[4] है।

जैसा कि C.E.M.जोड़ कहता है कि सत्य, अच्छाई, सौन्दर्य तथा प्रसन्नता जीवन के अत्यावश्यक मूल्य तथा उद्देश्य हैं। इन चारों की अपने निज के लिए इच्छा की जाती है, मूल्य दिया जाता है तथा अपने लिए अनुसरण किया जाता है। वे लोक में स्वतंत्र तथ्य हैं तथा उनकी आन्तरिक विशेषतायें हैं। मानव जाति की उन्नति की उस वृद्धि होते हुए अंश से माप करना चाहिए, जिसके लिए ये मूल्य प्रत्यक्ष हैं और अनुसरण

किए जाते हैं। आन्तरिक दृष्टि में कमी तथा उक्त उद्देश्य हेतु इच्छा की कमी से अनुत्तीर्णता होती है।

आजकल मानवीय दृष्टि से ये सभी मूल्य पीछे हट रहे हैं; क्योंकि भद्देपन और असत्य ने मनुष्य के विचारों और चरित्र पर आधिपत्य किया है, जिनकी कि समाज में गणना होती है। नीति का विकास सामाजिक संबंध है, जिस प्रकार की आत्मिकता का विकास प्रत्येक व्यक्ति की पवित्रता का व्यक्तिगत संबंध है। पारस्परिक अविश्वास और सामाजिक असुरक्षा का सामान्य वातावरण है। नैतिक चेतना के तीन आधार हैं- 1. बुराई को छोड़ने के द्वारा यथार्थ लाभ में विश्वास 2. बुरे कार्यों के बुरे परिणामों के विषय में अनिवार्य रूप से विनाश, तथा 3. आत्मा की अमरता में विश्वास। इन विश्वासों की वृद्धि के बिना किसी भी नैतिक चेतना का नाम अस्तित्व में नहीं आ सकता है।

पाँच अणुव्रत व्यक्ति समाजों और राष्ट्रों को एक हल देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अहिंसा का प्रचार सभी धर्मों ने किया है, किन्तु जैनधर्म ने इसके विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों पहलुओं पर इस प्रकार कार्य किया है कि इसका सर्वमान्य निरीक्षण प्रत्येक विचार और कार्य में व्यक्तिगत और सामाजिक दिलचस्पियों[5] की सुरक्षा के लिए सुनिश्चित है। अमृतचन्द्रसूरि ने हिंसा की अत्यधिक विस्तृत परिभाषा अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक पुरुषार्थसिद्धयुपाय में दी है-

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ॥41॥

जहाँ पर भी किसी जीवित प्राणी के द्रव्य और भाव प्राणों की मन, वचन और काय की उग्रता से हिंसा होती है; वह सब हिंसा का कारण निश्चित रूप से है। यह एक चल कारण के रूप में कषाय की उपस्थिति है जो कि हिंसा के कार्य के लिए उत्तरदायी है। वह हिंसा या तो भाव प्राणों की होती है जो कि चेतनता, शान्तिपूर्णता, प्रसन्नता तथा भावुकता आदि रूप है या द्रव्य प्राणों की हिंसा होती है। पाँच इन्द्रिय, काय की मन, वचन और काय रूप शक्तियाँ, श्वासोच्छ्वास तथा आयु के रूप में होती है। चैतन्य प्राण सभी जीवों के एक जैसा होता है। रागरहितता तथा किसी प्रकार की कषाय का अभाव अहिंसा है। एक कषाय युक्त प्राणी सबसे पहले अपने आप के द्वारा अपनी हिंसा करता है। दोषों का अंश इरादे या कषाय की सघनता के साथ भिन्न-भिन्न होता है।

आधुनिक विश्व में अहिंसा की संगति दो प्रश्नों के हल के रूप में होती है- 1. खाद्य की प्रकृति, तथा 2. युद्ध तथा शांति।

अपने विधेयात्मक पहलू में अहिंसा का अर्थ होता है जीवन की पवित्रता तथा सभी जीवित प्राणियों के प्रति प्रेम। अहिंसा मनुष्य का नियम है, जबकि हिंसा जंगली पशुओं का तथा जंगल का नियम है। यह सामान्य अनुभव का मामला है कि जो भोजन हम लेते हैं, वह हमारे शरीर पर इतना प्रभाव डालता है जितना कि हमारी मनःस्थिति पर। यह दलील दी जाती है कि जो शाकाहारी भोजन संसार में उत्पादित होता है, वह बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए काफी नहीं, अतः मांसाहारी भोजन अनिवार्य है। यह स्वीकार किया गया है कि किसी एक या दूसरे कारण से बहुत से मनुष्य उन कुटुम्बों में जहाँ शाकाहारी भोजन परम्परागत आदत नहीं है, वे मांसाहार करते हैं। इसका एक मात्र उत्तर यही है कि वे धोखा भरे विश्वास के अन्तर्गत हैं कि यह खुराक स्वास्थ्यप्रद और पोषक युक्त है। यह खाने के पोषक तत्त्व का मूल्यांकन है। इसका प्रामाणीकरण किसी भी भोजन की पोषक तत्त्व वाली पुस्तक से किया जा सकता है। विश्व शाकाहारी सम्मेलन में अपने संबोधन में डॉ. एनी बेसेण्ट ने कहा था कि लगातार मांस का प्रयोग चैतन्य की पीड़ा के प्रति अतिशय अनादर और हृदय को कठोर बना देता है तथा मनुष्य दया से विहीन हो जाता है। कसाई बिना चिन्ता के विलाप करते हुए मूक प्राणियों पर अपनी छुरी चलाता है; जो कि भय और भयानकता की मूर्ति हैं। यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में हत्या के मामले की सुनवाई होते समय कोई भी कसाई न्यायकर्त्ता के रूप में अनुमत नहीं है। वह इस प्रकार के मुकदमे में भाग लेने के लिए अनुमत नहीं है; क्योंकि उसका संबंध कसाईखाने से है और इस संबंध में उसके संदेह कुछ मन्द नहीं हो सके हैं। अतः पूरे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में मांस का व्यापार करने वाला हत्या की सुनवाई के समय निर्णय के रूप में भाग नहीं ले सकता है।

इस प्रकार के विचार को किसी भी हद तक गुणित किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने अपने मांसाहार की भयावहता का वर्णन किया है तथा उस दिन के बाद उन्होंने जो भयानक दुःस्वप्न देखे थे; उनका वर्णन किया है। यह मामला पशु जीवन के प्रति प्रेम करने वालों के सन्तोष का है कि शाकाहार के लिए आंदोलन तथा पशुओं के प्रति क्रूरता का निवारण धीरे-धीरे बड़ी संख्या में पाश्चात्यों को इसके प्रति मन व्यक्त करने के लिए आकर्षित कर रहा है। सभी पवित्र और बड़े-बड़े विचारकों में संसार भर में दया की प्रशंसा तथा जीवन के लिए दया भावना के गीत गाए हैं, ताकि इसका प्रचार हो सके।

हम एक ऐसे विश्व में रह रहे हैं; जिसमें दीर्घकालीन संघर्ष हैं और निरन्तर युद्ध की भयावहता है। इंग्लैण्ड के राजकवि रॉबर्ट ब्रिज्स ने कहा है-

Needless taking of life putteth reason to shame, and men so startled at bloodshed that all homicide may to a purist seem mortal pollution of soul.

The duty of mightiness is to protect the weak; and since slackness in duty is unto noble minds a greater shame and blame than any chance offence Ensuing on right conduct, this hath my assent that where there is savegery there be war.[7]

अर्थात् अकारण मनुष्यों के जीवन को लेना शर्म की बात है और जो लोग इस प्रकार लोगों का खून बहाते हैं, वे मनुष्यों की आत्मा का हनन करते हैं। शक्तिशाली लोगों का कर्त्तव्य दुर्बल लोगों की रक्षा करना है और यदि ऐसे महापुरुष (शक्तिशाली मनुष्य) अपने कर्तव्य में चूकते हैं तो अत्यधिक शर्म की बात है और इसमें उनके चरित्र के ऊपर धब्बा लगता है। मेरी यह स्वीकारोक्ति है कि जहाँ पर भी ऐसा जंगलीपना होगा, वहाँ अवश्य ही युद्ध होगा[7]।

यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र में जिस पर कि जून 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय संघ की सेनफ्रांसिस्को (कैलीफोर्निया) में हस्ताक्षर हुए थे, कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र के मनुष्य आगामी भावी पीढ़ियों को युद्ध के कोड़े से बचाने का निश्चय करते हैं तथा मौलिक मानवीय अधिकारों में विश्वास सुनिश्चित करते हैं तथा मनुष्यों में नर और नारियों को समान रूप से प्रतिष्ठित करने को महत्त्व देते हैं।

अच्छे पड़ोसियों में युद्ध और कठोर वार्तालाप होती रही है तथा पारस्परिक सहिष्णुता एक मृत पत्र रह गई है। इसका कारण यह है कि युद्ध करने वाले राष्ट्रों ने मानवीय जीवन की प्रतिष्ठा और पवित्रता को भुला दिया है। महात्मा गांधी ने अहिंसा की नैतिक शक्ति को भारत के स्वतंत्रता संग्राम में स्थापित कर दिया जो कि उग्र राष्ट्र के विरुद्ध था। उन्होंने कहा कि यदि प्रेम जीवन का नियम नहीं हो सकता है तो जीवन मृत्यु के बीच में कायम नहीं रह सकता है। प्रेम का जीवन उसी प्रकार कार्य करेगा, जैसे गुरुत्वाकर्षण कार्य करेगा, चाहे हम उसे स्वीकार करें या नहीं ? जितना अधिक हम इस नियम पर कार्य करेंगे, उतना ही अधिक हम जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे। आनन्द विश्व की स्कीम है[8]। इस सिद्धान्त का यह अकेला विश्वस्त आधार है कि राष्ट्रीय जीवन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सामंजस्य और शान्ति ला सकता है। पूरे विश्व में नर और नारियाँ अपने नेताओं के साथ मन्दिरों, गिरजाघरों और मस्जिदों में जा सकते हैं

तथा अपने विश्वासों में सम्मिलित हो सकते हैं तथा आशीर्वाद और दयापूर्ण सन्देशों को सुन सकते हैं। अतः आज की आवश्यकता जो कुछ सुना है या पढ़ा है, उस पर श्रद्धा और भक्ति रखने का अभ्यास करना[9] है।

वह युग जिसमें हम रहते हैं, उसे आणविक युग कहते हैं। शक्ति के नए स्रोत विभिन्न मार्गों में ढूँढ़े गए हैं। किन्तु सेवा की शर्तों में उनके विषय में सोचने की बजाय तथा मानव जाति की अच्छाई के विषय में सोचने की अपेक्षा हम उन स्रोतों को विनाशक शस्त्रों के उत्पादन में प्रयोग कर रहे हैं। यह बात नहीं है कि भूतकाल में अणु के विषय में जानकारी नहीं थी। संस्कृत शब्द अणु उपनिषदों में पाया जाता है कितु वेदान्त के अणु का सिद्धान्त अन्यदेशीय था। शेष बचे हुए वैचारिक धर्मों में जैन रूप संभवतया सबसे पुराना है, ऐसा प्रो. हिरियन्ना ने कहा है। इसके अणु उसी प्रकार के हैं, किन्तु उनसे असीमित प्रकार की वस्तुओं का उदय हो सकता है। अतः पुद्गल यहाँ पर एक अनिश्चित स्वभाव का विचारित किया गया है। पुद्गल में जैसा कि हम जानते हैं, कुछ न बदलने योग्य लक्षण हैं। किन्तु सीमाओं के अन्दर गुणात्मक दृष्टि से यह कोई भी वस्तु हो सकता है। इस दृष्टि में तत्त्वों का रूपान्तरण अच्छी तरह संभव है, यह मात्र एक स्वप्न नहीं है[10]। डॉ. हर्मन जैकोबी ने इस मत को स्वीकार किया है कि जैन सबसे प्राचीन हैं, जिन्होंने पुद्गल को अणु रूप में घोषित किया है। जहाँ तक गुणवत्ता का संबंध है, जैनों के लिए अणु अनिश्चित हैं। वे बादर या सूक्ष्म अवस्था में हो सकते हैं। प्रत्येक अणु एक प्रदेशी होता है, बाद में उनमें से अनिश्चित संख्या में उसी बिन्दु में एक साथ सभी वस्तुओं के स्थूल अणुओं के संयोग से संसार की समस्त वस्तुओं आत्मा तथा आकाश, धर्म और अधर्म के अतिरिक्त उत्पादन होता है[11]।

मैंने अणु के सिद्धान्त का संदर्भ केवल यह दिखाने के लिए दिया है कि जैन विचारक अधुनातन सिद्धान्त के प्रति जागरूक थे, किन्तु उन्होंने इसका उपयोग किसी उद्देश्य के लिए नहीं किया। क्योंकि उस समय मानवीय आवश्यकतायें अत्यधिक मध्यम दर्जे की थीं तथा उनका विनाशक प्रयोग उन्होंने नहीं सोचा; क्योंकि उनका दर्शन केवल रचनात्मक था जो कि बिना हिंसा या किसी की हानि पहुँचाए हुए था।

अब हम समानता के स्तर के सामाजिक स्तर पर आते हैं। जैनधर्म के पास समाज को देने के लिए एक सन्देश है। उस समाज को जो कि जाति और धर्म पर विभक्त थी। जाति और धर्म जन्म माना जाता था। आधुनिक सभ्यता के वैश्विक लाभ के होते हुए भी जाति, वर्ण या राष्ट्रीयता के कारण होने वाले पक्षपात कायम हैं तथा मनुष्य उनमें

स्वयं विभाजित है। जातीय गर्व या जन्म की श्रेष्ठता वजन को खो रहा है। उत्तराध्ययन का 9वाँ और 10वाँ अध्ययन स्पष्ट रूप से यह उल्लेख करता है कि श्रेष्ठता या नीचता जन्म पर आधारित नहीं है, अपितु कार्यों की गुणवत्ता या दुराचार पर आधारित है। समस्त मानवता एक है तथा नर-नारियों ने अपने निजी अच्छे या बुरे कार्यों के आधार पर मतभेद किए हैं। महावीर के जीवन समय में उन्होंने मनुष्य जाति को चार संघों में विभाजित किया था-मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। उन्होंने उसी धर्म का प्रचार किया और यह मान्यता दी कि स्त्रियाँ भी शास्त्र का ज्ञान कर सकती हैं और पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। फिर भी उल्लेख करने योग्य एक बिन्दु है। दिगम्बर परम्परा कहती है कि स्त्रियाँ अपनी शरीर रचना के कारण मोक्ष की अनुभूति नहीं कर सकती हैं, जबकि श्वेताम्बर परम्परा यह है कि स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

इस स्तर की समानता के उदाहरण भगवान् महावीर के निजी जीवन से निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। एक दिन महावीर आहार के लिए प्रविष्ट हुए। सभी श्रेणियों के मनुष्य इस बात की इच्छा लिए खड़े थे कि उन्हें आहार दें, किन्तु उन्होंने एक दासी लड़की से आहार ग्रहण किया जो पृथक् रूप से रखी गई थी तथा धातु के बर्तनों को छूने की भी उसे अनुमति नहीं थी। एक दासी लड़की ने जिसका नाम चन्दना था उन्हें कुछ चावल दिए तथा महावीर ने उनका एक हिस्सा लिया और स्थान छोड़ दिया। लड़की पवित्र भक्त थी। इसने लोगों में जागरूकता उत्पन्न की तथा उस दासी लड़की के स्वामी ने उसके चरणों में गिरकर उसे मुक्त कर दिया।

सुप्रसिद्ध विद्वानों ने इसे मान्यता प्रदान की है। यद्यपि श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवेन्सन ने जैनधर्म की खाली हृदय कहकर निन्दा की है, किन्तु उन्होंने यह स्वीकार किया है कि जैनधर्म का एक अपूर्व गौरव यह है कि अधिकांश भारतीय धर्मों से भिन्न यह धर्म भिन्न मत वालों को भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति की संभावना में विश्वास करता है। यहाँ तक कि यूरोप तथा अमेरिका के लोग, चाहे उन्होंने जैनधर्म के विषय में कुछ भी नहीं सुना हो, यदि वे न जानते हुए भी पाँच प्रकार के चारित्र के नियमों का अनुसरण करें तथा अपने कर्मों को नष्ट करने की आवश्यकता का अनुभव करें तो वे धनुष से निकले हुए बाण के समान तीव्रता से मोक्ष जा[12] सकते हैं। आर. विलियम्स ने भी यही मत व्यक्त किया है। वे कहते हैं-जैनधर्म एक तीर्थ है, जीवन के द्वारा यह एक प्रगति है। जब यति आचार व्यक्ति को अपनी मुक्ति के विषय में शिक्षा देता है, वहाँ श्रावकाचार का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि एक वातावरण की निर्मिति की गई है, जिसमें एक साधु मोक्ष के

मार्ग पर चलने के योग्य हो सके। इसका संबंध समुदाय और व्यक्ति के साथ होना चाहिए। जैनधर्म अपने समान लोगों का सम्मान करता है, जो कि बाह्य रूप से इसके विश्वासों का प्रचार नहीं करते हैं तथा उदाहरण की शक्ति पर अधिक विश्वास करते हैं[13]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक धरातल पर जैनधर्म जन्म के कारण कोई भेद नहीं करता है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति पूरी स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता देता है ताकि वह इसके सिद्धान्तों का अपनी मर्जी से अनुसरण करे। उसके क्रियाकलापों और फलों के मध्य कोई दखलंदाजी नहीं करता है।

जैनधर्म लोगों से यह चाहता है कि वे अपरिग्रह के व्रत का अनुसरण करें ताकि समाज में आर्थिक असमानता से बचा जा सके। सत्यता का व्रत मनुष्य से चाहता है कि कषाय वश या घृणावश बोले गए झूठ से बचें। वह सत्य को भी छोड़ सकता है, यदि उससे किसी निष्कपट व्यक्ति की हानि न हो। सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि उसके बोलने के पीछे इरादा क्या है ? अतः एक गुरु जो बुरे कार्यों और पापों के विरोध में दृढ़ता से बोलता है, वह त्यागने योग्य भाषण की श्रेणी में नहीं आएगा। अपनी निष्कपटता के कारण तथा दूसरों को सुधारने के उद्देश्य से वह दृढ़ता से बोलता है। कषायवश किसी की किसी बिना दी हुई वस्तु को लेना चोरी है। एक व्यक्ति जो चोरी करता है वह केवल अपनी आत्मा की पवित्रता को ही नष्ट नहीं करता है, किन्तु अपनी वस्तु या सम्पत्ति के चले जाने से दूसरे के भी दुःख का कारण होता है। सत्य बोलना और ईमानदारी अपरिग्रह के अभ्यास की पहली शर्तें हैं। संक्षेप में राग स्वयं परिग्रह है। बिना मानसिक विराग के यथार्थ अपरिग्रह नहीं हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति पूरी तरह जीवित और अन्य वस्तुओं के परिग्रह को छोड़ने में असमर्थ है तो उसे उनकी सीमा रखना चाहिए। इस प्रकार की सीमा लोभ को रोकती है, जो कि प्राप्ति की मुख्य प्रेरणा है।

एक सामान्य व्यक्ति समाज का प्रधान आश्रय है। यह वह है; जो कि अपनी समाज के आर्थिक स्वास्थ्य को बनाए रखता है। यह देखना हमारा नैतिक कर्तव्य है कि धन कुछ हाथों में इकट्ठा न हो; क्योंकि इससे समाज में गरीब और अमीर के भेद पैदा होते हैं। यहाँ तक कि समाज में सामंजस्य और अच्छी साख बनाए रखने के लिए उसे अपने लालच को कम करना चाहिए।इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिक आदर्शों का उद्देश्य समाज में आर्थिक समानता की स्थापना करना है। यदि कुछ हाथों में धन इकट्ठा होता है, जैसा कि पूँजीवादी समाज में होता है तो इसका परिणाम यह होता है कि दूसरे वर्ग को

गरीबी को मुसीबत में पड़ना होता है तथा धनी व्यक्तियों के प्रति बुरी भावना और असंतोष के बीज बोने पड़ते हैं। मानवीय कल्याण का मूल सिद्धान्त सन्तोष तथा प्रसन्नता का सामान्य महत्त्व है। अपरिग्रह का आदर्श यदि सीमित रूप से भी अभ्यास किया जाय तो यह सामाजिक विकास तथा लाभ में सामंजस्य की ओर अग्रसर करता है।

संसार की राजनीति में सबसे अधिक सन्तापकारी तथ्य दो संघर्षरत शक्तियों का अस्तित्व है। वे हैं-साम्यवाद और पूँजीवाद। यदि पहली का संबंध समस्त औद्योगिक साहसिक कार्यों की राजकीय मालिकी है तो दूसरी का व्यक्तिगत साहसिक कार्य को उत्पादों के समस्त क्षेत्र तथा वितरण हेतु प्रोत्साहित करना। इन दोनों में व्यक्तिगत नैतिकता को ग्रुप के अधिकार हेतु बढ़ाना है। दोनों का अन्त धन को गुणित करना है।

इन दोनों शक्तियों का ध्यान भौतिक धन पर केन्द्रित होता है। इसमें आध्यात्मिक लालसा तथा चरित्र का ह्रास समान रूप से होता है।

यह सत्य है कि जीवन को कुछ विश्रामों की आवश्यकता है, जिसमें कि शरीर और मन को एक साथ रखा जा सके। भौतिक उपलब्धियों को यदि स्वस्थता तथा नैतिक विचारों के साथ नहीं जोड़ा जा सके तो स्वार्थ में प्रवृत्ति की ओर जाना हो सकता है, जिसमें दूसरों से वह छीना जा सके; जिसकी कि उन्हें अपने कम से कम आराम हेतु आवश्यकता है। सांसारिक विचार में भौतिक उन्नति आवश्यक रूप से शारीरिक आवश्यकताओं और इच्छाओं की संतुष्टि हेतु प्रयुक्त होती है।

संघर्ष को दबाने हेतु दो विचारधाराओं के संघर्ष का शमन करने की औषधि व्यक्तिगत नैतिकता का विकास है। झूठ, हिंसा, न्याय का न मिलना तथा-स्वार्थ में प्रयोग के आश्रय को समाज में केवल नैतिक शक्तियों से ही रोका जा सकता है। अत्यधिक संग्रह आन्तरिक पवित्रता सामाजिक शान्ति के अर्थ की विपरीतता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छा से आरोपित केवल ऐच्छिक सीमायें हैं तथा परिग्रहपना है जिससे प्राप्त करने की लालसा की प्रवृत्ति कम की जा सकती है। यह है, जो कि अपरिग्रह व्रत देता है। जीवन का लक्ष्य मन, वचन और काय का परिष्कार है तथा विभिन्न प्रकार की दुर्बलताओं का परिष्कार करना है, जो कि उन्हें कष्ट देती हैं या विरक्त करती हैं तथा आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को आरंभ करती हैं। लक्ष्य की अनुभूति का पहला कदम अलगाव (भेदज्ञान) के अभिप्राय की संभावित हद तक वृद्धि करना है।

यह सामान्य अनुभव है कि प्रसन्नता और अप्रसन्नता चरित्र में व्यक्तिगत हैं। समस्त प्राणी दुःख का अनुभव करते हैं तथा वे यह भूल जाते हैं कि यह विस्तृत रूप से

उनकी अपनी निर्मिति है। प्रसन्नता एक आत्मिक अनुभव से प्रारंभ होती है जिसका आधार प्रेम की अनुभूति है तथा घृणा से मुक्ति है। यह लोभ एवं द्वेष से मुक्ति है।

जैनधर्म का कथन है कि दान प्रत्येक गृहस्थ के प्रतिदिन के कर्तव्य का एक भाग है। उत्तर भारत में जैन समाज विशेष रूप से अपने धन और दान के लिए अच्छी तरह जाना जाता है। उन्होंने बहुत से अस्पताल और शैक्षणिक संस्थायें बनाई हैं। उन्होंने कष्टों और मुसीबतों को कम करने का प्रयास किया है। वे धार्मिक साहित्य के प्रकाशन हेतु दानशालाओं की स्थापना करना नहीं भूले हैं जो कि सांस्कृतिक स्तरों को बनाए रखने के लिए तथा नैतिक सिद्धान्तों के फैलाव के लिए अत्यधिक विस्तृत है। सम्भवतः यह मात्र एक समाज है जिसने पशुओं और पक्षियों के लिए अस्पताल बनवाए हैं, यद्यपि बाद में इसका अनुसरण हिन्दुओं और सिन्धी मिशनों ने किया है।

समाप्ति और साधनों का सम्बन्ध आधुनिक विचार में नित्य होने वाला तारतम्य है। यह सभी जानते हैं कि कौटिल्य, हिटलर तथा मैकियावेली ने इस बात की वकालत की है कि समाप्ति साधनों को निर्दोष बनाती है। महावीर, बुद्ध, गांधी तथा दूसरे मानवीय विचारकों और दार्शनिकों ने इस बात पर जोर दिया है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए अच्छे साधन आवश्यक हैं। जैन सिद्धान्तों ने लगातार सुखपूर्वक रहने के लिए पूर्ण नैतिकता की आवश्यकता की ओर प्रेरित किया है। यद्यपि कुछ लोगों ने जैनधर्म को एक निराशावादी धर्म के नाम से मण्डित किया है किन्तु यह प्रसन्नता तथा अच्छाई के मध्य घनिष्ट संबंध बनाने में एक ओर अपूर्व है तथा दूसरी ओर दुःख तथा कपटपूर्ण व्यवहार में घनिष्ट सम्बन्ध को व्यंजित करता है। कर्म का अननुमेय नियम यह स्थापना करता है कि जो आप बोते हैं, वही काटते हैं। कोई मध्य की शक्ति ऐसी नहीं है; जो इस नियम को परिवर्तित कर सके।

दूसरी समस्या जो आधुनिक समाज को चिन्तित किए हुए है, वह यौन सम्बन्धों की है। पाश्चात्य देशों की विचारधारा इतनी अधिक आगे बढ़ चुकी है कि यौन सम्बन्धों की समस्या शुद्ध रूप में मानवीय भावनाओं और सहमति योग्य इच्छाओं के रूप में इसे विचारित किया गया है। इसे नैतिक धरातल से बाहर लिया गया है। न चाहे गए जन्म हेतु गर्भ निरोधक को एक प्राकृतिक रोक के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि भारत में; जिसकी कि धार्मिक और नैतिक पृष्ठभूमि है, भ्रूण हत्या को कानूनी स्वीकृति दे दी गई तथा सरकार की ओर से कार्यरत संस्थाओं ने गर्भ निरोधक का प्रयोग करने की जोरदार वकालत की है। ब्रह्मचर्य के व्रत में स्त्रियों के साथ पुरुषों के यौन संबंधों का

निषेध प्रचारित किया गया है। अपनी निजी पत्नी के साथ इस प्रकार का संबंध बनाने की छूट दी गई है। पत्नी के साथ अनुराग तार्किक होना चाहिए; क्योंकि कामुकता और कषाय अपने लिए हिंसा का कारण होती है। महात्मा गांधी ने; जो कि बचपन से जैनधर्म से प्रभावित होने के लिए अच्छी तरह जाने जाते हैं; इस बात की वकालत की थी कि ब्रह्मचर्य का अर्थ आत्म संयम है, इसको केवल संतानोत्पादन के लिए ही तोड़ा जाना चाहिए। उनका परिवार नियोजन का दृष्टिकोण आत्म संयम पर आधारित था, न कि गर्भ निरोधकों पर आधारित था, जो कि जनसंख्या की अभिवृद्धि को रोकने के लिए प्रतिदिन बड़े महत्त्व का परिकल्पित किया गया है। शायद इस्लाम को छोड़कर सभी धर्मों ने शादी को जीवन हेतु स्त्री-पुरुष का एक पवित्र गठबन्धन माना है। पाश्चात्य देशों में तलाक बहुत उन्मुक्त हो गया। विवाह सम्बन्ध कुछ निश्चित काल के लिए होने लगा है। एक धर्म, जो कि प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक पवित्रता पर जोर देता है, उससे विचारों और क्रिया में यह आशा नहीं की जा सकती है कि आज्ञप्ति की रेखा को तोड़े ।

मैं जैनधर्म के प्रसिद्ध सिद्धान्त स्याद्वाद और नयवाद को विस्तार से नहीं कहना चाहता हूँ। विचार यह है कि वस्तु का स्वाभाविक रूप अनिश्चित है; क्योंकि यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का विषय है। इस दृष्टि से प्रत्येक तत्त्वविद्या संबंधी प्रस्ताव किसी विशेष दृष्टि से सही है तथा यह दूसरे दृष्टिकोण से भिन्न होने के लिए बाध्य है। प्रत्येक तत्वमीमांसा संबंधी प्रस्ताव के सात रूप हैं। प्रत्येक एक दृष्टि को निर्देश कर रहा है। दूसरे धर्म वाले इस सिद्धान्त को निराशावादी अनिश्चित और रूढ़िवादी इत्यादि कहकर इसकी आलोचना करते हैं।

मैंने पहले के अध्याय में स्याद्वाद सिद्धान्त के विषय में पक्ष और विपक्ष रूप से विचार विमर्श किया है। दासगुप्ता इसे अपेक्षाकृत बहुवाद (Relative Pluralism) कहते हैं। यह प्रत्यक्ष रूप से रीतिपूर्वक संघर्षरत सिद्धान्तों का सामंजस्य या समाधान है। यह सहिष्णुता उत्पन्न करता है और संघर्षों को दूर करता है।

आधुनिक विश्व वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से ज्ञान के विस्तार का विश्व है। उत्पादन के साधनों की बहुतायत जो कि शान्तिपूर्ण भोग विलासों तथा युद्ध के लिए है; ने विश्व को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा किया है। विश्व युद्ध की समस्यायें यौन व्यवहार तथा जातीय एकता के साथ संघर्षरत हैं।

कुछ समय के लिए रोक लगाने वाला जनसमूह मानवीय भ्रातृत्व के अस्तित्व का निषेध करता है। जब युद्ध के बादल ठंडे हो गए हैं तब भोले भाले लोगों का क्रन्दन (जो

कि विचारहीनतापूर्वक पुनःस्थापन के लिए पीड़ित तथा कोलाहल को जीवित करने वाले रहे हों) तो जागी हुई मानवता को भ्रातृत्व की स्थापना की आवश्यकता है। मैं ऊपर पहले ही दिखला चुका हूँ कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों ने स्थिर समाज के लिए योगदान दिया कि अहिंसा के गतिशील फैले हुए संदेश से युद्ध से कैसे बचा जा सकता है? द्वितीय विश्व युद्ध ने यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार अमानवीय तकनीक प्रयोग दोनों ओर कष्ट में समाप्ति कर सकती है। जब तक धार्मिक विश्वास तथा नैतिक आदर्शवाद अपने स्वभाव में मानवीय मन के ऊपर नहीं लहराता है, तब तक न तो समाज की सुरक्षा हो सकती है, न मनुष्य की सात स्वतंत्रतायें सुरक्षा का क्षेत्र पा सकती हैं।

आधुनिक विश्व में प्रासंगिकता की खोज या धार्मिक सिद्धान्तों की प्रामाणिकता केवल धार्मिक व्यवसायियों के हाथ नहीं छोड़ी जा सकती है। वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, मानवतावादियों, समाजवादियों तथा न्यायकर्ताओं को उनके साथ में बौद्धिक संदर्भ देते हुए विचार करना होगा तथा धार्मिक सिद्धान्तों को समझने की पृष्ठभूमि एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को नैतिक नियमों का अभ्यास करने हेतु विचार करना होगा। सभी कीमतों पर जीवन की पवित्रता के विषय में निश्चयपूर्वक कहना होगा तथा युद्ध और धार्मिक भेदभाव को समाप्त करना होगा। अहिंसा के सिद्धान्तों, सत्य के प्रति प्रेम, लोभ की अनुपस्थिति, आत्म संयम तथा जीवन के व्यावहारिक नियमों को व्यक्ति तथा सामाजिक जन समुदायों के लिए अनुचित लगावों से बचाना होगा। अन्तरराष्ट्रीय संबंधों में उनका प्रयोग संचयी रूप में पंचशील कहलाता है; जिसमें प्रत्येक राष्ट्र से वांछा की जाती है कि 1. एक दूसरे की सीमा संबंधी एकता का आदर करना 2. अनाक्रमण की नीति अंगीकार करना 3. एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से अपने को रोकना 4. पारस्परिक लाभ के लिए एकता के सिद्धान्त का विस्तार करना, तथा 5. चारित्र में शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त को समझना और पालन करना।

आर्थिक बढ़ोत्तरी के रूप में धर्म एक औजार के रूप में केवल उच्च नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना कर सकता है जो कि एक दूसरे के अधिकार, सम्पत्ति तथा अपने निजी व्यापार को करने की स्वतंत्रता का सम्मान हो। व्यक्ति का आन्तरिक जीवन राज्य के द्वारा दी हुई गारण्टी की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। केवल इस संसार की ही मुक्ति नहीं, किन्तु इस संसार में ही मोक्ष (जीवन्मुक्ति) प्राप्त करना होगा।

इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रत्येक व्यक्ति को सबसे पहले अपनी आत्मा की रक्षा करनी है, इसी समय दूसरे की भलाई के लिए अल्पमात्रा में अपना योगदान करना; यह सर्वोदय का संदेश है। ईसा की दूसरी शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के सिद्धान्तों को चरित्र में अपनाते हुए युक्त्यनुशासन[14] नामक ग्रन्थ की 61वीं कारिका में सर्वोदय नाम दिया था। उमास्वामी ने ठीक ही कहा था-कि मनुष्य का कार्य एक दूसरे की मदद करना है-''परस्परोपग्रहो जीवानाम्[15]।''

यह आदर्श रूप में रहने का दर्शन है; जिसे जैनदर्शन ने बहुत पहले प्रचारित किया था, किन्तु इसके क्षेत्र और अर्थ का विस्तार वर्तमान शताब्दी में किया था। जीवन के प्रत्येक मुद्दे से एक चीज हमारे जानने की है कि यहाँ मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए है। सबसे ऊपर उनके लिए कि जिनके ऊपर हमारी मुस्कान, कल्याण और प्रसन्नता निर्भर करती है तथा उन अनगिनत अज्ञात आत्माओं के लिए जिनके कि भाग्य से हम सहानुभूति के बंधन से जुड़े हैं। हम दिन में कई बार यह अनुभव करते हैं कि किस प्रकार हमारा बाहरी और आन्तरिक जीवन हमारे साथियों के परिश्रम पर निर्मित है तथा कितनी सच्चाई से मुझे स्वयं प्रयास करना है कि जितना मैंने प्राप्त किया है, उससे अधिक वापिस कर सकूँ।

जैनधर्म के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य वैज्ञानिक रूप से प्रामाणिक हैं तथा आगे आने वाले सभी समयों में निरन्तर अच्छे रहेंगे। जैनों की प्रतिदिन की प्रार्थना को यहाँ पद्यात्मक रूप से जोड़ा जा रहा है; जो कि उसे लगातार वैश्विक मैत्री तथा भाईचारे की याद दिलाती है; जो कि अन्तिम मानवीय मूल्य हैं-

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषुजीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

हे देव! मेरी आत्मा सदा प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, दुःखी जीवों पर करुणा तथा विपरीत आचरण करने वालों के प्रति माध्यस्थ भाव को धारण करे।

नातेदारी तथा मित्रता जिसे जैनधर्म स्थापित करना चाहता है वह जाति और सम्प्रदायों की समस्त रुकावटों को पार करती है। श्रीमती एनीबेसेण्ट के शब्दों में जैनधर्म का मानवता के लिए संदेश है-'मनुष्य-मनुष्य में शान्ति, मनुष्य तथा पशु में शान्ति, सभी जगह और सभी वस्तुओं में शान्ति तथा सभी निवासियों के प्रति पूर्ण भ्रातृभावना हो[16]।''

ग्रन्थ सूची तथा सन्दर्भ-

1. एस.राधाकृष्णन् : रिकवरी ऑफ फेथ, पृ. 22 हिन्द पॉकेट बुक्स, लिमिटेड, देहली।
2. आ.एच.एम.ईव्स (अनुवादक) वर्क्स आफ स्पिनोजा, ईथिक्स एण्ड सेलेक्टेड् लैटर्स, पृ. 3 तथा 4 डोवर पब्लिकेशन्स, आई.एन.सी., न्यूयार्क।
3. सी.आर.जैन : कन्फ्लूएन्स आफ अपोजिट्स, पृ. 8, जैन लाइब्रेरी, लन्दन।
4. सी.ई.एम.जोड Guide to modern wickedness P.I फेबर एण्ड फेबर लिमिटेड, रसेल स्क्वेयर, लन्दन।
5. नथमल मुनि : द फिलासॉफी ऑफ अणुव्रत, पृ. 27, दक्षिण प्रादेशिक अणुव्रत समिति, बंगलौर-1
6. एस.सी.दिवाकर : रिलीजन एण्ड पीस, पृ. 199, आल इंडिया दिगम्बर जैन संघ, मथुरा
7. राबर्ट ब्रिज्स : टेक्स्टामेण्ट आफ ब्यूटी, वीके. द्वितीय, पंक्ति 556.9 तथा 562-66 क्लेरेण्डन प्रेस, लन्दन।
8. एम.के. गांधी : नॉन वायलेन्स इन पीस एण्ड वार, जिल्द-1, पृ. 130, नवजीवन पब्लिकेशन्स, अहमदाबाद।
9. एम.के.गांधी : सत्याग्रह, पृ. 52, नवजीवन पब्लिकेशन्स, अहमदाबाद।
10. एम.हिरियन्ना : आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासॉफी,पृ. 162, जार्ज एलन तथा अनलिमिटेड, म्यूजियम स्ट्रीट, लन्दन।
11. हर्मन जैकोबी : स्टडीज इन जैनिज्म : भाग-1, पृ. 82, प्रकाशक- जैन साहित्य संशोधक कार्यालय।
12. श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवेन्शन : हर्ट ऑफ जैनिज्म, पृ. 243, हम्फ्री मिलफोर्ड, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
13. विलियम्स आर : द जैन योगा, पृ. 20, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
14. हीरालाल जैन : कन्ट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज्म, टू इण्डियन कल्चर (अन्नाराव मिरजी द्वारा कन्नड में अनूदित)।
15. रीयलिटी, अध्याय-5, सूत्र-21
16. एनीबेसेण्ट : जैनिज्म, थ्योसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अडयार, मद्रास-20

❑❑❑

परिशिष्ट

THE JAINA EMBIEM

यद्यपि जैन साहित्य तथा धार्मिक क्रियाकलाप बहुत से क्रियाकाण्डी तथा पौराणिक प्रतीकों से भरा हुआ है किन्तु 1975 तक कोई ऐसी सामान्य पहिचान (आकार) नहीं था; जिसे कोई व्यक्ति सीधे जैनधर्म से जोड़ सके।

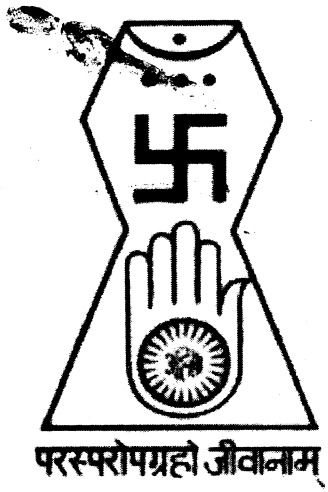

1975 का वर्ष प्रमुख मील का पत्थर था; जिसे जैनों ने सारे विश्व में देखा। यह 24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण की 2500वीं वर्षगांठ के समय हुआ।

इस बड़ी घटना को मनाने के लिए विश्व से सारा जैन समाज इकट्ठा हुआ उसने एक साथ एक मूर्ति बनाने हेतु कार्य किया; जिसका संबंध सम्पूर्ण रूप में जैनधर्म के साथ हो।

परिणामी जैन प्रतीक यथार्थ में बहुत सारे जैन प्रतीकों का संकलन है। प्रत्येक का गहरा अर्थ है। बहुत सार्थक संगठित मूर्ति के रूप में इसका सन्निधान सार्थक है।

इस प्रतीक की रूपरेखा अपनी कमर पर दोनों ओर हाथ रखकर खड़े हुए एक मनुष्य से ली गई है। यह जैनों का तीनों लोक संबंधी विचार है। लोक के तीन भाग हैं। स्वर्गों को सम्मिलित करने वाला ऊर्ध्वलोक है; जो कि षट्कोण का प्रमुख भाग है। मध्य भाग के नीचे चतुर्भुज का प्रमुख भाग अधोलोक है तथा मध्य लोक दोनों भागों के मिलने के स्थान पर है। ये तीनों लोक एक साथ अन्तरिक्ष का प्रतिनिधित्व क्रमबद्ध लोक में करते हैं जिसे आत्माओं को कर्मबन्धन के साथ प्राप्त करना है।

अंत में अर्द्धचन्द्र तथ बिन्दु सिद्धशिला का प्रतिनिधित्व करते हैं। (जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर जन्म और मरण से मुक्ति प्राप्त कर ली है, उनका निवास स्थान सिद्धशिला कहलाती है।)

अर्द्धचन्द्र के नीचे तीन बिन्दु रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी व्याख्या तीर्थंकरों ने की है।

स्वस्तिक शब्द सु अस्ति से मिलकर बना है। जिसका अर्थ होता है-अच्छाई प्रचलित हो। स्वस्तिक की चार शाखायें गतियों की प्रतीक हैं या जीवन के रूपों की प्रतीक हैं; जिनमें आत्मायें कर्म से बँधी हुई जन्म ले सकती हैं। वे नरकों में उतर सकती हैं, तिर्यंच, जीवजन्तु और वृक्ष तथा मनुष्य या देव हो सकती हैं। यह मध्य लोक के सतत लोक के लगातार स्वभाव का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ पर एक प्राणी कर्मों के आधार पर किसी भी अवस्था में अपना भाग्य अजमा सकता है।

हथेली अभय का प्रतिनिधित्व करती है। इसका तात्पर्य यह सुनिश्चित करना है कि मत डरो। इसकी व्याख्या इस प्रकार भी है- मनुष्य जो कि कर्म बन्धन में पड़ा हुआ है उसे इस रूप में सान्त्वना देना हो सकता है कि उसे हताश होने की आवश्यकता नहीं है। सही प्रयत्न के बाद उनका मोक्ष होगा। इसका एक अन्य अर्थ है-रुको तथा कार्य करने से पूर्व विचार करो कि समस्त सम्भावित हिंसा से बचा जा सकता है। यह सुझाव देता है कि हमें अपने क्रियाकलापों का चयन करना है कि यह सुनिश्चित करो कि हमें शब्द, विचार तथा क्रियाओं में किसी को चोट नहीं पहुँचानी है। हथेली यह भी अभिप्राय व्यक्त करती है कि किसी भी जीवित प्राणी को जैन से डरने की आवश्यकता नहीं है।

हथेली के बीच में चक्र धर्मचक्र का प्रतीक है जो कि कह रहा है कि अब धर्म का प्रचार होने दो। 24 आरे 24 तीर्थंकरों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

चक्र के बीच में लिखा हुआ अहिंसा-हिंसा नहीं करना है। यह पाँच महाव्रतों में प्रथम है; जो कि जैनधर्म में निर्धारित किए गए हैं।

नीचे लिखे सूत्र का अर्थ है कि सभी प्राणी एक दूसरे पर निर्भर हैं, अतः उन्हें एक दूसरे की मदद करना चाहिए। सामयिक शब्दों में इसका अनुवाद हो सकता है- जिओ और जीने दो।

संक्षेप में जैन प्रतीक इस बात का प्रयत्न करता है कि जैन शास्त्रों के सारांश को इस एक ही समग्र प्रतीक में लाया जाय।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

दिनांक 26/4/2016, मंगलवार
समय- 12:40 मध्याह्न

डॉ.रमेशचन्द जैन : परिचय

नाम	:	(डॉ.) रमेशचन्द जैन
पिता	:	श्री सिघई शिखरचन्द जैन सोंरया
माता	:	श्रीमती अशर्फी देवी जैन
जन्म स्थान	:	मड़ावरा, जिला- ललितपुर, (उ.प्र.)
जन्म तिथि	:	फाल्गुन शुक्ल 15 विक्रम संवत् 2003 (7 मार्च 1947 ई.)
शिक्षा	:	ग्राम-मड़ावरा से हाईस्कूल श्री महावीर दि. जैन विद्यालय साढूमल, जिला- ललितपुर (उत्तरप्रदेश) से पूर्वमध्यमा स्याद्वाद महाविद्यालय,वाराणसी के छात्र के रूप में जैनदर्शनाचार्य। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से एम.ए. (संस्कृत) विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से पी-एच.डी. (संस्कृत) रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली से डी.लिट्. (संस्कृत) क्वीन्स कॉलेज, वाराणसी से कन्नड डिप्लोमा।
अध्यापन	:	2 अगस्त 1969 से 30 जून 2007 तक वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर में संस्कृत का अध्यापन, विभागाध्यक्ष एवं रीडर के रूप में सेवानिवृत्त।
पत्नी	:	डॉ. विजयलक्ष्मी जैन, मूर्ति देवी कन्या विद्यालय इण्टर कॉलेज, नजीबाबाद (बिजनौर) से प्राचार्या के रूप में सेवानिवृत्त।
परिवार	:	बहिन- अंगूरलता जैन। 4 भाई-डॉ.अशोककुमार जैन, डॉ.नरेन्द्रकुमार जैन, डॉ.सुरेन्द्रकुमार जैन, (स्व.) वीरेन्द्रकुमार जैन पुत्र- पीयूष जैन, पुत्री-2, स्मिता जैन एवं मानसी जैन, पुत्रवधू-श्रीमती श्रुति जैन,पौत्र- रोहिन जैन।
स्थायी पता	:	ई-27, रोहिणी सेक्टर नं.-1,अवन्तिका के पास, नई दिल्ली, मो. 09205673321, फोन 011-275-14318
अभिरुचि	:	आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक चिन्तन, मनन और लेखन, शाकाहार तथा अहिंसा के प्रचार के लिए देश में भ्रमण तथा सदुपदेश।

साहित्य सपर्या (प्रकाशित ग्रन्थ तालिका एवं प्रकाशक)

मौलिक कृतियाँ–

1. पावनतीर्थ हस्तिनापुर,प्रकाशक- श्री दि.जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हस्तिनापुर,1993 ई.
2. अहिच्छत्रा की पुरा सम्पदा,प्रकाशक-पीयूष भारती, बिजनौर, 1987 ई.
3. जैन पर्व,प्रकाशक-जैन विद्या संस्थान, दि.जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी,1996 ई.
4. श्रावक धर्म,प्रकाशक- अ.भा.दि.जैन शास्त्रि परिषद्, 197[illegible]
5. हे ज्ञानदीप आगम प्रणाम,प्रकाशक-दि.जैन मन्दिर संघी जी,सांगानेर,जयपुर,199ई.
6. आचा[illegible]सूर्यसागर व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व,प्रकाशक-आ. शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला, 1996 ई.
7. जैनधर्म की मौलिक विशेषतायें,प्रकाशक-आ. ज्ञानसागर ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, वीरोदय नगर, जैन नशियाँ रोड, सांगानेर, जयपुर (राज.)
8. जैनधर्म दर्शन,प्रकाशक- भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघी जी, जैन मन्दिर रोड,सांगानेर,जयपुर (राजस्थान) 2006 ई.
9. अहिंसा दर्शन, प्रकाशक- दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी-302, विवेक विहार, दिल्ली 2004 ई.
10. उद्बोधन, प्रकाशक- श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्,बुरहानपुर (म.प्र.)
11. आचार्य कुन्दकुन्द का तत्त्वदर्शन, प्रकाशक- श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्, बुरहानपुर (म.प्र.),2007 ई.
12. जैन इतिहास के विशिष्ट नायक, प्रकाशक- भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला,सांगानेर-जयपुर एवं आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.),सन् 2014
13. गिरनार-वन्दन,प्रकाशक-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, मुम्बई,सन् 2014
14. मुनिपुङ्गव श्री सुधासागर : व्यक्तित्व, विचार एवं प्रभाव (प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्ड),प्रकाशक-भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राजस्थान) एवं आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, व्यावर (राजस्थान), सन् 2015 ई.
15. सुधा-साहित्य समीक्षा, प्रकाशक- प्राच्य विद्या अहिंसा शोध संस्थान,पार्श्व ज्योति मंच (रजि.),बुरहानपुर, म.प्र.
16. समराइच्चकहा, पढमोभवो (कन्नड अनुवाद),प्रकाशक-नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
17. समराइच्चकहा, बीओभवो (कन्नड अनुवाद), प्रकाशक-नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
18. सल्लेखना : एक अनुशीलन (अप्रकाशित)
19. श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में उल्लिखित आचार्य,श्रावक और श्राविकायें (अप्रकाशित)

शोध-प्रबन्ध–

20. पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति,प्रकाशक-श्री भा.दि.जैन महासभा, नन्दीश्वर फ्लोर मिल्स, ऐशबाग, लखनऊ, 1983 ई.
21. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा,प्रकाशक-आ. ज्ञानसागर बागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, 1995 ई.
22. अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श, प्रकाशक- आ. ज्ञानसागर बागर्थ विमर्श केन्द्र, सरस्वती भवन, सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राजस्थान), 1994ई.
23. आचार्य ज्ञानसागर द्वारा स्मृत साहित्य, प्रकाशक-आ. ज्ञानसागर बागर्थ विमर्श केन्द्र, सरस्वती भवन, सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राजस्थान), 1994ई.
24. दिगम्बरत्व की खोज,प्रकाशक- अहिंसा मन्दिर प्रकाशन श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, 1997 ई.

कोश-ग्रन्थ

25. Hindi English Dictionery of Jain Technical Terms, Syadwad Jaina Vishva Jnana Institute, Sonagir, Datiya, (M.P.)
26. सुधासागर हिन्दी-इंग्लिश Jaina Dictonery, 1999 ई.
27. मूलाचार वसुनन्दि परिभाषिक कोश (संस्कृत-प्राकृत तथा हिन्दी),प्रकाशक- श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, बुरहानपुर, वीर निर्वाण सं.2533
28. षट्खण्डागम-धवला-जीवट्ठाण कोश (प्राकृत-संस्कृत- हिन्दी),प्रकाशक- श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, बुरहानपुर,2010ई.

अनूदित ग्रन्थ–

29. समराइच्चकहा (प्राकृत कथा ग्रन्थ),प्रथम व द्वितीय खण्ड,प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया,लोधी रोड, नई दिल्ली 1993 एवं 1996.
30. भक्तामर स्तोत्र, प्रकाशक- जैनधर्म प्रचार समिति, धामपुर, जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश, वीर निर्वाण संवत् 2510.
31. भावसंग्रह,प्रकाशक- भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, दिल्ली, 1962ई.
32. आराधना कथा प्रबन्ध,प्रकाशक- आ. शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना, जिला- मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) 1990 ई.
33. नीतिशतक,प्रकाशक- शिक्षा प्रकाशन गृह, बड़ा बाजार, बरेली (उ.प्र.) 1986ई.
34. शिशुपालवध, प्र.सर्ग, प्रकाशक- ज्ञान प्रकाशन, सुभाष बाजार, मेरठ
35. नैषधीयचरितम्, तृतीय सर्ग, प्रकाशक- ज्ञान प्रकाशन, सुभाष बाजार,मेरठ,1987 ई.
36. माण्डूक्योपनिषद्, प्रकाशक- साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरङ्ग 1984ई.
37. बुद्धचरितम्, तृतीय सर्ग, प्रकाशक- कुमार प्रकाशन 275,जनकपुरी,बरेली 1987 ई.

38. शिवराज विजय (पंचम निश्वास), प्रकाशक- राज बुक डिपो, बरेली 1987ई.
39. पार्श्वाभ्युदय, प्रकाशक- भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, दिल्ली, 1989-90 ई.
40. प्रमेयरत्नमाला, प्रकाशक- भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, दिल्ली, 1992ई.
41. सुदर्शनचरित, प्रकाशक- दिगम्बर जैनसमाज,गुलाबवाटिका, लोनी रोड, दिल्ली 1992 ई.
42. देवागम स्तोत्र, प्रकाशक- अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्, बड़ौत (बागपत) उ.प्र. 1993.
43. अञ्जना पवनञ्जय नाटक,प्रकाशक-आ.ज्ञानसागर बागर्थ विमर्श केन्द्र,ब्यावर,1994 ई.
44. आदि ब्रह्मा ऋषभदेव,प्रकाशक-आ.ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र,ब्यावर,1994 ई.
45. समराइच्चकहा, पढमोभवो, प्रकाशक- साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरङ्ग, 1980 ई., राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणबेलगोला, सन् 2015
46. जैन कुमार सम्भव महाकाव्य, प्रकाशक- प्राकृत भारती, जयपुर, 2003 ई.
47. प्रद्युम्नचरित, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ,18,इन्स्टीट्यूशनल एरिया,लोधी रोड, नई दिल्ली.
48. समराइच्चकहा, बीओ भवो,प्रकाशक- राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणबेलगोला, सन् 2015
49. परमात्म प्रकाशः, प्रकाशक- भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राज.), आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, सन् 2016 ई.
50. जम्बूस्वामिचरितम्, प्रकाशक- भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राज.), आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, सन् 2016 ई.
51. सिरि पंच संगहो, प्रकाशक- भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राज.), आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, सन् 2016 ई.

सम्पादित रचनायें

52. समाधि तन्त्र, प्रकाशक-भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद्,दिल्ली 1989-90
53. इष्टोपदेश,प्रकाशक-भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद्,दिल्ली 1989-90
54. सिद्धचक्र विधान,प्रकाशक- पीयूष भारती,जैन मन्दिर के पास,बिजनौर, 1990ई.
55. जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप, प्रकाशक- पीयूष भारती, जैन मन्दिर के पास, बिजनौर 1992 ई.
56. सल्लेखना दर्शन, प्रकाशक- जैन समाज, ललितपुर.
57. आचार्य ज्ञानसागर और उनकी साहित्य साधना, प्रकाशक-आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, (राज).
58. जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप, प्रकाशक-आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, (राज.), 1995 ई.
59. जैन राजनैतिक चिन्तन धारा, प्रकाशक- आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, (राज.), 1995 ई.

60. जयोदय महाकाव्य परिशीलन, प्रकाशक- आ. ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, (राज.)
61. नग्नत्व क्यों और कैसे?,प्रकाशक- ज्ञानोदय नवयुवक सभा,लार्डगंज, जबलपुर (म.प्र.)
62. सर्वार्थसिद्धि का दार्शनिक परिशीलन, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, व्यावर (राज.), 1995 ई.
63. तीर्थ प्रवर्त्तक, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र,ब्यावर (राज.), 1996 ई.
64. पं॰ बाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रकाशक-पं. बाबूलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
65. इतिहासरत्न डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल अभिनन्दन ग्रन्थ,प्रकाशक-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, 1998 ई.
66. सुदर्शनोदय (अंग्रेजी), प्रकाशक- आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राजस्थान), 1995ई.
67. समुद्रदत्त चरित (अंग्रेजी) प्रकाशक-भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर- जयपुर (राजस्थान)
68. आचार्य विद्यासागर, व्यक्तित्व एवं काव्यकला, प्रकाशक- भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राज.)
69. ऋषभदेव, एक अनुशीलन, प्रकाशक-सृष्टि स्वस्ति केन्द्रीय मण्डल,मन्दिर वाली गली, प्रतापनगर,सहारनपुर (उ.प्र.) 2004 ई.
70. जयोदय महाकाव्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, प्रकाशक-भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राजस्थान)
71. सांख्यदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, प्रकाशक- भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राजस्थान)
72. हरिषेणकृत कथाकोश (हिन्दी अनुवाद सहित), प्रकाशक-भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर-जयपुर (राजस्थान) एवं आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राजस्थान), सन् 2013 ई.
73. प्राकृत गौरवम्, प्रकाशक- राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणबेलगोला,सन् 2015 ई.
74. महावीर काव्यांजलि,प्रकाशक-श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् (रजि.),सन् 2016ई.

* भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं एवं ग्रन्थों में प्रकाशित शोध व अन्य लेख-लगभग 175

प्रमुख विद्यायतनों तथा सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्धता

1. सदस्य- प्राच्य विद्या सम्मेलन, रोहतक अधिवेशन में प्राकृत तथा जैनधर्म सेक्शन की अध्यक्षता

2. भूतपूर्व सम्पादक तथा नियामक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर
3. भूतपूर्व सदस्य-निर्देशकं मण्डल, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
4. भूतपूर्व अध्यक्ष- अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्
5. भूतपूर्व सदस्य- कार्यकारणी, अ.भा.दि.जैन शास्त्रि परिषद्
6. भूतपूर्व सदस्य- कार्यकारिणी, अ.भा.दि. जैन महासमिति
7. भूतपूर्व सचिव- शिक्षक संघ, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर
8. भूतपूर्व सचिव- जैन समाज, बिजनौर
9. भूतपूर्व सचिव-2500वाँ भगवान् महावीर निर्वाणोत्सव समिति, बिजनौर, (उ.प्र.)
10. भूतपूर्व अध्यक्ष- जैनधर्म प्रचार समिति
11. भूतपूर्व संयुक्तमन्त्री- बुन्देलखण्ड स्याद्वाद परिषद्
12. शोध उपाधि समिति, एम.जे.पी., रुहेलखण्ड वि.वि., बरेली (भूतपूर्व सदस्य)
13. पाङ्क्यक्रम समिति, एम.जे.पी., रुहेलखण्ड वि.वि., बरेली (भूतपूर्व सदस्य)
14. शिक्षा समिति, एम.जे.पी. रुहेलखण्ड वि.वि., बरेली (भूतपूर्व सदस्य)
15. प्रधान सम्पादक-पार्श्वज्योति (पाक्षिक), बिजनौर
16. वरिष्ठ सम्पादक-पार्श्वज्योति (मासिक), बुरहानपुर
17. भारत सरकार की तकनीकी शब्दावली योजना के अनतर्गत 'जैनदर्शन परिभाषा कोश' समिति के सदस्य।
18. पूर्व निदेशक-जैनविद्या अध्ययन एवं अनुशीलन केन्द्र, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)।
19. पूर्व निदेशक-नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च, श्री धवलतीर्थम्, श्रवणबेलगोला 573135,जिला-हासन (कर्नाटक)

संगोष्ठियों में सहभागिता - द्विशतकाधिक।

प्राप्त पुरस्कार-

1. श्री चाँदमल पाण्ड्या पुरस्कार 1973, द्वारा अ.भा.दि. जैन शास्त्रि परिषद्
2. भगवान् ऋषभदेव पर अखिल भारतवर्षीय निबन्ध प्रतियोगिता पुरस्कार, द्वारा दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, 1993 ई.
3. 'सल्लेखना दर्शन' पुस्तक पर उ.प्र. संस्कृत अकादमी पुरस्कार 1994ई.
4. 'बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा' कृति पर श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् पुरस्कार,1997 ई.
5. 'अनेकान्तवाद' पर अखिल भारतवर्षीय निबन्ध प्रतियोगिता पुरस्कार
6. 'महावीर पुरस्कार', जैनविद्या संस्थान, श्री महावीर जी द्वारा, वर्ष 1997
7. धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बड़ौत की ओर से सलुम्बर में आयोजित द्वितीय 'राष्ट्रीय विज्ञान संगोष्ठी' पुरस्कार

8. 'दिगम्बरत्व की खोज' पुस्तक पर उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की ओर से 1997 का पुरस्कार
9. श्री चम्पालाल साँड स्मृति पुरस्कार, 'समराइच्चकहा' के अनुवाद पर 1999 ई.
10. आचार्य ज्ञानसागर स्मृति साहित्य पुरस्कार 1999 ई.
11. दिगम्बर जैन समाज, फरीदाबाद की ओर से 2600वाँ भगवान् महावीर जन्म जयन्ती पुरस्कार
12. गोम्मटेश विद्यापीठ स्मृति प्रशस्ति (दिनांक 8/4/2008), श्रवणबेलगोला
13. अहिंसा पुरस्कार, अहिंसादर्शन कृति पर (2004 में दि. जैन साहित्य एवं संस्कृति संरक्षण समिति दिल्ली द्वारा)
14. 'जैनधर्म की मौलिक विशेषतायें' कृति पर गुरुवर्य पं. गोपालदास बरैया स्मृति विद्वत्परिषद् पुरस्कार (दि. 4 अक्टूबर 2006)
15. उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की ओर से 2005 ई. में 'प्रद्युम्नचरित' के अनुवाद पर पुरस्कृत
16. उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की ओर से 2006 ई. में 'जैनधर्मदर्शन' कृति पुरस्कृत
17. विराग फाउण्डेशन, अहमदाबाद की ओर से आचार्य सन्मति सागर पुरस्कार, 2010, बाँसवाड़ा में।
18. श्री राजेन्द्र नाथूलाल जैन मेमोरियल चैरिटेबल ट्रस्ट, सूरत की ओर से ट्रस्टी श्री ज्ञानेन्द्र गदिया द्वारा मुनिपुङ्गव श्री सुधासागर श्रमण संस्कृति,श्रुतसेवा एवं तीर्थसंरक्षण पुरस्कार (राशि 31001 रु.) से पुरस्कृत, दि. 7 अक्टूबर,2011, स्थान-जबलपुर ।
19. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती पुरस्कार, 2014, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त।
20. महाकवि आचार्य श्री विद्यासागर पुरस्कार (राशि 51000रु.) स्थान-कोटा, राजस्थान, वर्ष-2015।
21. डॉ. ए.एन. उपाध्ये जैन साहित्य निर्मिती व संशोधन प्रशस्ति, दक्षिण भारत जैन सभा पदवीधर संघटना, सांगली (महा.) द्वारा दि. 20दिसम्बर, 2015।

डॉ. रमेशचन्द जैन के निर्देशन में एम.जे.पी. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली से संस्कृत विषय में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त छात्र/छात्रायें-

	शोधार्थी	शोध शीर्षक
1.	डॉ. कपूरचन्द जैन	: पुरुदेव चम्पू का आलोचनात्मक परिशीलन,1985 ई.
2.	डॉ. शक्तिबाला कौशल	: सांख्यदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा : संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर,1986 ई.

3.	डॉ. सुबोधचन्द्र शर्मा	: भट्टारक सकलकीर्ति कृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, 1986 ई.
4.	डॉ. मृदुल कुमारी	: शान्तिनाथ पुराण : एक समीक्षात्मक अध्ययन, 1985 ई.
5.	डॉ. सरोजरानी वर्मा	: वाल्मीकि रामायण तथा पद्मपुराण का तुलनात्मक अध्ययन, 1987 ई.
6.	डॉ. कुन्तल	: पुण्यास्रव कथाकोश का समीक्षात्मक अध्ययन, 1988 ई.
7.	डॉ. रीता बिश्नोई	: पाण्डवपुराण : एक समीक्षात्मक अध्ययन, 1988 ई.
8.	डॉ. सीमारानी शर्मा	: जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन, 1990 ई.
9.	डॉ. निशा	: भगवती आराधना का समीक्षात्मक अध्ययन, 1991 ई.
10.	डॉ. प्रतिमा देवी	: अमितगति श्रावकाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, 1993 ई.
11.	डॉ. लता कुमारी	: प्रभाचन्द्रकृत आराधना कथा प्रबन्ध अथवा कथाकोश का आलोचनात्मक अध्ययन, 1994 ई.
12.	डॉ. संगीता सिंघल	: ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन, 1995 ई.
13.	डॉ. विभा अग्रवाल	: समयसार की दार्शनिक शब्दावली का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन, 1997 ई.
14.	डॉ. मधु गुलाटी	: आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण में प्रतिपादित धर्म और दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन, 1999 ई.
15.	डॉ. रेखा रानी	: जयोदय महाकाव्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, 1999 ई.
16.	डॉ. हेमलता शर्मा	: वीरोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन, 1999 ई.
17.	डॉ. सीमा देवी	: टीकाकार अपराजितसूरि : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, 1999 ई.
18.	डॉ. दीपाली अग्रवाल	: जैन श्रावकाचार साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सागार धर्मामृत का समीक्षात्मक अध्ययन, 2001 ई.
19.	डॉ. पंकज राजपूत	: अनगार धर्मामृत : एक समीक्षात्मक अध्ययन, 2001ई.
20.	डॉ. अरुणा शर्मा	: नियमसार में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दों का समीक्षात्मक अध्ययन, 2001 ई.
21.	डॉ. मीना जैन	: महाकवि ज्ञानसागर के काव्य में पर्यावरण संरक्षण : एक अध्ययन, 2001 ई.

22. डॉ. नीता कुमारी जैन : आचार्य ज्ञानसागर के काव्य में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति, 2002 ई.
23. डॉ. शेफाली अग्रवाल : जैन योग का समीक्षात्मक अध्ययन, 2003 ई.
24. डॉ. कुमकुम देवी : वरांगचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, 2005 ई.
25. डॉ. सुनीता राजपूत : आदिपुराण का दार्शनिक परिशीलन, 2005 ई.
26. डॉ. संगीता देवी : जैन दर्शन में सिद्ध परमात्मा का स्वरूप, 2006 ई.
27. डॉ. कुमुद चौहान : मूलाचार प्रदीप का समीक्षात्मक अध्ययन, 2006 ई.
28. डॉ. उर्वशी : स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा का समीक्षात्मक अध्ययन, 2006 ई.
29. डॉ. अंजना शर्मा : पद्मसुन्दरसूरिकृत पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, 2007 ई.
30. डॉ. शिवाली : तत्त्वानुशासन का समीक्षात्मक अध्ययन, 2007 ई.
31. डॉ. पूनम रानी : द्रव्यसंग्रह और उसकी ब्रह्मदेव टीका का समीक्षात्मक अध्ययन, 2007 ई.
32. डॉ. पुष्पा पँवार : जैनधर्म में तीर्थंकरत्व की अवधारणा, 2009 ई.
33. डॉ. शीतल : धर्मशर्माभ्युदय का समीक्षात्मक अध्ययन, 2010 ई.
34. डॉ. शोभना गहलौत : रत्नकरण्डश्रावकाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, 2010 ई.
35. डॉ. गोपेश शर्मा : हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश का समीक्षात्मक अध्ययन, 2010 ई.
36. डॉ. पारुल कौशिक : मूलाचार की आचारवृत्ति टीका का समीक्षात्मक अध्ययन, 2011 ई.
37. ब्र. डॉ. मीना जैन : तत्त्वार्थवार्तिक का दार्शनिक परिशीलन, 2011 ई.
38. डॉ. रीना रानी : पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका का समीक्षात्मक अध्ययन, 2012 ई.

- डॉ. रमेशचन्द जैन
ई-27, रोहिणी सेक्टर नं. 1,
अवन्तिका के पास, नई दिल्ली-85
मो. 09205673321

मूल लेखक का संक्षिप्त परिचय

श्री तमन्ना कुबेरप्पा तुकोल 5 मई,1908 में ग्राम गुडूर, हुंगुंड तालुका, बागलकोट जिला-बीजापुर (कर्नाटक)में पैदा हुए थे। वे हुबली के लेमिंगटन हाई स्कूल में मैट्रिक परीक्षा में सर्वप्रथम योग्यता क्रम के साथ उत्तीर्ण हुए थे। 1929 में उन्होंने कर्नाटक कॉलेज, धारवाड से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने अंग्रेजी में द्वितीय योग्यता क्रम प्राप्त करने के साथ 1930 ई. में बम्बई विश्वविद्यालय से एम.ए., एलएल.बी. उपाधि प्राप्त की थी। इसी वर्ष वे फर्ग्युसन कॉलेज, पूना में अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किए गए। 1932 ईस्वी में वे छात्रों को कन्नड पाठ्यक्रम पढ़ाने के लिए नियुक्त हुए।

श्री टी.के.तुकोल ने 1934 में बीजापुर में वकालत आरम्भ की। 1938 ई. में वे सब जज तथा मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। 1955 में जिला स्तरीय सेशन जज हुए। 1956 में वे अतिरिक्त कानून सचिव तथा बाद में कानून सचिव हुए। 1962 ई. में वे तत्कालीन मैसूर हाई कोर्ट (उच्च न्यायालय)के न्यायाधीश के रूप में पदोन्नत हुए।

उन्होंने 1966-69 के मध्य कर्नाटक सरकार के एक सदस्यीय वेतन आयोग के पद को सँभाला तथा सरकार और उसके कर्मचारियों के द्वारा अच्छे रूप में गृहीत हुए। वे अपने उल्लेखनीय योगदान के कारण समस्त कर्नाटक वासियों के मध्य सुज्ञात हुए। पश्चात् बंगलौर विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में तीन वर्ष तक संस्था की अभिवृद्धि हेतु पर्याप्त योगदान दिया।

सक्रिय सेवा से मुक्त होने के बाद छात्रावस्था से लेकर ही पूज्य आचार्य शान्तिसागर महाराज तथा मुनिवर्य श्री समन्तभद्र महाराज के व्यक्तित्व तथा उपदेशों से गंभीर रूप से प्रभावित होने के कारण न्यायमूर्ति तुकोल ने अपना ध्यान जैन विद्या के अध्ययन तथा लेखन की ओर केन्द्रित किया। उन्होंने जैनधर्म, दर्शन, सामाजिक मुद्दे तथा वर्तमान सन्दर्भों के विषय में अनेक ग्रन्थ तथा आलेख लिखे।

प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरुनानक पथ, मालवीय नगर,
जयपुर–302017
फोन : 0141–2524827, 2520230
E-mail : *prabharati@gmail.com*
Web-site : *prakritbharati.net*

ISBN 9789381571958
9 789381 571828
Rs. 450.00